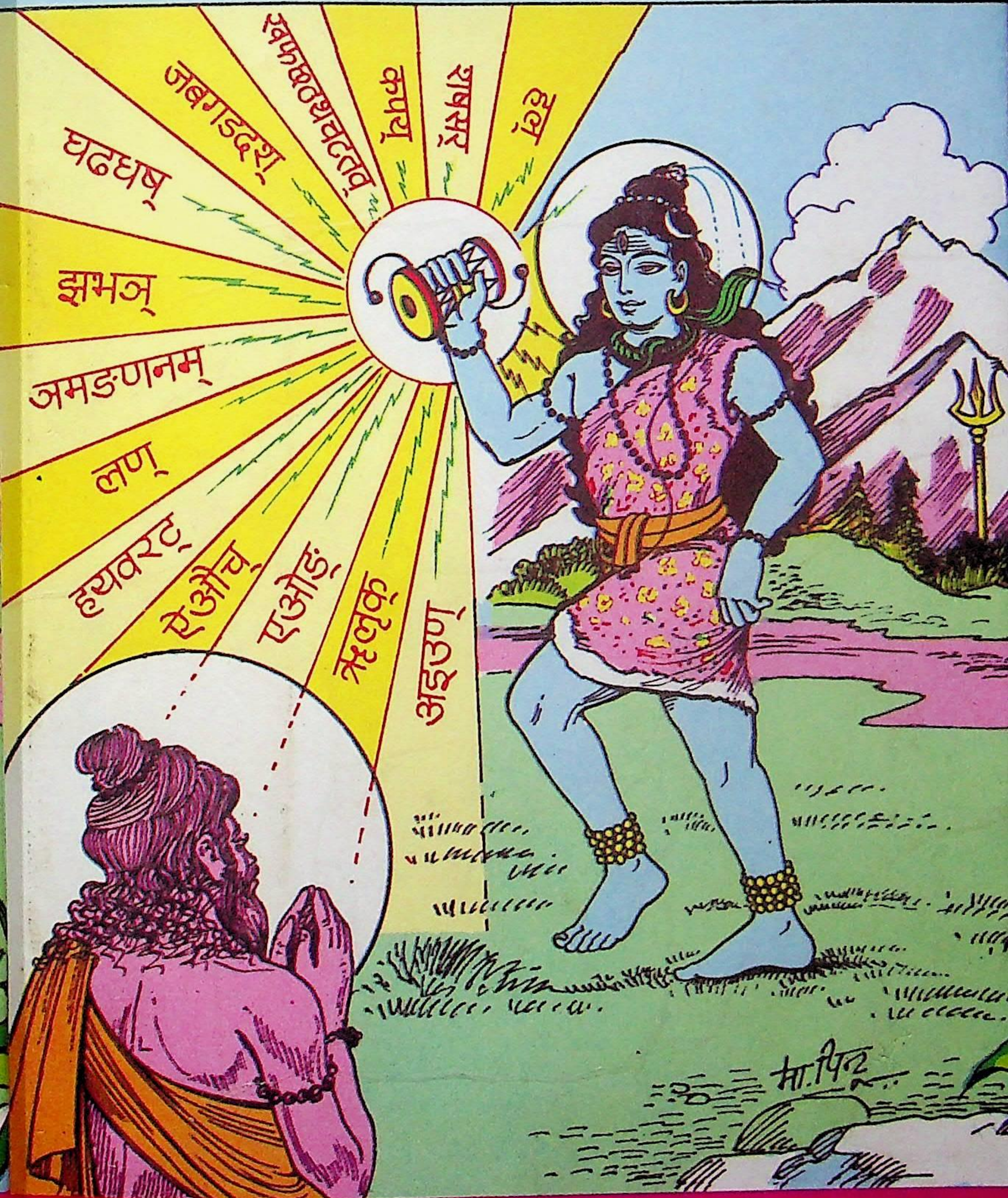
श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता

वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी

सविमर्श-'रत्नप्रभा' - हिन्दीव्याख्यासहिता



चौखम्भा संस्कृत संस्थान • वाराणसी

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१९१



श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता

वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी

सविमर्श-रत्नप्रभा-हिन्दीव्याख्यासहिता

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

व्याकरणाचार्यः श्रीबालकृष्णपञ्चोली

दे. सू. खेतानमहाविद्यालय-काशिकराजकीय-संस्कृतमहाविद्यालय-
वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय-पूर्वप्राध्यापकः

(भ्वाद्यादि-चुराद्यन्तः तृतीयो भागः)



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पो० बा० नं. ११३९

के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन (गोलघर समीप मैदागिन)

वाराणसी - २२१००१ (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : चारू प्रिन्टर्स, वाराणसी
संस्करण : पंचम्, वि० सं० २०५९ (सन् २००३)
मूल्य : रु. १२५-००

फोन : ०५४२-२३३३४४५

शाखाएं :

चौखम्भा संस्कृत भवन

पोस्ट बाक्स नं० ११६०
चौक, (बैंक ऑफ बडौदा बिल्डिंग)
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ०५४२-२४२०४१४

चौखम्भा पब्लिकेशन्स

४२६२/३ अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-११०००२
फोन : ०११-२३२६८६३९, २३२५९०५०
E-mail: Chaukhambha@mantraonline.com

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
191

VAIYĀKARAṆA-SIDDHĀNTA-KAUMUDĪ

By
ŚRĪ BHAṬṬOJI DĪKṢITA

Edited with
'Ratnaprabha' Hindi Commentary

By
Pr. ŚRĪ BĀLAKṚṢṆA PAÑCHOLĪ
*Ex-Professor, Khetan Sanskrit College, Varanasi
and Sanskrit University, Varanasi*

VOL. III
BHVĀDI TO CURĀDI

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature
Post Box No. 1139
K. 37 / 116, Gopal Mandir Lane (Golghar Near Maidagin)
VÁRANASI - 221001 (INDIA)

विषयानुक्रमणिका

॥ श्रीः ॥

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

सविमर्श 'रत्नप्रभा' हिन्दीव्याख्योपेता



(उत्तरार्धम्)

अथ तिङन्ते

भ्वादिप्रकरणम् ॥ १ ॥

श्रौत्रार्हन्तीचणैर्गुण्यैर्महर्षिभिरहर्दिवम् ।
तोष्टूय्यमानोऽप्यगुणो विभुर्विजयतेतराम् ॥ १ ॥

गुण रहित होते हुवे भी वेदाध्ययन कर्तृत्व एवं योग्यता से प्रसिद्ध, उत्तम गुणों से युक्त महर्षियों से निरन्तर स्तुत्य एवं सर्वव्यापी परमात्मा सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्तमान है ॥ १ ॥

विमर्श—ग्रन्थ के आरम्भ मे 'मुनित्रयम्' से मङ्गल किया, ग्रन्थ के मध्य में विघ्न विघात के लिए एवं शिष्यों को शिक्षा प्रदानार्थ इस मङ्गल को ग्रन्थ का अवयव बनाया है।

छन्दः वेद के अध्ययन कर्ता को श्रोत्रिय कहते हैं उसका जो भाव उसे श्रोत्र कहते हैं। 'हायनान्त' से अण् प्रत्यय एवं यकार का लोप श्रौत्रम् सिद्ध हुआ, अर्हतो भाव आर्हन्ती 'गुणवचन' से ष्यञ्, अर्हतो नलोपश्च, षित्त्वात् ङीष्, 'हलः' से यकार लोप है। श्रोत्रियत्व-योग्यत्व से चण = प्रसिद्ध। यहां वित्त अर्थ में 'तेनवित्त' से चणप् प्रत्यय है।

प्रशस्त गुण युक्त में गुण्य शब्द का प्रयोग है। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' की प्रवृत्ति हुई है। अहनि अहनि = प्रत्यहम् 'अचतुर' सू० से निपातन प्रयुक्त साधुत्व है। तोष्टूय्यमानः = पुनः पुनः अतिशय जिसकी स्तुति की जाय वह उत्कर्ष गुणबोधन रूप स्तुति का कर्म। यङन्त से कर्म में स्तू से शानच् है। सार्वधातुके यक् एवं आनेमुक् से मुक् है। स्तुतिप्रयोजकीभूत गुण आरोपित है, पारमार्थिक गुणों का अभाव परमात्मा में है। विजयतेतराम्—सर्वोत्कृष्टत्वेन वर्तते। यहां विपूर्वक जयार्थक जिधातु है 'विपराभ्यां जेः' से आत्मनेपद प्रयुक्त विजयते, इससे 'तिङश्च' से तरप् तदन्त मे 'किमेत्तिङ्' से आमुप्रत्यय से विजयतेतराम् हुआ है।

यहां शंका होती हैं कि 'विजयते' समूह न प्रातिपदिक है, न तिङन्त तदादि ऐसी विषम परिस्थिति में तरप् प्रत्यय ही दुर्लभ है। सहयोग विभाग से वि एवं जयते का समास कर प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी। वह समास छन्द में ही होता है भाषा में नहीं। यथाकथञ्चित् समास कर प्रातिपदिक संज्ञा यदि होगी तो विजयते से सु विभक्ति की उत्पत्ति होगी, नपुंसकत्व प्रयुक्त विभक्ति लुक् करेंगे तो 'ह्रस्वो नपुंसके' से ह्रस्वापत्ति से 'विजयति' होगा, यदि 'विजयते' घटक

'जयते' से तरप् तिङन्त तदादि निमित्तक 'तिङश्च' सूत्र से करेंगें यह कथन भी ठीक नही है, साकाङ्क्षत्व प्रयुक्त असामर्थ्य यहां है अतः सामर्थ्य से विहित तरप् नहीं होगा। समाधान— जयते से तरप्। प्रधान साकाङ्क्ष रहे वहां वृत्ति होती है अतः तद्धित प्रत्यय हुआ है। अथवा उपसर्ग द्योतक है वाचक नहीं अतः विजयार्थक जिधातु ही है। अतः साकाङ्क्षत्व की शंका का यहां अनवसर हैं।

पूर्वार्द्धे कथितास्तुर्यपञ्चमाध्यायवर्तिनः ।
प्रत्यया अथ कथ्यन्ते तृतीयाध्यायगोचराः ॥ २ ॥

चौथे एवं पांचवें अध्याय में स्थित सम्पूर्ण प्रत्यय पूर्वार्द्ध में कहे गये हैं। सम्प्रति तीसरे अध्याय में विद्यमान प्रत्यय कहे जाते हैं ॥ २ ॥

प्रसङ्गतः अन्य अध्याय के प्रत्यय का निर्देश है किन्तु उनका प्राधान्यतः निर्देश नहीं।

तत्रादौ दश लकाराः प्रदर्श्यन्ते—लट्। लिट्। लुट्। लृट्। लेट्। लोट्। लङ्। लिङ्। लुङ्। लृङ्। एषु पञ्चमो लकारश्छन्दोमात्रगोचरः।

उस में प्रथम दश लकार आचार्य द्वारा दिखाये गये हैं। इनमें पांचवा लकार लेट् जो है वह वेद में ही प्रयुक्त है अर्थात् वैदिक प्रयोग सिद्धि में केवल इस का उपयोग है। प्रत्येक लकार में परस्पर भेदक अनुबन्ध है। उनकी इत्संज्ञा लोप होता है। लट् में अकार की 'उपदेशे' से इत्संज्ञा एवं लोप है शेष 'ल्' मात्र बचता है, वर्णसमाम्नाय में प्रथम अकार है। तब इकार तब उकार यह क्रम यहां अनुबन्ध में रखा है। टकार का फल 'टित आत्मनेपदानाम्' एत्वार्थ है। लिङ् दो प्रकार के हैं विधिलिङ् एवं आशीर्लिङ्। लेट् में पञ्चमत्व लकार प्रदर्शन क्रम गत है, अथवा एकार गत है, अथवा एकार गत पञ्चमत्व संयुक्त होने से उसमें पञ्चमत्व है। नारद गणना कंसवधार्थ आयोजित क्रम से तो लेट् में पञ्चमत्व सिद्ध न होता अतः 'अ,—इ, उ, ऋ, ए' अनुबन्धगत लिया गया।

विमर्श—'तत्रादौ दश लकाराः प्रदर्श्यन्ते' यहां छात्रा दश लकारान् पश्यन्ति पश्यतस्तान् छात्रान् आचार्यः प्रदर्शयति इति आचार्यः छात्रान् दश लकारान् प्रदर्शयति। आचार्यः किं दश लकरान् प्रदर्शयति, दश लकाराः स्वयमेव प्रदर्श्यन्ते। कर्मणः कर्तृत्वविवक्षा में यक् आत्मनेपद कर्मवद्भाव से हुआ। छात्रगण दश लकार को देखते हैं। उन देखने वाले छात्रों का आचार्य प्रेरणा करते हैं अर्थात् दिखलाते हैं, आचार्य क्या दिखलाते हैं, दश लकार स्वयं ही दिख पडते हैं यहां कर्म को कर्तृत्व विवक्षा-कर्मवद्भाव से यक् आत्मनेपद हुआ।

दृश् धात्वर्थ—चक्षुरिन्द्रिय जन्य ज्ञानानुकूल व्यापार अर्थ है। चाक्षुष प्रत्यक्ष ज्ञान में नेत्र करण है, आत्ममनःसंयोग या त्वङ्मनोयोग जन्यज्ञानमात्र में कारण है। सुषुप्ति काल में स्वप्न के अन्तिमक्षण में मन त्वगिन्द्रिय से संबन्ध छोडकर गाढनिद्रा नाडीरूप पुरीतती में प्रविष्ट हो कर शयन क्रिया करता है। पुरीतती नाडी से युक्त आत्मा उस समय होता हैं, वहां ज्ञानाभाव इस परिस्थिति में है।

'हिता नाम द्विसप्ततिसहस्राणि नाड्यः सन्ति'। यह तार्किक ज्ञान प्रक्रिया है। 'तडागोदकम्' दृष्टान्त से अन्तःकरण का नेत्रादि द्वारा विषयदेश गमन रूप वृत्ति तज्जन्य ज्ञान यह प्रक्रिया अन्य दार्शनिकों की है।

२१५१ वर्तमाने लट् ३।२।१२३।

वर्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लट् स्यात्। लटावितौ।

वर्तमान काल में होने वाली जो क्रिया तद्वाचक जो धातु उससे पर लट् होता है। लट् में अकार एवं टकार की इतसंज्ञा होने से केवल 'ल्' मात्र अवशिष्ट है।

विमर्श—काल तीन प्रकार के है, वर्तमान, भूत एवं भविष्यत्। क्रिया का व्यावर्तक को काल कहते हैं। वह जन्य वस्तुओं का जनक है, एवं जगत् का आश्रय है, कालनिमित्त कारण है। "जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः"। तात्पर्य यह है कि वस्तु दो प्रकार से युक्त है सिद्धरूप एवं। साध्यरूप। सिद्ध स्वभाव वस्तुओं का आधार आकाश है। साध्यस्वभाव रूप वस्तुओं का आधार काल है। काल ही आधारत्व प्रयुक्त क्रिया का भेदक है।

वर्तमान काल = कोई कार्य को प्रारम्भ कर जब तक उसकी समाप्ति न हो तब तक अवान्तर काल वर्तमान है। अथवा आदि अवयव का प्राग्भाग नष्ट हुआ है एवं अन्त्य अवयव का ध्वंस न हुआ हो उसे वर्तमान काल कहते हैं। निर्दुष्ट वर्तमान स्वरूप है धातुविशिष्टत्वम् वै० नियामक चार सम्बन्ध हैं। १४१ पृ० वैया० भूष० पञ्चोली प्रभा से अवगत करना।

२१५२ लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः ३।४।६९।

लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च।

सकर्मक धातुओं से लकार कर्म में एवं कर्ता में होता है। अकर्मक धातुओं से लकार भाव में एवं कर्ता में होता है।

विमर्श—क्रियावाचक भूवा प्रभृति की धातु संज्ञा होती है। धातु दो प्रकार के हैं। सकर्मक एवं अकर्मक। सकर्मक का लक्षण यह है धातु का वाच्य जो व्यापार उससे उत्पन्न होने वाला जो फल उसका आश्रय अन्य रहे एवं व्यापार का आश्रय = अधिकरण अन्य रहे उस धातु को सकर्मक कहते हैं—स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वम् = सकर्मकत्वम्। स्वपद से धातु का ग्रहण है। व्यधिकरण का अर्थ भिन्न आधार। व्यापार का जनक कर्ता है।

अकर्मक धातु का लक्षण—धात्वर्थफल एवं व्यापार वे दोनो एक आश्रय = आधार में रहे उसे अकर्मक धातु कहते हैं। स्वार्थफलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम् = अकर्मकत्वम्। धातु वाच्य सर्वत्र दो हैं फल एवं व्यापार। फलाश्रय की कर्मसंज्ञा। व्यापाराश्रय की कर्तृसंज्ञा कह चुके हैं। भाव पदार्थ भावना है तदर्थ उत्पादना क्रिया है वह क्रिया शक्य है, क्रिया में शक्यता है शक्यता वृत्ति जो धर्म = क्रियात्व वह शक्यतावच्छेदक है। धातु शक्त है शक्त में शक्तता रहती है। उस में रहने वाले धर्म को शक्ततावच्छेदक कहते हैं वह है धातुत्व। तात्पर्य यह है कि एक धर्म धातुत्व रूप सकल धातुओं में रहने वाला है। एवं सकलक्रियाओं में रहने वाला एक धर्म क्रियात्व है। इसी भाव को हृदय में रखकर क्रियावाचक की धातु संज्ञा होती है यह अर्थ 'भूवादयः' का हुआ है।

शङ्का—भाव एवं कर्म में 'भावकर्मणोः' आत्मनेपद विधान करण से एवं 'शेषात् कर्तरि' से कर्ता में विधान से लकार का भाव, कर्म, कर्ता, अर्थ सिद्ध है 'लः कर्मणि' सूत्र व्यर्थ है। क्यों किया ?, समाधान यगादि प्रत्ययवत्-सकर्मक धातु से भी भाव में लकार प्रवृत्तिरूप दूषण सूत्राभाव में होगा, उसकी व्यावृत्ति के लिए सूत्र आवश्यक है। अन्यथा 'घटं क्रियते देवदत्तेन' ऐसे अनेक अनिष्ट रूपों की आपत्ति होगी।

यहां नैयायिक लकार की कृति में शक्ति मानते हैं, एवं कृत्याश्रय को कर्ता कहते हैं। आश्रयपदार्थ का प्रथमान्तपद से लाभ है उसमें शक्ति नहीं तार्किकमत मे लाघव है शक्यतावच्छेदक लघुभूत धर्म कृतित्व मात्र है। खण्डन—'पचति' कहने से 'कः पचति' यहां अनुभव साक्षिक

प्रतीति से कर्तृविषयिणी ही आकाङ्क्षा होती है अतः लकारार्थ कर्ता है। पच्यते से कर्म विषयिणी आकाङ्क्षा उदित होती है। अतः लकारार्थ कर्म भी है। किञ्च कृत्याश्रयत्व रूप कर्तृत्व अचेतन रथादि में बाधित है, रथो गच्छति प्रयोग तार्किकमत में नहीं होगा आदि संक्षिप्त विवेचन यह हैं।

२१५३ लस्य ३।४।७७।

अधिकारोऽयम्।

यह अधिकार सूत्र है। यहां से लस्य यह षष्ठ्यन्त पद का अधिकार आरम्भ हुआ।

२१५४ तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ् ३।४।७८।

एतेऽष्टादश लादेशाः स्युः।

तिप्, तस्, झि,। सिप्, थस्, थ। मिप्, वस, मस्,। त, आताम्, झ। थास्, आथाम्, ध्वम्। इट्, वहि, महिङ्। यह अठारह आदेश लकार के स्थान में होते हैं।

२१५५ लः परस्मैपदम् १।४।९९।

लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्युः।

लकार के स्थान में जायमान आदेश की परस्मैपद संज्ञा होती है।

विमर्श—च्लिप्रत्यय जो लुङ् लकार में विकरण स्वरूप होता है च्लि लुङि से उस च्लि के स्थान में 'च्लेः सिच्' से सिच् आदेश होता है। वह आदेश लकारस्थानिक है अतः सिच् आदेश की इससे परस्मैपद संज्ञा क्यों नहीं हुई?, यदि कहेगें कि केवल लकारमात्र स्थानिक आदेश रहे वहां आदेश की परस्मैपदसंज्ञा होती है। यहां च्लि में च् ल् इ तीन स्थानी है अत लमात्रस्थानी के स्थान में सिच् नहीं है यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि 'लटः शतृशानचौ' से लट् के स्थान में शतृ प्रत्यय की इष्ट परस्मैपद संज्ञा न होगी, क्योंकि यहां ल् अ, ट् तीन स्थानी है। लकार मात्र स्थानी नहीं है।

इस शङ्का के निवारणार्थ श्री पञ्चोलिमत यह है—लकार स्थानी रहे, लकार के पूर्ववर्ती वर्ण स्थानी न रहे, वहां लादेश की परस्मैपदसंज्ञा होती है, लट् को शतृ आदेश में लकार स्थानी है, एवं स्वघटक पूर्ववर्ती कोई वर्ण नहीं वह स्थानी नहीं (अर्थात् लकार का परवर्ती वर्ण स्थानी रहे तो भी परस्मैपद संज्ञा होती है)

संस्कृत में उसका स्पष्ट स्वरूप परिष्कृत यह हुआ "लत्वावच्छिन्ना लकारप्रागवृत्तिवर्णवृत्तिधर्मानवच्छिन्ना या स्थानिता तन्निरूपिता या आदेशता तदाश्रयो यः स परस्मैपदसंज्ञको भवति"। इस विस्तृतार्थ में 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' सूत्रस्थ सिच् ग्रहण गमक = प्रमाण है।

२१५६ तङानावात्मनेपदम् १।४।१००।

तङ् प्रत्याहारः। तादिनवकं शानच्कानचौ चैतत्संज्ञानि स्युः। पूर्वसंज्ञापवादः।

उन आदेशों में तङ् प्रत्याहार के प्रत्यय एवं शानच् तथा कानच् इनका आत्मनेपद संज्ञा होती है। यह विशेषसूत्र पूर्व सामान्य सूत्र का बाधक है।

विमर्श—सामान्य को व्यापक कहते हैं। विशेष को व्याप्य कहते हैं। व्याप्य जो अपवाद शास्त्र वह अपने विषय से अतिरिक्त स्थल में सामान्य = उत्सर्ग की प्रवृत्ति करावेगा। यदि इस प्रकार प्रथमतः संकोच नहीं होगा तो सामान्य शास्त्र सर्वत्र अर्थात् अपवाद के विषय में भी कार्य करेगा तब बाद में निषेध कथन व्यर्थ ही होगा "प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गः प्रवर्तते" यह वचन है प्रकल्प्य का अर्थ है परित्यज्य। अर्थात् प्रकृत में तङ् एवं शानच् कानच् से अतिरिक्त जो आदेश उनकी परस्मैपदसंज्ञा होती है। इस प्रकार अपवादशास्त्रीय उद्देश्य से भिन्न यह संकोच उत्सर्ग अर्थात् बाध्य शास्त्र के उद्देश्य में करना चाहिये।

२१५७ अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १।३।१२।

अनुदात्तेत उपदेशे यो ङित् तदन्ताच्च धातोर्लस्य स्थाने आत्मनेपदं स्यात्।

जिस धातु का अनुदात्त वर्ण इत्संज्ञक रहे या उपदेश में ङकार की इत्संज्ञक रहे तदन्त धातु से पर लकार के स्थान में आत्मनेपदसंज्ञक आदेश होता है।

विमर्श—अनुदात्त एवं ङकार का द्वन्द्व समास करके "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं सम्बध्यते" से द्वन्द्व समास समीपस्थ इतका उभयत्र अन्वय है। अनुदात्तांश में तदन्त विधि का फल नहीं है अतः यहां तदन्त विधि न करना उचित है। 'उपदेशे' से अनुवृत उपदेश का ङिदंशमें ही सम्बन्ध है। अन्यत्र नहीं। सम्भव एवं व्यभिचार में ही विशेषण सार्थक होता है। धातु विशेष्यक यहां तदन्तविधि हुई।

२१५८ स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १।३।७२।

स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात्कर्तृगामिनि क्रियाफले।

व्यापाररूपा जो क्रिया उससे उत्पन्न जो फल वह यदि कर्ता अर्थात् व्यापार जनक को प्राप्त होता है तब अचूरूप स्वर की इत्संज्ञक जो धातु एवं ञकार की इत्संज्ञा वाला जो धातु उससे पर जो लकार उसके स्थान में आत्मनेपद संज्ञक आदेश होता है।

विमर्श—'यजते' यागजन्य अदृष्ट द्वारा स्वर्गादि फल यागकर्ता को प्राप्त रहे तब 'यजते' अन्यत्र 'यजति' यही प्रयोग होता है। यहा फल पद से धात्वर्थ व्यापार जन्यफलका ग्रहण है। वेतनादिक का नहीं। कर्तारम् अभिप्रैति = गच्छति अर्थ में कर्मण्यण् प्रत्यय से कर्त्रभिप्रायक सिद्धि है। यहां लकार एवं धातु का आक्षेप है।

२१५९ शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् १।३।७८।

आत्मनेपदनिमित्तहीनाद्धातोः कर्तरि परस्मैपदं स्यात्।

स्वरितेत्, एवं ञित्, अनुदात्तेत्, एवं ङित् वे आत्मनेपद आदेश के निमित्त हैं उनसे रहित = अर्थात् आत्मनेपदनिमित्त हीन धातु से कर्तृरूप अर्थ में लकार के स्थान में परस्मैपद संज्ञक आदेश होते हैं। परस्मैपद एवं आत्मनेपद वैयाकरणों की संज्ञा है अतः 'वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः' से समास घटक होते हुए भी चतुर्थी विभक्ति का लुक् न हुआ 'परस्मै भाषा' 'आत्मने भाषा' ऐसी भी प्राचीन संज्ञाएँ थीं।

२१६० तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः १।४।१०१।

तिङ उभयोः पदयोस्त्रयस्त्रिकाः क्रमादेतत्संज्ञाः स्युः ।

तिङ् प्रत्याहार के मध्य में स्थित परस्मैपद एवं आत्मनेपद की सम्पूर्ण विभक्तियों के तीन तीन करके क्रमशः प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष एवं उत्तम पुरुष संज्ञाएँ होती हैं। यथा—तिप्, तस्, झि प्रथमपु०। सिप्, थस्, थ, मध्यमपु०। मिप्, वस्, मस्, उत्तमपु०। वे परस्मैपद के लकार स्थान में जायमान आदेश हैं। आत्मनेपद के यथा—त, आताम्, झ प्रथमपु०। थास्, आथाम्, ध्वम् मध्यमपु०। इट् वहि महिङ् उत्तमपु०।

२१६१ तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः १।४।१०२।

लब्धप्रथमादिसंज्ञानि तिङस्त्रीणि त्रीणि वचनानि प्रत्येकमेकवचनादि-संज्ञानि स्युः ।

परस्मैपद एवं आत्मनेपद के प्रथम, मध्यम एवं उत्तम इन तीन पुरुषों में प्रत्येक प्रत्यय की एकवचन द्विवचन एवं बहुवचन संज्ञा क्रमशः होती है।

२१६२ युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः १।४।१०५।

तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदि प्रयुज्यमाने अप्रयुज्यमाने च मध्यमः स्यात् ।

तिङ् का वाच्य जो कारक = कर्तृ-कर्म रूप उसका वाचक = बोधक जो युष्मद् शब्द वह प्रयुक्त रहे या अप्रयुक्त रहें वहां धातु से पर लकार स्थान में मध्यम पुरुष संज्ञक प्रत्यय आदेश होते हैं अर्थात् मध्यम पुरुष होता है।

विमर्श—लकार का प्रयोग होता ही नहीं है, किन्तु लकार स्थानिक तिबादि आदेश का ही प्रयोग पचति भवति आदि में होता है। तिबादि अठारह प्रत्ययों को वैयाकरण आख्यात कहते हैं। आख्यात रहने वाली कर्तृ कर्म विषयिणी शक्ति का स्थानित्वेन प्रतीयमान लकार में आरोप कर 'लः कर्मणि' सूत्र लकार को कर्तृकारक एवं कर्मकारक में विधान करता है। आपेक्षिक वास्तविक कर्तृ-कर्म वाचकत्व आख्यात = तिबादि में है।

सिद्धान्त पक्ष में तो वाक्यस्फोट में है। शक्त्या बोध्य को वाच्य कहते हैं। यहां कारक पद से केवल कर्ता या कर्म का बोध करना। तिङ् वाचक है। कर्ता, कर्तृ प्रत्यय में तिबादि वाच्य है। एवं कर्म-प्रत्यय में कर्म आख्यातवाच्य है। उसका वाचक जहां युष्मदर्थ-सम्बोध्य रूप अर्थ रहता है वहां मध्यम पुरुष। सूत्र में समानाधिकरण का एकार्थ बोधकत्व रूप अर्थ प्रकृत में यही हैं = "तिङ्वाच्यकारकवाचिनि"।

भिन्न भिन्न धर्म हैं—प्रवृत्ति-निमित्त जिनका ऐसे जो शब्द वह एकार्थ को प्रातिपादक = बोधक रहे उसको समानाधिकरण कहते हैं। "भिन्न-भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन् वृत्तित्वम् = सामानाधिकरण्यम्"। यथा प्रकृत में त्वं पचसि यहां सिवर्थ कर्ता है, युष्मदर्थ भी कर्ता है। युष्मदर्थ धर्म = सम्बोध्यत्व है सिप् का प्रवृत्ति निमित्त तिङ्त्व, या सिप्त्व है यहां दोनों कर्तृ रूप एक ही अर्थ को बोधन करता है।

स्थानिनि में स्थान पदार्थ अप्रयुज्यमान है। अपिका अर्थ प्रयुज्यमान है 'त्वं पचसि' में प्रयुक्त युष्मत् है। 'पचसि' में युष्मद् अप्रयुक्त है तो भी मध्यम पुरुष हुआ। 'त्वया ग्रामो गम्यते' यहां युष्मदर्थ एवं तिङर्थ कर्मरूपार्थ वाचक है। कर्म यहां ग्राम है।

२१६३ प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च १।४।१०६।

मन्यधातुरुपपदं यस्य धातोस्तस्मिन्प्रकृतिभूते सति मध्यमः स्यात्परिहासे गम्यमाने। मन्यतेस्तूत्तमः स्यात्स चैकार्थस्य वाचकः स्यात्।

मन्य (मन्) धातु जिस धातुका उपपद हो वह यदि प्रकृतिभूत रहने पर मध्यम पुरुष होता है परिहास अर्थ में एवं मन् धातु से उत्तम पुरुष एकार्थ वाचक अर्थात् एकवचनान्त ही हो।

२१६४ अस्मद्युत्तमः १।४।१०७।

तथाभूतेऽस्मद्युत्तमः स्मात्।

तिङ् वाच्य जो कारक (कर्तृ-कर्म) तद्वाचक जो अस्मद् शब्द उसका प्रयोग रहे या न रहे वहां उत्तम पुरुष होता है। पूर्वत्र वर्णित विमर्शानुसारी ज्ञान यहां भी करना चाहिये।

२१६५ शेषे प्रथमः १।४।१०८।

मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात्।

मध्यम एवं उत्तम पुरुष के अविषय में प्रथम पुरुष होता है। अर्थात् तिङ् वाच्य जो कारक तद्वाचक 'युष्मद् अस्मद् से भिन्न' जो चैत्रादि शब्द वे प्रयुक्त रहे या नहीं वहां प्रथम पुरुष होता है।

भू सत्तायाम्। कर्तृविवक्षायां 'भू ति' इति स्थिते।

सत्ता अर्थ में भूशब्द साधु है। आत्म धारण जनक व्यापार को सत्ता कहते हैं। आत्म धारण फल रूप सत्ता का जनक व्यापार है, उसका जनक चैत्रादि कर्ता है।

विमर्श—सर्वत्र धात्वर्थ निर्देश में फल मात्र वाचक शब्द का निर्देश है वहां फल जनक व्यापार का ही ग्रहण करना। केवल फल का नहीं। भू सत्तायाम् में भू शब्द स्ववृत्तिवर्णमाला 'भ् ऊ' मात्र का ही प्रत्यायक है। लक्ष्यस्थ भवति आदि का भू क्रियावाचक है उसकी धातुसंज्ञा से लकारादि कार्य होते हैं।

भूधातु अकर्मक है—आत्मधारण रूप फल एवं उसका जनक व्यापार वे दोनों चैत्रादि में हैं, अतः फलसमानाधिकरणव्यापार वाचक रूप अकर्मकत्व हुआ। अकर्मकधातु से लकार कर्ता में हुआ, भू + ल् तिप् आदेश भू × ति।

२१६६ तिङ्शित्सार्वधातुकम् ३।४।११३।

तिङः शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः।

तिङ् प्रत्याहार के बोध्य जो प्रत्यय, एवं धातु को अधिकार करके विधीयमान जो प्रत्यय उनकी सार्वधातुक संज्ञा होती है।

विमर्श—धात्वधिकारोक्त न कहने पर हरीन् यहां शस की सार्वधातुक संज्ञा होकर 'सार्व-

धातुकमपित' से ङित्त्व होने पर 'घेङिति' से गुण हो जाता । एवं लिहः इत्यादि में सार्वधातुके से यक् हो जाता । 'वारिणी' यहां लघूपध गुणापत्ति रूप दोष तो नहीं है । सन्निपात परिभाषा के विरोध एवं 'क्ङिति' से गुण का निषेध होगा ।

२१६७ कर्तरि शप् ३।१।६८।

कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप् स्यात् । शपावितौ ।

कर्ता अर्थ में विहित सार्वधातुकसंज्ञक प्रत्यय पर रहते धातु से पर शप् रूप विकरण होता है । शप् में शकार की 'लशकु' से इत् संज्ञा, पकार की 'हलन्त्यम्' से इत् संज्ञा, दोनों का 'तस्य लोपः' से लोप हुआ । इस सूत्र में 'सार्वधातुके यक्' से 'सार्वधातुके' की एवं 'धातोरेकाचः' से धातु की अनुवृत्ति है ।

विमर्श—यहां 'कर्तरि' पद व्यर्थ है । भाव में एवं कर्म में 'भावकर्मणोः' से विहित यक्शप् आदि विकरण का अपवाद होगा । यह कथन ठीक नहीं है । 'दिवादिभ्यः श्यन्' में कर्तरि की अनुवृत्त्यर्थ यहां 'कर्तरि' ग्रहण है । अन्यथा अपवाद विप्रतिषेध से भाव एवं कर्म में दिवादि से श्यन् प्रत्यय जो अनिष्ट है उसकी उत्पत्ति होने लगेगी । यक् तो बाध्य विशेषचिन्ता पक्ष से शप् का ही बाधक होगा ।

२१६८ सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः ७।३।८४।

अनयोः परयोरिगन्तस्याङ्गस्य गुणः स्यात् । अवादेशः । भवति । भवतः ।

यहां इको गुणवृद्धी से इक् की अनुवृत्ति है, तस्मिन् परिभाषा से अव्यवहितांश एवं पूर्वत्वांश की उपस्थिति है, गुण की अनुवृत्ति है, अङ्गस्य स्थानषष्ठी होने से अन्त्याल् की 'अलोऽन्त्यस्य' से उपस्थिति है । सब मिलकर महावाक्यार्थ बोध इस प्रकार हुआ—सार्वधातुक या आर्धधातुक जो प्रत्यय इससे अव्यवहित पूर्वत्वविशिष्ट जो इगन्त अङ्ग उसका जो अन्त्य अल् उसका गुण होता है ।

विमर्श—सार्वधातुक एवं आर्धधातुक का इक् में ही अन्वय अव्यवहित पूर्वत्व सम्बन्ध से करना, अङ्ग में नहीं, अन्यथा भिनत्ति में आदि इकार का गुण रूप आपत्ति होती । अन्त्याल् एवं इक् में परस्पर विशेष्य विशेषण भाव सम्भव है। अन्त्याल् से अभिन्न इक् , इक् से अभिन्न अन्त्याल् । एतावता तच्छेष पक्ष का अवलम्बन कर जहां अलोऽन्त्यस्य की उपस्थिति नहीं वहां इको गुण-वृद्धी की उपस्थिति नहीं ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान न करना । इको गुणवृद्धी एवं अलोऽन्यस्य दोनों का स्वतंत्र विषय है परस्परापक्षेत्व नहीं है । भू अ ति गुण, अवादेश से भवति । भू अ तस्= भवतः । यहां अन्तरङ्ग अवादेश करने में बहिरङ्ग गुण का असिद्धत्व अन्तरङ्गपरिभाषा से यद्यपि प्राप्त था किन्तु अन्तरङ्ग परिभाषा की बाधिका परिभाषा जो "नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः" की प्रवृत्ति होने से असिद्ध गुण न हुआ । इसमें 'भवतेरः' आदि निर्देश भी प्रमाण है ।

२१६९ झोऽन्तः ७।१।३।

प्रत्ययावयवस्य झस्यान्तादेशः स्यात् । अतो गुणे । भवन्ति । भवसि । भवथः । भवथ ।

'आयनेयीनी' से प्रत्यय की अनुवृत्ति एकदेश में स्वरितत्व प्रतिज्ञा से लब्ध है । प्रत्यय का अवयव जो झ (झ्) उसको अन्तादेश होता है ।

भू × अ × अन्ति गुण, अवादेश पररूप से भवन्ति। भू × अ × सि, गुण- अवादेश भवसि। भू × अ × थस् - गुण- अवादेश रुत्व विसर्ग भवथः।

२१७० अतो दीर्घो यञि ७।३।१०१।

अदन्तस्याङ्गस्य दीर्घः स्याद्यञादौ सार्वधातुके परे। भवामि। भवावः। भवामः।

'यस्मिन्विधौ' परिभाषा से तदन्त विधि को बाध कर तदादिविधि से यञादि अर्थ का लाभ हुआ। ह्रस्व अकार है अन्त में जिसको ऐसा जो अङ्ग उसका अन्त्य जो अच् उसका दीर्घ होता है यञादि सार्वधातुक प्रत्यय पर रहते। भू × अ × मि गुण अवादेश दीर्घ से भवामि। भव × वस् भव × मस् दीर्घ रुत्वविसर्ग भवावः। भवामः।

स भवति। तौ भवतः। ते भवन्ति। त्वं भवसि। युवां भवथः। यूयं भवथ। अहं भवामि। आवां भवावः। वयं भवामः।

वह उत्पन्न होता है। वे दोनों उत्पन्न होते हैं। वे सभी उत्पन्न होते हैं। तुम उत्पन्न होते हो। तुम दोनों उत्पन्न होते हो। तुम सभी उत्पन्न होते हो। मैं उत्पन्न होता हूँ। हम दोनों उत्पन्न होते हैं। हम सभी उत्पन्न होते हैं।

एहि, मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे इति भुक्तः सोऽतिथिभिः। एतमेत वा मन्ये ओदनं भोक्ष्येथे। भोक्ष्यध्वे। भोक्ष्ये। भोक्ष्यावहे। भोक्ष्यामहे। मन्यसे। मन्येथे। मन्यध्वे इत्यादिरर्थः। 'युष्मद्युपपदे' इत्याद्यनुवर्तते। तेनेह न—एतु भवान्मन्यते ओदनं भोक्ष्ये इति भुक्तः सोऽतिथिभिः। प्रहासे किम्। यथार्थकथने मा भूत्। एहि मन्यसे ओदनं भोक्ष्य इति भुक्तः सोऽतिथिभिः—इत्यादि।

"ओदनं भोक्ष्ये इति त्वं मन्यसे" इस अर्थ में = "एहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे" इति भुक्तः सः अतिथिभिः = तुम समझते हो कि वहां जाकर भात खाऊँगा, किन्तु उस भात (तण्डुल) को तो अतिथि = अभ्यागत खा गये, यहां परिहास श्यालकादि द्वारा कृत है, सत्य कथन नहीं है।

इसी प्रकार 'एतं मन्ये ओदनं भोक्ष्येथे एतं मन्ये ओदनं भोक्ष्यध्वे, भोक्ष्यावहे इति युवां मन्येथे, भोक्ष्यामहे इति यूयं मन्यध्वे' इस प्रकार क्रम से अर्थ समझना चाहिये।

'प्रहासे' सूत्र में 'युष्मद्युपपदे' की अनुवृत्ति है। इस कारण यहां नहीं हुआ—एतु भवान् मन्यते ओदनं भोक्ष्ये इति भुक्तः सोऽतिथिभिः। परिहास भिन्न यथार्थ कथन में इस सूत्र 'प्रहासे' की प्रवृत्ति नहीं है—'एहि मन्यसे ओदनं भोक्ष्ये' इति भुक्तः सोऽतिथिभिः।

२१७१ परोक्षे लिट् ३।२।११५।

भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिट् स्यात्। लस्य तिबादयः।

भूत जो अनद्यतन काल उसमें होने वाली जो क्रिया तद्वाचक जो धातु उससे पर लिट् लकार होता है। लिट् में इट् की इत्संज्ञा लकार को तिबादि आदेश होते हैं।

विमर्श—सभी क्रियाएँ परोक्ष हैं, कोई भी क्रिया प्रत्यक्ष नहीं है, अनेक क्रिया में सभी एक

स्थान नहीं होतीं किन्तु वे क्रमिक पूर्व पर काल में होती हैं वे अत्यन्त अपरिदृष्ट हैं, उन क्रियाओं का पिण्ड की तरह समूह नहीं बन सकता है।

"क्रिया नाम इयम् अत्यन्तापरिदृष्टा पूर्वापरीभूतावयवा नहि पिण्डीभूता विज्ञातुं शक्या"।

अतः प्रकृत में सर्व क्रियाओं में परोक्षत्व ही है, ऐसी परिस्थिति में सम्भवमात्र स्थल में 'परोक्ष' क्रिया का विशेषण करना अनुचित है, क्योंकि परोक्षत्व का व्यभिचार (अभाव) कहीं भी क्रिया में नहीं है। सम्भव एवं तदभाव रूप व्यभिचार रहे वहां ही विशेषण सार्थक होता है। कहा है की—"सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्" अतः पूर्वोक्त मूलार्थ इस सूत्र का उचित नहीं है।

यहां परोक्षत्व क्रियागत न लेना किन्तु क्रिया के साधन = कारक जो है उनमें विशेषण वह है।

काल दो प्रकार का है, अद्यतन एवं अनद्यतन गतरात्रि के बारह बजे से आगामि रात्रि के बारह बजे तक कालको अद्यतन कहते हैं उससे भिन्न को अनद्यतन कहते हैं। वह दो प्रकार का है, भूत अनद्यतन एवं भविष्यत् अनद्यतन। जहां भूत अनद्यतन काल वृत्ति क्रिया के साधन= कारक रहे वहां लिट् लकार होता है। रामो वनं जगाम, दिलीपो धेनुं ररक्ष, यहां गमन क्रिया-कर्ता राम सम्प्रति परोक्ष है। एवं गोकर्मक रक्षणक्रियाकर्ता दिलीप अस्मदादि की दृष्टि में परोक्ष है। 'व्यातेने ग्रन्थम् उदयनः' यह प्रयोग यथाकथञ्चित् सिद्ध होता है, वस्तुतः असङ्गत ही है। अक्षणः परम् परोक्षम् यहां 'प्रतिपर' से अच् निपातनात् ओत्वम् से परोक्ष शब्द की सिद्धि हुई। परोक्षवती में परोक्षा 'अर्शआदिभ्योऽच्' से अच् प्रत्ययान्त है।

२१७२ लिट् च ३।४।११५।

लिडादेशस्तिङार्द्धधातुकसंज्ञ एव स्यान्न तु सार्वधातुकसंज्ञः। तेन शबादयो न।

लिट् लकार के स्थान में जो आदेश तिङ् उसकी आर्धधातुक संज्ञा ही होती है। सार्वधातुक संज्ञा नहीं होती यह कथन फलितार्थ है। अतः सार्वधातुक प्रत्यय पर में रहते विहित शबादि विकरण यहां नहीं होते हैं। यहां 'लङः शाकटायनस्य' से एवकार की अनुवृत्ति है।

२१७३ परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः ३।४।८२।

लिटस्तिबादीनां नवानां णलादयो नव स्युः। 'भू अ' इति स्थिते।

लिट् के स्थान में आदेश तिप् तस् झि, सिप् थस् थ, मिप् वस् मस्, के स्थान में क्रमशः णल् अतुस् उस् थल् अथुस् अ णल् व म आदेश होते हैं। यहां थ को अकारादेश अन्त्य को प्राप्त है किन्तु अ अ इति 'अ' पररूप से अकार यहां निर्दिष्ट है अतः सर्वादेश ही हुआ। भू से लिट् इटावितौं भू × ल् तिप् पकार की इत् णल् आदेश में परम्परया प्रत्ययत्वस्थानिवद्भाव से लकार णकार की इत् संज्ञा, लकार की इत्संज्ञा लोप से भू × अ स्थिति में—

२१७४ भुवो वुग्लुङ्लिटोः ६।४।८८।

भुवो वुगागमः स्यात् लुङ्लिटोरचि। नित्यत्वात् वुग्गुणवृद्धी बाधते।

लुङ् एवं लिट् सम्बन्धी अच् पर में रहते भू धातु को वुक् आगम होता है। नित्यत्व प्रयुक्त

वुक् आगम अपने विषय में गुण को एवं प्राप्त वृद्धि को बाध करता है। "कृताकृतप्रसङ्गविधित्वं नित्यत्वम्" उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति के बाद भी प्राप्त रहे, एवं पूर्व भी प्राप्त रहें वह नित्य है। वुगपेक्षया गुण् एवं वृद्धि अनित्य है, क्योंकि वुग् करने के बाद वे कार्य अप्राप्त है। यहां 'अचिश्नु' सूत्र से अच् की अनुवृत्ति से अभूत् अभूः यहाँ वुक् न हुआ।

२१७५ एकाचो द्वे प्रथमस्य ६।१।१।

यह अधिकार सूत्र है। एकाच् में बहुव्रीहिसमास है एकोऽच् यत्र अन्य पदार्थ धातु है। एकाच् धातु में प्रथम अच् का द्वित्व होता है ऐसा द्वित्व विधायक शास्त्रों से एकवाक्यता से यह अर्थ बोधन कराता है।

२१७६ अजादेर्द्वितीयस्य ६।१।२।

इत्यधिकृत्य।

यह भी अधिकार सूत्र है। अजादि धातु जहां रहे वहां द्वितीय अच् का द्वित्व होता है ऐसा बोधन कराता है।

२१७७ लिटि धातोरनभ्यासस्य ६।१।८।

लिटि परेऽनभ्यासधात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्त आदिभूतादचः परस्य तु द्वितीयस्य। भूव् भूव् अ, इति स्थिते।

लिट् पर रहते अनभ्यास धातु का अवयव जो प्रथम एकाच् उसका द्वित्व होता है। एवं अच् है आदि में जिसको ऐसा अच् द्वय घटित धातु रहे तो वहां द्वितीय अच्का ही द्वित्व होता है। अर्थात् वहाँ प्रथमैकाच् का द्वित्व बाधित होकर नहीं होता है। अजादि धातु यदि एकाच् है तो वहां प्रथमैकाच् का द्वित्व होता है अच् अत् आदि में। ऊर्णु में द्वितीय एकाच् का ही द्वित्व प्रथम का नहीं।

विमर्श—यद्यपि प्रथमैकाच् का द्वित्वोत्तर द्वितीयैकाच् का द्वित्व सम्भव है विरोध नहीं है। विरोध पदार्थ सह अनवस्थिति रूप है वह यहां नही है तथापि "सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति" से यहां बाध्य बाधक भाव है। जहां जहां द्वितीय एकाच् का द्वित्व प्राप्त है, वहाँ वहाँ प्रथमैकाच् का द्वित्व अवश्य प्राप्त है, यद्यपि एकस्थानिक दोनों द्वित्व नहीं है तो भी यहां बाध्य-बाधक भाव होता है।

यहां शङ्का होती है कि भूव् में किसका द्वित्व करना चार अच् है ऊ, भू भूव् ऊव् वृक्षप्रचलन न्याय से भूव् का द्वित्व से पूर्वोक्त चारो द्वित्वरूप कार्यभाग् हो जाते हैं कोई भी द्वित्व कार्य से वञ्चित नहीं रहता। अच् के सहारे व्यञ्जन रहते हैं, वृक्ष स्थानापन्न अच् एवं शाखादि स्थानापन्न व्यञ्जन है। वायु से वृक्ष प्रकम्पित होने पर शाखादिका प्रकम्पन अर्थतः सिद्ध होता है अतः यहां उस न्याय की प्रवृत्ति है। हलादि धातु भू आगमी है, वुग् आगम है, आगमी भूवृत्ति धातुत्व "यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते" परिभाषा से भूव् में धातुत्व है। जिस प्रकार देवदत्त की अधिक अङ्गुलि यदि भाग्यवश हुई तो वह अधिक अङ्गुलि देवदत्त ग्रहण से ही गृहीत होती है। प्रकृत में भूसे भूव् का ग्रहण कर द्वित्व करने से 'भूव् भूव् अ' यहां—

२१७८ पूर्वोऽभ्यासः ६।१।४।

अत्र ये द्वे विहिते तयोः पूर्वोऽभ्यासस‌ंज्ञः स्यात् ।

यह सूत्र द्वित्वविधायक षष्ठाध्याय का है। द्वित्व निष्पन्न धातु के जो दो भाग उनमें पूर्व भाग की अभ्याससंज्ञा होती है।

विमर्श—जहां द्वित्व होगा वहां समुदाय में धातुत्व नहीं है, पूर्वभाग में धातुत्व नहीं है, किन्तु प्रत्ययार्थानुरोधसे एवं प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व होने के कारण उत्तर खण्ड में ही धातुत्व रहता है। इस में भाष्य प्रमाण भी है। 'अस्तेर्भूः' यहां 'आर्धधातुके' को पर सप्तमी मानोगें तो लिडादेशतिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होने के बाद भू आदेश होगा, वह बहिरङ्ग है लिट् अवस्था में प्राप्त द्वित्व अन्तरङ्ग है, प्रथम द्वित्व होकर अस् अस् बनेगा तव "परस्य भूभावे कृते पूर्वस्य श्रवणं प्राप्नोति" यह भाष्योक्ति है। इससे स्पष्ट है कि धातुत्व समुदाय में नहीं, पूर्वखण्ड में नहीं, केवल द्वित्वनिष्पन्न में पर भाग में ही धातुत्व है।

२१७९ हलादिः शेषः ७।४।६०।

अभ्यासस्यादिर्हल् शिष्यतेऽन्ये हलो लुप्यन्ते। इति वलोपः।

अभ्यास में विद्यमान आदि में स्थित अक्षर जो हल् वह शेष रहता है। अर्थात् इससे भिन्न हल् वर्णों का लोप होता है।

विमर्श—देवदत्त वाम नेत्र से देखता है इस से सिद्ध हुआ कि दक्षिण नेत्र से नहीं दिखता, ठीक उसी प्रकार यहां कहा गया है कि आदि हल् शेष अर्थतः अन्य का लोप। अट् अत् धातु हलादि नहीं है, अतः वहां इसकी प्रवृत्ति न होने से 'आट' 'आत' प्रयोगों की असिद्धि पाई। अतः अष्टाध्यायी में संहिता पाठ में 'ह्रस्वोहलादिशेषः' ऐसा पठित है। वहां 'ह्रस्वः अहलादिशेषः' ऐसा पाठ मान कर 'अहलादि' में नञर्थ अभाव है। अर्थात् अभ्यासः अहल् भवति, आदिश्चेत् शिष्यते यह अर्थ कर आट, आत, की सिद्धि हुई है। यहां अभ्यासः अहल् हल्रहित होता है यह अंश प्रधान है। आदिश्चेत् हल् शिष्यते यह अंश आनुषङ्गिक है, "भिक्षाम् अट गाश्चानय" की तरह प्रथम अंश की स्वतन्त्रतया प्रवृत्ति है, वह द्वितीयांशकी अपेक्षा नहीं करता है, अतः अजादि धातुओं में प्रथमांश से हल् की अभ्यासस्थ की निवृत्ति हुई।

२१८० ह्रस्वः ७।४।५९।

अभ्यासस्याऽचो ह्रस्वः स्यात्।

अभ्यास संज्ञक शब्द स्वरूप में विद्यमान स्वर का ह्रस्व होता है भु भूव् अ ऐसा हुआ।

२१८१ भवतेरः ७।४।७३।

भवतेरभ्यासोकारस्य अः स्याल्लिटि।

लिट् परक जो द्वित्वनिष्पन्न समुदाय उसका घटक जो अभ्यास उसमें विद्यमान जो उकार उस के स्थान में अकारादेश होता है। भ भूव् अ ऐसी स्थिति हुई।

२१८२ अभ्यासे चर्च ८।४।५४।

अभ्यासे झलां चरः स्युर्जशश्च। झशां जशः। खयां चरः। तत्रापि प्रकृतिजशां प्रकृतिजशः, प्रकृतिचरां प्रकृतिचर इति विवेकः, आन्तरतम्यात।

अभ्यास में विद्यमान झल् के स्थान में चर् एवं जश्त्व भी होता है। यहां झल् वर्णों के स्थान में जश् एवं खर् वर्णों के स्थान में चर् होता है। यहां भी सादृश्य के कारण प्रकृतिभूत जश् के स्थान में जश् एवं प्रकृतिभूत चर् के स्थान में चर् ही होता है। 'ब भूव् अ'।

२१८३ असिद्धवदत्राभात् ६।४।२२।

इत ऊर्ध्वमापादपरिसमाप्तेराभीयम्। समानाश्रये तस्मिन्कर्तव्ये तदसिद्धं स्यात्। इति वुकोऽसिद्धत्वादुवङि प्राप्ते। *वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ*। बभूव। बभूवतुः। बभूवुः।

इस सूत्र से चतुर्थ पाद षष्ठाध्याय का समाप्त तक जो सूत्र है उनको 'आभीय' कहते हैं। समानाश्रय आभीय कर्तव्य होनेपर वह आभीय असिद्ध के समान होता है।

अर्थतः यह सिद्ध हुआ कि जिस समय एक आभीय शास्त्र का कार्य जिस निमित्त कों मान कर हो चुका है वहां उसी निमित्त को मान कर उसी प्रयोग में दूसरे आभीय शास्त्र के कार्य की प्राप्ति होने लगे तो पहले आभीय का कार्य असिद्ध माना जाता है। प्रकृत में वुक् के असिद्धत्व के कारण यहां उवङादेश प्राप्त हुआ किन्तु वह नहीं होता है। * उवङ् करने में वुक् सिद्ध रहता है' एवं यण् कर्तव्य रहे वहां युट् आगम सिद्ध रहता है। वुक् का तो यहां ही उदाहरण हुआ। युट् का 'दिदीये' उदाहरण है।

विमर्श—यहां सिद्ध को असिद्ध कथन से असिद्धवत् अर्थ होता पुनः वत् ग्रहण ज्ञानलाघवार्थ है। 'पुरोहितोऽयं राजा' यहां राजभिन्न पुरोहित में राजत्व बोधन से राजभिन्न राजसदृशार्थ की प्रतीति हुई इसमें ज्ञान गौरव है। 'राजवत् पुरोहितः' कहने पर ज्ञान में लाघव है। तथैव यहां भी है। षत्वतुकोऽसिद्धः, यहां असिद्धवत् यही अर्थ अगत्या करना पड़ता है।

'असंयोगात्' में कित् का अर्थ किद्वत् ही करना पड़ता है।

'आ भात्' में आङ् अभिविधि में है। भ के अधिकार को अभिव्याप्त करके यह अर्थ हुआ, यह सूत्र अधिकार हैं। यहां अत्र ग्रहण समानाश्रय के ज्ञान के लिए है। आभात् ग्रहण विषय का निर्देशार्थ है। यहां कार्यासिद्धत्व नहीं है शास्त्रासिद्धत्व है। भाष्यकार ने इस सूत्र साध्य यावत् प्रयोजनों को उपायान्तर से सिद्धकर इस सूत्र का प्रत्याख्यान = खण्डन किया है। बभूव, बभूवतुः बभूवुः रूपों की सिद्धि हुई।

२१८४ आर्द्धधातुकस्येड्वलादेः ७।२।३५।

वलादेरार्धधातुकस्येडागमः स्यात्। बभूविथ। बभूवथुः। बभूव। बभूव। बभूविव। बभूविम।

वल् प्रत्याहार बोध्य वर्ण है आदि में जिसको ऐसा जो आर्धधातुक संज्ञक प्रत्यय उसको इट् आगम होता है। इट् में टकार की इत्संज्ञा लोप है, आगम मित्रवत् होता है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से टित् आगम आगमी के आदित्व विशिष्ट अवयव होता है।

विमर्श—व्याख्याव शिष्ट कृत से वकार रहित केवल इट् की 'नेड् वशि कृति' से अनुवृत्ति होती पुनः इस सूत्र में इट् ग्रहण व्यर्थ होकर बोधन करता है कि इट् इट् ही रहता है, उसके स्थान में विकारात्मक गुणादि कोई भी कार्य नहीं होता है। अतः 'भवित् आ' वहां लघूपध गुण

इट् का न हुआ, गुण निषेधक सूत्र जो है उसका तो प्रत्याख्यान ही है। सूत्र में आर्धधातुक न कहते तो 'आस्ते' 'शेते' यहां वलादि सार्वधातुक को भी इडागमरूप आपत्ति होती।

यहां शङ्का होती है कि यदि यह सार्वधातुक वलादि को इडागम करता तो "रुदादिभ्यः सार्वधातुके" व्यर्थ होता वह नियम करेगा कि 'वलादि सार्वधातुक प्रत्यय को गुणादेश हो तो रुदादि धातुओं को ही, अर्थात् अन्य को नहीं, पुनः यहां आर्धधातुक ग्रहण क्यों किया ? विपरीत नियम तो नहीं होगा क्योंकि क्कासन् को कित्त्व विधायक 'रुदविदमुष' सूत्रारम्भसामर्थ्य से। धातु की अनुवृत्ति इस सूत्र में है। अतः केशवः, अङ्गना आदि में इडागम नहीं होगा। किन्तु 'ऋत इद् धातोः' से धातु की अनुवृत्ति करने पर भी लूभ्याम्, पूभ्याम् में इष्टापत्ति होंगी, अतः आर्धधातुक ग्रहण किया है। एवं जुगुप्सते यहां सन् को इडागम होने लगेगा अतः आर्धधातुक ग्रहण है।

२१८५ अनद्यतने लुट् ३।३।१५।

भविष्यत्यनद्यतनेऽर्थे धातोर्लुट् स्यात्।

भविष्यत् अनद्यतन काल में धातु से उत्तर लुट् होता है।

२१८६ स्यतासी लृलुटोः ३।१।३३।

लृ इति लृङ्लृटोर्ग्रहणम्। धातोः स्यतासी एतौ प्रत्ययौ स्तो लृलुटोः परतः। शबाद्यपवादः।

लङ् लट् पर में रहे वहां धातु से अव्यवहित उत्तर को विकरण होता हैं। एवं लुट् पर में रहते धातु से पर तास् विकरण होता है। यह शबादि विकरण का बाधक है।

विमर्श—निमित्त यहां तीन एवं प्रत्यय विधीयमान दो हैं यथासंख्य का सम्भव यद्यपि नहीं है, तथापि लत्व जाति लकार द्वय में एक है, एवं लुट्त्व जातिमान् एक मिला कर दो है। व्याप्तिसाम्य की तरह जातिसाम्य में भी यथासंख्य सूत्र की प्रवृत्ति होती है अतः यहां कोई भी अनुपपत्ति न हुई। इको यणचि के शब्द रत्न में यह बात कही है।

२१८७ आर्द्धधातुकं शेषः ३।४।११४।

तिङ्शिद्भ्योऽन्यो धातोरिति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात्। इट्।

'धातोः' इसका अधिकार करके विहित जो तिङ् एवं शित् प्रत्यय भिन्न प्रत्यय उसकी आर्धधातुक संज्ञा होती है। इडागम की प्रवृत्ति में आर्धधातुकसंज्ञा कारण है तत्प्रयुक्त यहां इट् आगम होता है। तिङ् एवं शित् प्रत्यय प्रथम सार्वधातुक संज्ञा के उद्देश्यत्व से कहे गये है। अतः यहां शेष पद से तिङ् प्रतियोगिक भेदाश्रय एवं शित्प्रतियोगिक भेदाश्रय प्रत्यय का ग्रहण हुआ।

२१८८ लुटः प्रथमस्य डारौरसः २।४।८५।

डा, रौ, रस् एते क्रमात्स्युः। डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः।

लुट् के स्थान में आदेश जो प्रथम पुरुष तिप् तस् झि या त आताम् झ उनके स्थान में क्रमशः डा रौ रस् आदेश होता है। परस्मैपदी एवं आत्मनेपदी द्विविध धातु के प्रथम पुरुष संज्ञक में इसकी प्रवृत्ति होती है।

विमर्श—डा में डकार अनुबन्ध हैं। अनुबन्धकृत अनेकाल्त्व नहीं माना जाता है, परिभाषा है 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' अतः यहां भी सर्वादेश नहीं होना चाहिये ?, यहां आदेश प्रवृत्ति

काल में डकार की इत्संज्ञा प्राप्त ही नहीं, क्योंकि प्रत्ययादित्व उसमें नहीं है, अतः इत्संज्ञावत्त्व रूप अनुबन्धत्व का अभाव से परिभाषा की अप्रवृत्ति से सर्वादेश हुआ है। अथवा डा आ—डा आकर का प्रश्लेष से सर्वादेश हुआ। भ संज्ञा न होने पर भी यहां डकार की इत्संज्ञाकरणसामर्थ्य प्रयुक्त टिलोप 'टे:' से हुआ।

२१८९ पुगन्तलघूपधस्य च ७।३।८६।

पुगन्तस्य लघूपधस्य चाऽङ्गस्येको गुणः स्यात्सार्वधातुकार्धधातुकयोः। येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि, वचनप्रामाण्यात्। तेन 'भिनत्ती'त्यादावनेकव्यवहितस्येको न गुणः। भवित् आ। अत्रेको गुणे प्राप्ते।

सार्वधातुक एवं आर्धधातुक प्रत्यय से अन्यवहित जो पुगन्त एवं लघूपध अङ्गावयव इक् उसका गुण होता है। यहां अन्यवहितपूर्वत्व सम्बन्ध से सार्वधातुक एवं आर्धधातुक का अङ्ग में अन्वय नहीं है, किन्तु इक् में ही अन्वय है। यदि अङ्ग में अन्वय करेंगे तो भिनत् अङ्ग सार्वधातुक से पूर्व है अतः तदवयव इकार का गुण रूप आपत्ति होगी। इक् में अन्वय करने पर भेत्ता आदि में दकार व्यवधान होने से गुण लघूपधलक्षण नहीं होगा, सूत्र ही व्यर्थ होगा, अतः "येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि भवति, वचनप्रामाण्यात"।

अर्थात् जिस वर्ण का व्यवधान अवश्य रहे वह व्यवधान सहन करने योग्य है, सूत्र के वैयर्थ्य प्रसङ्ग से। इसलिए एक वर्ण व्यवधान में इस गुण की प्रवृत्ति होती है। एक वर्ण व्यवधान में जब सूत्र चरितार्थ है तो भिनद् ति यहाँ अनेक वर्ण व्यवधान में गुण की प्रवृत्ति न हुई, अर्थात् तस्मिन् परिभाषा से उपस्थित अव्यवहितांश में एक वर्ण से भिन्न जो अव्यवहित यह अर्थ होगा। तास्, इट् 'भू इ तास् डा' गुण अवादेश टिलोप 'भवित् आ'।

विमर्श—पुगन्त में बहुव्रीहि समास हैं, अन्य पदार्थ अङ्ग है। उदाहरण ऋ प् इ अति = अर्पयति। लघूपधमे भी बहुव्रीहि है अङ्ग विशेष्य है। 'इको गुणवृद्धी' से इक्परिभाषा की प्रवृत्ति है। यहाँ एक पक्ष अन्य भी है पुकि अन्तः पुगन्तः। लघ्वी चासौ उपधा इति लघूपधम्। अर्थात् पुक् पर रहते पूर्व का जो अन्त वर्ण, एवं लघुरूप उपधास्थित वर्ण उसका गुण होता है। इक् परिभाषा की अनुपस्थिति में भी कार्य निर्वाह करने पर कोई दोष नहीं है।

यापयति में आकार का गुण अकर 'अत उपाधायाः' से वृद्धि कर यापयति की सिद्धि होती है 'समयाच्च यापनायाम्' निर्देश की सङ्गति होती है। यह पक्ष भी सिद्धान्त सिद्ध है। भिन्न में अनिग् लक्षण गुण का भी क्ङिति निषेधक है उसमें प्रमाण 'क्षिपेक्नुः' 'क्षिप्नुः' यहाँ कित् ग्रहण प्रमाण है।

२१९० दीधीवेवीटाम् १।१।६।

दीधीवेव्योरिटश्च गुणवृद्धी न स्तः। भविता।

दी धीङ् एवं वेवीङ् धातु के एवं इट् के इक् का गुण एवं वृद्धि रूप आदेश नहीं होता है। यहाँ इट् आगम के इकार का गुण न हुआ, भविता।

"सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्" यह परिभाषा अनित्य है 'द्विश्वि' सूत्र में कृत्वोर्थ ग्रहण से। अतः यहाँ धातु साहचर्य से 'इट् स्तुतौ' का ग्रहण न हुआ। किन्तु आगम इट् का ग्रहण हुआ।

विमर्श—यह सूत्र अनावश्यक है, क्योंकि दीधीङ् एवं वेवीङ् धातु छान्दस है 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' है अर्थात् प्रयोगाधीन सूत्र की प्रवृत्ति वेद में हैं। लोक में सूत्राधीन प्रयोगसत्ता है। 'सर्वे विधयः छन्दसि विकल्पेन भवन्ति।' अतः इन दो धातुओं में कोई दोष नहीं है। 'नेड् वशि कृति' से 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' में निषेधार्थक न रहित केवल इट् की अनुवृत्ति आती पुनः इट् ग्रहण में 'इट् इडेव' इट् इट् ही रहता है तत्स्थानिक गुण रूप विकार नहीं होगा। इट् का भी यहाँ कोई प्रयोजन नहीं।

२१९१ तासस्त्योर्लोपः ७।४।५०।

तासेरस्तेश्च लोपः स्यात्सादौ प्रत्यये परे।

यहाँ सः स्यार्धधातुके सूत्र से 'सि' की अनुवृत्ति हुई। वह अङ्ग से आक्षिप्त प्रत्यय का विशेषण है। तदन्त विधि को बाधकर 'यस्मिन् विधौ' से तदादि की उपस्थिति कर यह अर्थ हुआ—सकार है आदि में जिसको ऐसा जो प्रत्यय उससे अव्यवहितपूर्व तास् का जो सकार एवं अस् धातु का जो सकार उसका लोप होता है।

२१९२ रि च ७।४।५१।

रादौ प्रत्यये प्राग्वत्। भवितारौ। भवितारः। भवितासि। भवितास्थः। भवितास्थ। भवितास्मि। भवितास्वः। भवितास्मः।

रकारादि प्रत्यय पर में रहते तास् प्रत्यय का सकार एवं अस् धातु के सकार का लोप होता है। भवितास् सि यहाँ पूर्व से सकार लोप। भवितास् रौ यहाँ इससे लोप। रस् परमें भी लोप होता है। भवितारौ। भवितारः। भवितासि। भवितास्थः। भवितास्थ।

२१९३ लृट् शेषे च ३।३।१३।

भविष्यदर्थाद्धातोर्लृट् स्यात्क्रियार्थायां क्रियायामसत्यां सत्यां च। स्यः, इट्। भविष्यति। भविष्यतः। भविष्यन्ति। भविष्यसि। भविष्यथः। भविष्यथ। भविष्यामि। भविष्यावः। भविष्यामः।

इस सूत्र के पूर्व "तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्" है। उससे भिन्न को शेष से यहाँ ग्रहण करना है। चार्थ क्रियार्थक क्रिया का संग्राहक है। भविष्यत् कालिक जो क्रिया उसका वाचक जो धातु उससे क्रियाफलक क्रिया रहे या न रहे तो भी लृट् लकार होता है।

विमर्श—यहाँ क्रियागत भूतत्व का है ?, वर्तमान का जो ध्वंस उसका प्रतियोगी जो समय वह है अधिकरण जिसका ऐसी जो उत्पत्तिमती क्रिया तद्वत्त्व रूप है। अर्थात् वर्तमानप्रागभाव-प्रतियोगिसमयोत्पत्तिमत्त्वम्। "घटो भविष्यति" यहाँ घट से अभिन्न जो आश्रय उसमें रहने वाला वर्तमान प्रागभाव प्रतियोगिसमयावच्छिन्न जो उत्पत्ति जनक व्यापार यह बोध हुआ।

२१९४ लोट् च ३।३।१६२।

विध्यादिष्वर्थेषु धातोर्लोट् स्यात्।

विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न, प्रार्थना, आशीर्वाद कथन इन अर्थों में धातु से लोट् होता है।

विमर्श—लोट् एवं णिच् दोनों प्रवर्तना में होते हैं अवान्तर भेद तो स्पष्टतया ज्ञानार्थ ही हैं अतः 'प्रवर्तनायां लोट्' यही सूत्र करते हैं वह सुवच भी है। सब णिच् लोट् दोनों पदार्थ बोधकत्व से पर्य्याय वाचक होंगे ऐसी परिस्थिति में 'पृच्छतु भवान्' इसी अर्थ में 'प्रच्छयति' प्रयोग होने लगेगा इस शङ्का के निरासार्थ समाधान—

"द्रव्यमात्रस्य तु प्रैषे पृच्छादेर्लोट् विधीयते।
सक्रियस्य प्रयोगस्तु यदा स विषयो णिचः॥"

प्रेषण = आज्ञा जहाँ अपने से छोटे को दी जाय एवं वह कार्य नहीं करता वह आज्ञा द्वारा कराया जाय पढ़ता नहीं वहाँ 'पठतु भवान्' यहाँ लोट्। अर्थात् "प्रयोज्यप्रवृत्त्यनुपहितहिता प्रयोजकप्रवृत्तिः स लोडर्थः। प्रयोज्यप्रवृत्त्युपहिता या प्रयोजकनिष्ठप्रवृत्तिः स णिजर्थः।" तात्पर्य यह है कि कार्य में अप्रवृत्ति को कार्य में प्रवृत्ति करने की आज्ञा में लोट् एवं कार्य करने में वह स्वयं प्रवृत्ति है उसको प्रेरणामात्र करने में णिच् यह दोनों में भेद है। पच देवदत्त! यहाँ वक्ता ही प्रेरक हैं। 'पाचयति' में वक्ता से भिन्न प्रेरक है।

२१९६ आशिषि लिङ्लोटौ ३।३।१७३।

शुभाशंसन रूप आशीर्वाद अर्थ में धातु से लिङ् एवं लोट् होता है। विध्यादिसूत्र में है आशिषि पढ़ते पृथक् इसका करण इस लिए है कि 'क्तिच् क्तौ च' उत्तर सूत्र में आशिषि मात्र की अनुवृत्ति हैं इससे एतदर्थ पृथक् इसका उपन्यास है।

२१९७ एरुः ३।४।८६।

लोट इकारस्य उः स्यात् भवतु।

लोट् के स्थान में आदेश के इकार को उकारादेश होता है। भवतु।

२१९८ तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् ७।१।३५।

आशिषि तुह्योस्तातङ् वा स्यात्। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः। यद्यपि 'ङिच्च' इत्ययमपवादस्तथाप्यनन्यार्थङित्त्वेष्वनङादिषु चरितार्थ इति गुणवृद्धिप्रतिषेध-सम्प्रसारणाद्यर्थतया सम्भवत्प्रयोजनङकारे तातङि मन्थरं प्रवृत्तः परेण बाध्यते। इहोत्सर्गापवादयोरपि समबलत्वात्। भवतात्।

आशीर्वाद अर्थ में तु एवं हि के स्थान में विकल्प से तातङ् आदेश होता है। यह आदेश अनेकाल्त्व के कारण सर्वादेश होता है अनेकाल् शित्सर्वस्य का यद्यपि 'ङिच्च' सूत्र बाधक है तो भी उसकी यहाँ प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि जिस ङकार का अन्त्यवर्ण को आदेश से अतिरिक्त कोई भी प्रयोजन नहीं है वहाँ ङकार 'सखा' आदि में चरितार्थ है, इस तातङ् के ङकार का गुण निषेध, वृद्धि निषेध, सम्प्रसारण की प्रवृत्ति ब्रुव ईट् से प्राप्त ईट् निषेध आदि अनेक प्रयोजनवान् होने से अपवाद ङिच्च अनन्यार्थङित्त्व में चरितार्थ होने से यहाँ बाधक शास्त्र बाध्य हो गया एवं बाध्य अनेकाल्शित्सर्वस्य परत्व के कारण बाधक हुआ। लिखा है कि "अपवादो यद्यन्यत्र चरि-तार्थश्चेत्परान्तरङ्गाभ्यां बाध्यते" इति।

मूलोक्त पंक्ति का आशय—शब्दार्थ यह है कि—जो कि ङिच्च अनेकाल् का बाधक है तो भी जिस ङकारका अन्त्यादेशमात्र प्रयोजन है यथा अनङ् आदि में वह चरितार्थ है, गुण वृद्धि निषेध-

सम्प्रसारण प्रवृत्त्यर्थ इस ङकार सफलप्रयोजनक है वहाँ भी अन्यत्र सावकाश होने से मन्दगति से ङिच्च प्राप्त हुआ, किन्तु परशास्त्र अनेकाल् ने 'ङिच्च' का बाध किया। क्योंकि अपवाद बाधक होता है उसमें बीज = कारण अनवकाशत्व रहा, उपक्षीण हो चुका है वह यहाँ नहीं है अतः उत्सर्ग अनेकाल् अपवाद 'ङिच्च' दोनों तुल्यबलयुक्त है ऐसी परिस्थिति में 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' की प्रवृत्ति हुई।

सर्वादेश से भवतात्। पक्ष में भवतु। दो रूप हुए।

विमर्श—तातङ् आदेश सर्वादेश कब हो अन्यार्थ ङित्त्व हो जाय तब, अन्यार्थ ङित्त्व कब हो सर्वादेश हो जाय तब, सर्वादेश कब हो 'ङिच्च' की अप्रवृत्ति हो जाय तब ङिच्च की अप्रवृत्ति कब हो अन्यार्थ ङित्त्व हो तब, अतः यहां चक्रकापत्ति रूप दूषण से कोई कार्य नहीं होगा 'भवतात्' इस रूप की असिद्धि होगी यह हुई शङ्का ?

समाधान—"तिह्योस्तादाशिष्यन्यतरस्याम्" ऐसा न्यास कर लोट् की अनुवृत्ति कर लोट् सम्बन्धिनिर्दिश्यमान जो ति हि उनको तात् आदेश कर इष्ट रूप की सिद्धि करना।

२१९९ लोटो लङ्वत् ३।४।८५।

लोटो लङ इव कार्यं स्यात्। तेन तामादयः सलोपश्च। तथाहि—

लोट् को लङ् समान कार्य होता है यहां 'तत्र तस्येव' से षष्ठ्यन्त से वति प्रत्यय है। लङः स्थानिक कार्य करना लङ् पर में रहते जो कार्य अट् आदि वह न करना।

अतः प्रकृत में तामादि आदेश एवं उत्तम पुरुष में सकार लोप लोट् में भी करना चाहिये। 'यान्तु' 'पान्तु' यहां 'लङः शाकटायनस्य' से जुस् नहीं होता है, 'नित्यं ङितः' से ङित् का सम्बन्ध होता, पुनः लङ् ग्रहण व्यर्थ होकर लङ् ही जो लङ् अर्थात् मुख्य लङ् जहां है वहां जुस्, अतिदिष्ट लङ्त्व गईदौ वहां नहीं।

२२०० तस्थस्थमिपां तांतंतामः ३।४।१०१।

ङितश्चतुर्णामेषां तामादयः क्रमात्स्युः।

ङित् लकार के स्थान में आदेश जो तस् थस् थ मिप् उनको क्रमशः ताम्, तम्, त, अम् आदेश होता है।

२२०१ नित्यं ङितः ३।४।९९।

सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य नित्यं लोपः स्यात्। 'अलोऽन्त्यस्य' (सू ४२) इति सस्य लोपः। भवताम्। भवन्तु।

सकारान्त ङित् लकार के उत्तम पुरुष का नित्य लोप होता है। अलोऽन्त्यस्य से सकार लोप हुआ। भवताम्। भवन्तु।

विमर्श—अधिकार प्राप्त है 'धातोः' पञ्चम्यन्तपद, उत्तम पुरुष संज्ञा प्रत्यय की होती है, प्रत्यय परमें होते हैं अतः परको विधीयमान लोपरूप कार्य 'आदेः परस्य' से आदि वस् मस् के वकार एवं मकार को होना चाहिये यह शङ्का का समाधान यह है कि जहां परत्व बोधक पर शब्द को उच्चारण करके विधीयमान कार्य रहे वहां ही आदेः परस्यकी प्रवृत्ति होती है अन्यत्र नहीं। यहां वैसा नहीं है अतः अन्त्याल का ही लोप 'अलोऽन्त्यस्य' से हुआ है।

२२०२ सेर्ह्यपिच्च ३।३।८७।

लोटः सेर्हिः स्यात्सोऽपिच्च ।

लोट् के स्थान में जायमान जो सिप् उसको हि आदेश होता है, यह आदेश अपित् होता है। यहाँ स्थानिवद्भाव से आदेश में पित्त्व प्राप्त था उसका निषेधार्थ अपिद् बाध न किया अतः अपिद्वद्भाव हुआ। अतः पित् निमित्तक गुणादिकार्य हि आदेश परमें रहते नहीं होंगे।

२२०३ अतो हेः ६।४।१०५।

अतः परस्य हेर्लुक्स्याद् । भव । भवतात् । भवतम् । भवत ।

अकार से पर हि का लुक् होता है। यहाँ अकार से प्रत्यय का अकार ही का ग्रहण करना। "प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्" इस परिभाषा से, अतः 'जहि' यहां 'हन्तेर्जः' से आदेश हुआ है वह जकार से उत्तर अकार अप्रत्यय है लुक् ही का न हुआ। 'असिद्धवदत्राभात्' सूत्र से आभीयत्वेन आदेश है वह समाधान उचित नहीं है। 'असिद्धवद्' सूत्र का भगवान् भाष्य कारने खण्डन किया है। हि को तातङ् पक्ष में भवतात्। पक्ष में हिका लुक् भव। भवतम्। भवत।

२२०४ मेर्निः ३।४।८९।

लोटो मेर्निः स्यात् ।

लोट् लकार के स्थान में आदेश जो मि उसको 'न' आदेश होता है।
हि एवं नि के इकार को 'एरुः' से उत्व नहीं होता है। आदेश में इकारान्तत्व विधान से।

२२०५ आडुत्तमस्य पिच्च ३।४।९२।

लोडुत्तमस्याडागमः स्यात्स पिच्च । हिन्योरुत्वं न । इकारोच्चारणसामर्थ्यात् । भवानि । भवाव । भवाम ।

लोट् के स्थान में आदेश जो उत्तमपुरुष उसको आट् आगम होता है, वह आट् आगम पित् होता है। यह हि एवं नि के इकार को 'एरुः' से उकारादेश नहीं होता है, इकारान्त आदेश विधान सामर्थ्य से। यदि सि उकारादेश होता तो प्रक्रिया लाघवार्थ हु नु ही करते। लङ्वद्भाव से 'इतश्च' से 'नि' के इकार एवं 'हि' के इकार का लोप नही होता है 'मोनः' 'सोहः' न्यास करते इकारान्त आदेश विधान प्रयुक्त लोपाभाव है। 'मो नः' न्यास में मस् के मकार को नादेश होने लगेगा यह दोष न देना, 'एरुः' से ए की अनुवृत्ति कर लोट् का विशेषण उसको मान कर इकारन्त लोट् के मकार को न आदेश होता है इस अर्थ से दोष का अभाव है। भवानि। भवाव। भवाम।

२२०६ अनद्यतने लङ् ३।२।१११।

अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् स्यात् ।

काल भी धात्वर्थ है इस पक्ष को मान कर अनद्यतन भूतार्थ वृत्ति धातु से पर लङ् लकार होता है। अनद्यतन में बहुव्रीहि समास है। तत्पुरुष में अतिप्रसङ्ग होगा "अद्य ह्यश्च अभुक्ष्महि" इस व्यामिश्र में लुङ् ही होता है।

२२०७ लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ६।४।७१।

एषु परेष्वङ्गस्याडागमः स्यात्, स चोदात्तः।

लुङ्, लङ्, लृङ् से अव्यवहित पूर्व जो अङ्ग उसको अट् आगम होता है, एवं यह अट् आगम उदात्त होता है।

विमर्श—अपरनिमित्तकत्वप्रयुक्त अन्तरङ्ग के कारण तिबादि करके नित्यत्व प्रयुक्त विकरण करके विकरणान्त अङ्ग को अडागम होता है। संहितापाठ में 'म्रियतेरिदन्यतरस्यां ऌलुङ् लङ्' ऐसा पाठ है। लकारान्तर प्रश्लेष से लकारावस्था में हीं अट् होता है यह भी पक्षान्तर यहां है। लावस्था में 'अट्' इस पक्ष में 'अकरोत्' यहां शिष्ट स्वर उकार विकरण स्वर है वही 'सति शिष्ट-स्वरबलीयस्त्वम्' से श्रूयमाण रहेगा तब उदात्त अट् को शेष निघात होगा यह आपत्ति के निवारणार्थ क्या यत्न करेंगे ? अट् को उदात्तत्वतो 'अभवत्' यहां चरितार्थ है। उदात्तपद में स्वरितत्व प्रतिज्ञा करके तद् बल से 'अधिकं कार्यम्' से बलवान् भी शिष्ट का बाध यहां होता है। अतः लावस्था में अट् यह भी पक्ष भाष्यकारादि सम्मत ही है। अतः पक्षद्वय में फल भेद नहीं यहां है।

२२०८ इतश्च ३।४।१००।

ङितो लस्य परस्मैपदमिकारान्तं यत्तदन्तस्य लोपः स्यात्। अभवत्। अभवताम्। अभवन्। अभवः। अभवतम्। अभवत। अभवम्। अभवाव। अभवाम।

ङित् लकार का जो परस्मैपद इकारान्त प्रत्यय उसके अन्त्य अल् का लोप होता है। यहां 'आदेः परस्य' से आदि वर्ण का लोप न हुआ 'धातोः' यह विहित पञ्चमी होने से पर शब्द से पर को कार्य अबोधन से 'आदेः परस्य' की यहां अप्राप्ति है। तस्मादित्युत्तरस्य से 'उत्तरस्य' की अनुवृत्ति से ही कार्य निर्वाह होता 'आदेः' इतना ही सूत्र करते पुनः परग्रहण सामर्थ्य प्रयुक्त यह अर्थ आदेः परस्य का हुआ कि परशब्देन विधीयमानं कार्यं यत् तत् परस्यादेर्वर्णस्य भवति। अभवत् आदि रूप निष्पन्न हुये।

२२०९ विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाऽधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् ३।३।१६१।

एष्वर्थेषु द्योत्येषु वाच्येषु वा लिङ् स्यात्। विधिः प्रेरणम्, भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम्। निमन्त्रणं नियोगकरणम्, आवश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम्। आमन्त्रणं कामचारानुज्ञा। अधीष्टम् सत्कारपूर्वको व्यापारः। 'प्रवर्तनायां लिङ्' इत्येव सुवचम्। चतुर्णां पृथगुपादानं प्रपञ्चार्थम्।

विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, संप्रश्न, प्रार्थना इन अर्थों में लिङ् लकार होता है। वे अर्थ वाच्य अर्थात् शक्ति से बोध्य रहे या वे अर्थ धातु से वाच्य रहे उनका द्योतक अर्थ का बोधक लिङ् होता है। द्योतक उसको कहते हैं समीपस्थपद में रहने वाली जो शक्ति उसका उद्बोधक = प्रकट करने वाला।

स्वसमभिव्याहृतपदनिष्ठशक्त्युद्बोधकत्वं द्योतकत्वम्। विधि का अर्थ प्रेरणा है, प्रेरणा अपने से पद या वयः में छोटे का नौकर या शिष्य या पुत्र या छोटे भाई को की जाती है। पदतः न्यूनत्व या अवस्थातः न्यूनत्व यहां अपेक्षित है—त्वं कार्यं कुरु। त्वं पठ। त्वं गच्छ। त्वं आज्ञां पालय। पठतु भवान् गच्छतु भवान्।

आमन्त्रणम् = नियोगकरणम्। नियोग का अर्थ है प्रवृत्तिः, करण का अर्थ है उसका जनक = उत्पादक व्यापार अर्थात्—प्रवृत्तिरूप कार्य का कारणीभूत व्यापार।

उदाहरण—आवश्यक श्राद्ध के भोजन में दौहित्र = कन्या का पुत्र की प्रवृत्ति का व्यापार करना इह भुञ्जीत भवान् मद्गृहे श्राद्धं वर्तते। दुहिता = पुत्री निरुक्तकार यास्क आचार्य ने दुहिता का अर्थ यह किया है—दूरे हिता दुहिता, पितृमन्दिर से विवाहित कन्या दूर रहने में पितृपक्ष का हित है।

आमन्त्रण पदार्थ—कामः = इच्छा, इच्छा से प्रवर्तनशील अर्थात् प्रवृत्ति का विधान न करने से अनुमिति। कामचारका अर्थ यह भी है इच्छा से चरण अधीष्टम् सत्कार = सम्मान पूर्वक किसी कार्य विशेष में नियुक्त करना। यथा "पुत्रान् अध्यापयेत् भवान्" किसी पुस्तक में अधीष्टः ऐसा पाठ है वह असंगत है 'निष्ठा' यह लिङ्गानुशासन से नपुंसत्व ही है। यहां विधि आदि में सर्वत्र प्रेरणांश की प्रतीति है। अतः सूत्र लघुभूत "प्रवर्तनायां लिङ्" इतना ही करना चाहिये। विध्यादि का ग्रहण स्पष्टार्थ है।

अस्ति प्रवर्तनारूपमनुस्यूतं चतुर्ष्वपि।
तत्रैव लिङ् विधातव्यः किं भेदस्य विवक्षया॥ इति।

विमर्श—यहां शङ्का होती है कि प्रवर्तनात्व क्या है? उसका स्वरूप निर्वचन आवश्यक है। प्रवृत्ति का जनक = उत्पादक जो ज्ञान उस ज्ञान में भासमान जो विषय = विशेष्यरूप ज्ञानीय जो विषयता = विशेष्यतारूपा है, तन्निरूपकता है प्रकारता में ही निरूपकताश्रय भी निरूपक होता ही है, अतः निरूपकत्व रूप जो अवच्छेदकत्व वह है इष्टसाधनत्व में, अतः इष्टसाधनत्व को प्रवर्तनात्व कहते हैं।

"प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावच्छेदकत्वं प्रवर्तनात्वम्।" प्रवृत्ति का जनक ज्ञान—इदं मदिष्टसाधनम्, यह है। समन्वय प्रकार—'स्वर्गकामो यजेत' यहाँ याग मेरे इष्ट का साधक है यह ज्ञान प्रवर्तक है। इस ज्ञान सम्बन्धिनी विषयता जो विशेष्यतारूपा है वह यागवृत्तिनी है, तन्निरूपिता प्रकारता = विशेषणता इष्टसाधनत्ववृत्ति है, अतः विशेष्यतानिरूपक प्रकारता का निरूपकत्व इष्टसाधनत्व में है वही प्रवर्तनापदसे अभिधीयमान है। विस्तृत विवरण पञ्चोलिकृत वै० भू० प्रभा से अवगत करना पृ० १४५। कृतिसाध्यत्व भी प्रवृत्तिप्रयोजक है वह लोकतः सिद्ध है अतः लिङर्थं वह नहीं है। कार्यमात्र के प्रति द्वेषाभाव कारण है। मण्डनमिश्र ने भी कहा है कि प्रवर्तना को छोड़कर अन्य कोई भी क्रिया में प्रवर्तक नहीं है, अतः प्रवृत्ति में कारण को प्रवर्तना कहते हैं।

२२१० यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च ३।४।१०३।

लिङः परस्मैपदानां यासुडागमः स्यात् स चोदात्तो ङिच्च। ङित्त्वोक्तेर्ज्ञायते क्वचिदनुबन्धकार्येऽप्यनल्विधाविति प्रतिषेध इति। श्नादेशस्य शानचः शित्त्वमपीह लिङ्गम्।

लिङ् के स्थान में जायमान परस्मैपद संज्ञक प्रत्ययों को यासुट् आगम होता है, वह उदात्त एवं ङिद्वद् भी है।

विमर्श—भू धातु से लिङ् उसको तिप् शप् गुण अवादेश 'भव यास् त्' यहाँ लिङ् लकार-वृत्ति ङित्त्व स्थानिवद्भाव से तत्स्थानिक परस्मैपद प्रत्यय में अतिदिष्ट होगा एवं अतिदिष्ट वह ङित्त्व यास् आगम विशिष्ट आगमी परस्मैपद में स्थित रहेगा। इस प्रकार से यासुट् ङित् है, पुनः ङित् ग्रहण इस सूत्र में क्यों किया ?

इस पर कहते हैं कि यहाँ अल्विधि में स्थानिवद्भाव नहीं है, अतः ङित्त्व का अतिदेश नहीं होगा, यह कथन असंगत है, 'नल्यपि' सूत्रारम्भ सामर्थ्य से ज्ञापन होता है कि अनुबन्ध प्रयुक्त कार्य में 'अनल्विधौ' इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। अन्यथा प्रदाय प्रस्थाय वहाँ कावृत्ति कित्त्व का अतिदेश ल्यप् में नहीं आता घुमास्था से इत्व की प्रवृत्ति न होती पुनः घुमास्था को रोकने के लिए कृत 'न ल्यपि' व्यर्थ होगा यासुट् का ङित्त्वग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'क्वचित् अनुबन्धकार्य करने में भी 'अनल्विधौ' की प्रवृत्ति होती है।'

यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि 'सार्वधातुकम्' 'अपित्' यह योग विभाग कर अपित् में नञर्थ अभाव है। अपित् अंश में 'यासुट्' सूत्र से ङित् का सम्बन्ध कर परस्परान्वय से 'ङित् पित् न' 'पित् ङित् न' से भाष्ये 'पिच्च ङिन्न, ङिच्च पिन्नेति' व्याख्याकरणार्थ यह ङित् ग्रहण चरितार्थ है व्यर्थ नहीं है।

इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि श्नाप्रत्यय वृत्ति शित्त्व शानच् में स्थानिवद्भाव से अतिदिष्ट होकर सार्वधातुकरादि संज्ञा प्रयोजन सिद्ध होता। आनच् आदेश करते शित् शानच् का व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "अनुबन्ध कार्य करने में कहीं 'अनल्विधौ' निषेध की प्रवृत्ति होती है।" भाष्यकार ने तो शानच् के शित् प्रत्याख्यान किया है। आनच् ही आदेश उनके मत में है।

२२११ सुट् तिथोः ३।४।१०७।

लिङस्तकारथकारयोः सुट् स्यात्। सुटा यासुट् न बाध्यते। लिङो यासुट् तकारथकारयोः सुडिति विषयभेदात्।

लिङ् के स्थान में जायमान जो तकार एवं थकार उसको सुट् आगम होता है। यह सुट् यासुट् को बाध नहीं करता है, क्योंकि सुट् आगम तो तकार एवं थकार को होता है एवं लिङ् को यासुट् होता है। अतः यहाँ विषयभेद प्रयुक्त बाध्यबाधक भाव नहीं है। युगपत् = एक समय में प्राप्ति रूप विप्रतिषेध का अभाव है अतः विप्रतिषेध सूत्र से परत्व प्रयुक्त सुट् बाधक न हुआ।

विमर्श—विषयभेद में बाध्यबाधक भाव नहीं होता है यह मत वार्तिककार का है। भाष्यादि मत में तो विषयभेद में भी बाध्यबाधक भाव होता ही है। यथा प्रथम एकाच् का द्वित्व एवं द्वितीय एकाच् का द्वित्व 'ऊर्णु' आदि में सम्भव है तो भी द्वितीय एकाच् के द्विर्वचन ने प्रथमैकाच् का प्राप्त द्वित्व का बाध ही किया, भाष्यकार ने कहा भी है "सत्यपि सम्भवे बाधनं भवत्येव" अतः यहाँ विषय भेद प्रयुक्त सुट् यासुट् को बाध नहीं करता यह कथन नवीनों की दृष्टि में उचित नहीं है, ऐसी परिस्थिति में क्या करना ? सुट् से यासुट् का बाध प्राप्त हुआ। किन्तु 'यासुड्विषये सीयुटः प्रतिषेधो वक्तव्यः' इस भाष्यवार्तिक से इस प्रकरण में बाध्य बाधक भाव के अभाव ज्ञापन से दोष का अभाव है। इससे सुट् यासुट् का समावेश साधित हुआ।

इसीलिए झिको जुसादेश विषय में भी यासुट् की सिद्धि हुई। अन्यथा जुस् से भी यासुट् का बाध होता।

२२१२ लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ७।२।७९।

सार्वधातुकलिङोऽनन्त्यस्य सस्य लोपः स्यात्। इति सकारद्वयस्यापि निवृत्तिः। सुटः श्रवणं त्वाशीर्लिङि। स्फुटतरं तु तत्राप्यात्मनेपदे।

सार्वधातुक लिङ्, उसका अन्त में न स्थित जो सकार उसका लोप होता है। इस सूत्र की दो बार प्रवृत्ति से दोनों सरकार की निवृत्ति हुई। वर्णभेद में लक्ष्यभेद है अतः लक्ष्ये लक्षणन्याय जो 'समः सुटि' से ज्ञापित है उसकी प्रवृत्ति यहाँ नहीं है। वर्णभेद में लक्ष्यभेद है इसमें प्रमाण 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' सूत्र ही है। अन्यथा वह व्यर्थ होगा। सुट् करके विधिलिङ् में उसका लोप हुआ तो श्रवण स्पष्ट उसका कहाँ रहेगा इस शङ्का का समाधान ग्रन्थकार स्वयं करते हैं कि आशीर्लिङ् में वहाँ भी अत्यन्त स्पष्टता उसकी आत्मनेपद में यथा 'एधिषीष्ट' आदि में सुट् भी लिङ् का अवयव है। अवयव का अवयव समुदाय का अवयव होता है शरीर का अवयव हाथ उसका अवयव अङ्गुलियाँ वे शरीरावयव हैं तथैव।

२२१३ अतो येयः ७।२।८०।

अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य या इत्यस्य इय् स्यात्। गुणः। यलोपः। भवेत्। सार्वधातुके किम्। चिकीर्ष्यात्। मध्येऽपवादन्यायेन हि अतो लोप एव बाध्येत। भवेदित्यादौ तु परत्वाद्दीर्घः स्यात्। भवेताम।

भव यास् त् सकार लोप या को इय् आदेश गुण 'लोपोव्योः' से यकारलोप भवेत्। सूत्र में सार्वधातुक की अनुवृत्ति न करते तो यह सूत्र बाध्यविशेष चिन्ता पक्षमूलक यह न्याय 'मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' से स्वविषय में प्राप्त 'अतो लोपः' को ही बाधक करेगा, एवं वहाँ 'या' को इयादेश करेगा चिकीर्ष्यात् यहाँ अतिव्याप्ति सार्वधातुक के अभाव में होगी। भव यात् यहाँ इयादेश को बाधकर 'अतो दीर्घो यञि' से दीर्घरूप अनिष्ट कार्यरूप आपत्ति होगी। यहाँ अव्याप्ति दोष है, अतः अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति रूप दूषणद्वय के निरासार्थ यहाँ सार्वधातुक ग्रहण की आवश्यकता है। भवेत् भवेताम्।

२२१४ झेर्जुस् ३।४।१०८।

लिङो झेर्जुस् स्यात्। ज इत्।

लिङ् के स्थान में जायमान झि को जुस् आदेश होता है। जकार की इत्संज्ञा लोप है।

२२१५ उस्यपदान्तात् ६।१।९६।

अपदान्तादवर्णादुसि परे पररूपमेकादेशः स्यात्। इति प्राप्ते। परत्वान्नित्यत्वाच्च 'अतो येयः' इति प्राङ्चः। यद्यप्यन्तरङ्गत्वात्पररूपं न्याय्यम्, तथापि 'यास्' इत्येतस्य इय् इति व्याख्येयम्। एवं च सलोपस्यापवाद इय् इति व्याख्येयम्। एवं च सलोपस्यापवाद इय्। 'अतो येयः' इत्यत्र तु सन्धिरार्षः। भवेयुः। भवेः। भवेतम्। भवेत। भवेयम्। भवेव। भवेम।

अपदान्त जो अवर्ण उससे अव्यवहित उत्तर जो उस् उसपर रहते पूर्व पर दोनों के स्थान में पररूप रूप एक आदेश होता है। पररूप की प्राप्ति यद्यपि हुई 'भव या उस्' यहाँ किन्तु परत्व एवं नित्यत्वके कारण 'अतो येयः' की प्रवृत्ति से या को इयादेश हुआ यह प्राचीन का मत है। यह उचित नहीं मत है क्योंकि पररूप अन्तरङ्ग है वह नित्य एवं पर से भी प्रबल है अतः पररूप होना चाहिये। इस शङ्का की निवृत्ति के लिए नवीन व्याख्यान 'अतो येयः' का इस प्रकार करते हैं तथाहि—यास् को इयादेश होता है, अतः 'लिङः सलोपः' से प्राप्त सकार लोप को बाधकर इयादेश हुआ, इस पक्ष में 'अतो गुणे' की प्राप्ति ही नहीं है। इस पक्ष में यास् इय यहां सौत्रत्वात् सलोप कर गुणसन्धि करनी चाहिये।

२२१६ लिङाशिषि ३।४।११६।

आशिषि लिङ्आर्द्धधातुकसंज्ञः स्यात्।

शुभाशंसन रूप आशीर्वादार्थक लिङ् के स्थान में जायमान तिङ् की आर्द्धधातुक संज्ञा होती है।

२२१७ किदाशिषि ३।४।१०४।

आशिषि लिङो यासुट् कित्स्यात्। 'स्कोः' इति सलोपः।

आशीर्वादार्थक लिङ्सम्बन्धी यासुट् आगम कित् होता है। अर्थात् कित् के समान होता है। संयोग के आदि सकार का 'स्कोः' सूत्र से लोप होता है।

२२१८ ग्क्ङिति च १।१।५।

गित्कित्ङिन्निमित्ते इग्लक्षणे गुणवृद्धी न स्तः। भूयात्। भूयास्ताम्। भूयासुः। भूयाः। भूयास्तम्। भूयास्त। भूयासम्। भूयास्व। भूयास्म।

यहां सूत्रस्थ सप्तमी निमित्तसप्तमी है, भाष्यवार्तिक है "ग्क्ङिति तन्निमित्तग्रहणं कर्तव्यम्" उपधा रोरवीति इत्यर्थम्। अतः गित्, कित्, ङित् निमित्तक इक् लक्षण गुण एवं वृद्धि नहीं होती है। भूयास् त सकार संयोगादि है उसका लोपकर 'सार्वधातुक' से प्राप्त गुण का निषेध हुआ भूयात् इत्यादि। यह सूत्र अनिग् लक्षण का भी निषेध करता है यह भी 'क्षिपेः क्नुः' से कित्त्व से इक् की अनुपस्थिति पक्ष में पक्ष है। यहां निमित्तसप्तमी भाष्यप्रामाण्य से होने पर तस्मिन् परिभाषा की यहां अप्रवृत्ति ही है।

२२१९ लुङ् ३।२।११०।

भूतार्थवृत्तेर्धातोर्लुङ् स्यात्।

भूत अर्थ में विद्यमान क्रियावाचक धातु से लुङ् होता है। विद्यमानध्वंसप्रतियोगित्व भूतत्वम्। 'अभूत्' इत्याकारकशब्दप्रयोगाधिकरणक्षण में विद्यमान जो ध्वंस उसका जो प्रतियोगी तत्त्वरूप भूतत्व है। यह सूत्र सामान्यतः भूतत्वमात्रविवक्षामें ही प्रवृत्तिमत् है, तद्विशेषविवक्षा में नहीं प्रवृत्त होता है।

२२२० माङि लुङ् ३।३।१७५।

सर्वलकारापवादः।

निषेधार्थक माङ् के योग में सर्वलकारों को बाधकर लुङ् लकार होता है।

२२२१ स्मोत्तरे लङ् च ३।३।१७६।

स्मोत्तरे माङि लङ् स्याल्लुङ् च।

स्मशब्द पर रहते माङ् के योग में धातु से उत्तर लङ् और लुङ् होता है।

२२२२ च्लि लुङि ३।१।४३।

शबाद्यपवादः।

धातु से अव्यवहित उत्तर च्लिविकरण होता है लुङ् पर रहते। शबादि विकरण का अपवाद यह है।

२२२३ च्लेः सिच् ३।१।४४।

इचावितौ।

च्लि के स्थान में सिच् आदेश होता है। इकार चकारकी इत्संज्ञा सिच् की हुई।

२२२४ गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु २।४।७७।

एभ्यः सिचो लुक्स्यात्। गापाविहेणादेशपिबती गृह्येते।

गाधातु स्थाधातु घुसंज्ञक—दा एवं धाधातु पाधातु भूधातु इनके उत्तर जो सिच् उसका लोप होता है। गा एवं पा दो दो है। एक इण् धातु को लुङ् में गा आदेश होता है वह 'गा,' एवं शब्दार्थक 'गै' का गा। एवं पिब् आदेश वाली 'पा पाने' एवं अदादिका 'पा रक्षण' ऐसी परिस्थिति में किस का ग्रहण यहां करना यह शङ्का हुई ?, "लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्" परिभाषा से इणादेश प्रतिपदोक्त 'गा' का ही यहां ग्रहण होता है। 'आदेच्' सूत्र से आत्वनिष्पन्न लाक्षणिक गा का ग्रहण यहां न हुआ। एवं "लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम्" परिभाषा से अलुग् विकरणक पिबादेश का स्थानी पा पाने का ही ग्रहण यहां होता है। लुक् विकरण अदादिका रक्षणार्थक का नहीं यहाँ ग्रहण होता है।

२२२५ भूसुवोस्तिङि ७।३।८८।

भू सू एतयोः सार्वधातुके तिङि परे गुणो न स्यात्।

२२२६ अस्तिसिचोऽपृक्ते ७।३।९६।

सिच्च अस् चेति समाहारद्वन्द्वः। सिच्छब्दस्य सौत्रं भत्वम्। अस्तीत्यव्ययेन कर्मधारयः। पञ्चम्याः सौत्रो लुक्। विद्यमानात्सिचोऽस्तेश्च परस्याऽपृक्तस्य हल ईडागमः स्यात्। इति ईट् नेह, सिचो लुका लुप्तत्वात्। अभूत्। हलः किम्। ऐधिषि। अपृक्तस्य इति किम्। ऐधिष्ट। अभूताम्।

सिच् एवं अस् का समाहार द्वन्द्व यहाँ समाहार द्वन्द्व के बाद अन्तर्वर्ति विभक्ति का प्रत्यय लक्षण से पदत्वनिमित्तक 'चोः कुः' से कुत्व एवं जश्त्व करना चाहिये, किन्तु वे न हुए। "छन्दो-

वत्सूत्राणि भवन्ति" के सिद्धान्त को समाश्रयण कर 'सिच्' की पदसंज्ञा को बाधकर सौत्रत्वप्रयुक्त भसंज्ञा यहाँ है। अस्ति शब्द के साथ सिचस् का कर्मधारय समास है। अस्तिसिचस् से आगत जो पञ्चमी विभक्ति उसका सौत्रत्व प्रयुक्त 'सुपां सुलुक्' सूत्र से लुक् हुआ।

विद्यमान सिच् एवं अस् धातु उनसे उत्तर में स्थित अपृक्त संज्ञक हल् को ईट् आगम होता है। '(अभूत्)' 'यहाँ इस सूत्र से 'त' को ईडागम न हुआ, क्योंकि सिच् का यहाँ लुक् हुआ है। अभूत्। हल् को ईडागम विधान के कारण 'ऐधिषि' यहाँ ईडागम नहीं हुआ। एवं अपृक्त कहने के कारण 'ऐधिष्ट' यहाँ प्रत्यय एक अल् स्वरूप नहीं है। अतः अपृक्तसंज्ञा के अभाव प्रयुक्त ईडागम का यहाँ अभाव हुआ।

विमर्श—विद्यमान विशेषण प्रयुक्त लुप्त सिच् वाले अस् को भूभाव का भी अभाव है।

भाष्यकार के मत में यहाँ द्विसकार युक्त निर्देश है। इस भाष्यकार का आशय यह है कि सिच् के उत्तर दो सकार निर्दिष्ट है। सिचस् का एक सकार है, एक अन्य सकार का भी प्रश्लेष है। इससे यह अर्थ होगा कि सकारान्त अस् एवं सकारान्त सिच् जहाँ श्रूयमाण रहे वहाँ इस सूत्र से ईडागम की प्रवृत्ति होती है। अन्यत्र नहीं। प्रश्लिष्ट सकार का संयोगान्त लोप है। व्यपदेशिवद्भाव से केवल सकार भी सकारान्त पद है। 'देवदत्तस्य एक एव पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव मध्यमः स एव कनिष्ठः' के समान। 'रोरुत्वे संयोगान्तलोपः सिद्धो वक्तव्यः' से यहाँ 'अतो रोर' से उत्व करने में संयोगान्त लोप सिद्ध ही रहेगा अतः यहाँ उत्वाभाव की आशङ्का न करनी चाहिये।

२२२७ सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ३।४।१०९।

सिचोऽभ्यस्ताद्विदेश्च परस्य ङित्सम्बन्धिनो झेर्जुस् स्यात्। इति प्राप्ते।

सिच् प्रत्यय, एवं अभ्यस्त संज्ञक धातु एवं विद् धातु से पर ङित्सम्बन्धी जो झिप्रत्यय उसके स्थान में जुस् आदेश होता है।

२२२८ आतः ३।४।११०।

सिज्लुक्यादन्तादेव झेर्जुस् स्यात्। अभूवन्। अभूः। अभूतम्। अभूत। अभूवम्। अभूव। अभूम।

सिच् का लुक् होने पर आकारान्त धातु से ही उत्तर झिको जुस् होता है अन्यत्र नहीं।

विमर्श—'सिजभ्यस्त' सूत्र से झि को जुस् होता ही पुनः यह सूत्र क्यों किया वह व्यर्थ होकर नियमार्थ है। नियमाकार यह है कि सिच् के लोप के होने बाद झि प्रत्यय को जुस् हो तो आकारान्त धातु से उत्तर को ही। यथा अपात् अपाताम् 'अपुः' यहाँ 'अपुः' यह नियम का फल है। यहाँ शङ्का होती है कि जहाँ नियम वहाँ विपरीत नियम भी प्रसक्त है—यथा प्रकृत में "आदन्तात् झेर्जुस् स्यात् तर्हि सिच् लुकि एव" अर्थात् आकारान्त धातु से उत्तर जो झि उसको जुस् आदेश हो तो सिच् के लुक् स्थल में ही अन्यत्र नहीं। यहाँ व्याख्यान से विपरीत नियम नहीं होता है।

विमर्श—'आतः' सूत्र विवरण समय में शङ्का होती है कि यह सूत्र नियमार्थ है या विध्यर्थ है? (विधि सूत्र को प्रापक कहते हैं)। इस सूत्र में पूर्व सूत्र जो 'सिजभ्यस्त' है उसकी अनुवृत्ति यदि है तो नियमार्थ ही है। यदि सिच् की अनुवृत्ति नहीं है तो विध्यर्थ है इस पक्षद्वयं

से शङ्का समाधान करके कहा है भाष्य में कि सिच् की अनुवृत्ति है एवं नियमार्थ है। नियमार्थ है तो 'सिच् लुक्' ग्रहण करना चाहिये, उसका ग्रहण करके ही 'सिच् लुगन्तात्' यह अर्थ लब्ध होगा, अन्यथा नहीं, 'सिच् लुक्' ग्रहण न करने पर अकार्षुः, अहार्षुः। यहाँ आपत्ति पड़ेगी।

यदि विध्यर्थ है तो भी 'अभूवन्' यहाँ प्रत्यय लक्षण से सिच् प्रत्यय का ज्ञानकर पूर्व सूत्र से जुस् आदेश प्राप्त है अतः विधिपक्ष में "प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधो भवति" यह वचन वक्तव्य होगा। उभय पक्ष में एक-एक अपूर्व वचन का ग्रहण करना पड़ेगा, बाद में भाष्यकार ने कहा कि नियमार्थ ही यह सूत्र है। नियम पक्ष में 'सिच् लुकि' वचन की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि तुल्य जातीय का नियम होता है। कौन तुल्यजातीय है इस प्रश्न के समाधान में जो धातु एवं जुस् दोनों का अव्यवहितपूर्वत्व एवं अव्यवहितोत्तरत्व रूप सामीप्य लक्षण अनन्तर रहे, वह आनन्तर्य = सामीप्य सिच् लुक् होने पर ही सम्भव है—इस व्याख्यान से सूत्रार्थ इसके करने में सिच् लुक् यह लब्ध हुआ है। यदि सिच् लुक् में भी प्रत्यय लक्षण से अभूवन् यहाँ झि को जुस् हो तो इसकी नियमार्थता व्यर्थ सी होगी इस सन्दर्भ परक व्याख्यान से यहाँ विपरीत नियम नहीं होता है। यही शिष्टोक्त व्याख्यान विपरीत नियम के अभाव में है यह समझना चाहिये।

२२२९ न माङ्योगे ६।४।७४।

अडाटौ न स्तः। मा भवान् भूत्। मास्म भवत्। भूद्वा।

निषेधार्थक माङ् के योग में अट् एवं आट् आगम धातुओं को नहीं होते हैं। हलादि धातु के पूर्व में अट् प्राप्त था उसका निषेध इसने किया। अजादि धातुओं के पूर्व में आट् आगम प्राप्त था उसका निषेध हुआ। अभूत् माङ् के योग में नहीं किन्तु मा भूत्। मा अभवत् नहीं किन्तु मा भवत् या भूत् हुआ। छन्द में तो अमाङ् योग में भी अट् आट् नहीं होते हैं क्वचित्।

२२३० लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ३।३।१३९।

हेतुहेतुमद्भावादि लिङ्निमित्तं तत्र भविष्यत्यर्थे लृङ् स्यात्क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम्। अभविष्यत्। अभविष्यताम्। अभविष्यन्। अभविष्यः। अभविष्यतम्। अभविष्यत। अभविष्यम्। अभविष्याव। अभविष्याम।

हेतु कहते हैं कारण को हेतुमत् कहते हैं कार्य को इन दोनों का कार्यकारण भाव रूप सम्बन्ध हुआ कार्यतानियामक एवं कारणतानियामक सम्बन्धविशेष तो भिन्न-भिन्न होगें। हेतु एवं हेतुमद्भाव सम्बन्ध स्थल के आदि पद से आशंसा वचन इसके विषय में क्रिया की अनिष्पत्ति = असिद्धि गम्यमान होने पर भविष्यत् अर्थ में लृङ् लकार होता है। अभविष्यत् आदि रूप सिद्ध हुए।

यदि अच्छी वृष्टि होगी जब देश में सुभिक्ष होगा। यहाँ परस्पर कार्य कारणभाव है तो भी क्रिया की असिद्ध रहने पर ही लृङ् होता है, अर्थात् न अच्छी वृष्टि होगी न सुभिक्ष होगा, यह विवक्षा में ही इस सूत्र का उदाहरण सम्भव है। इसी प्रकार आशंसा में 'गुरुश्चेद् अयास्यत् आशंसे अहमध्येष्ये। अन्य आचार्यों का इसके विषय में मत यह है कि—"भविष्यति मर्यादावचने" को उपक्रम करके जो जो लिङ् विहित हैं उन निमित्तों में ही क्रिया की असिद्धि रूप अर्थ गम्यमान रहे वहाँ ही लृङ् होता। यह लकारार्थ प्रक्रिया में स्पष्ट होगा कि किन-किन अर्थों में लिङ् होता है।

२२३१ ते प्राग्धातोः १।४।७०।

ते गत्युपसर्गसंज्ञा धातोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः।

.।तिसंज्ञक एवं उपसर्गकसंज्ञक शब्द का प्रयोग धातु से पूर्व ही करना चाहिये।

विमर्श—इस सूत्र के विषय में दो पक्ष है। एवं यह सूत्र नियमार्थ है। एक पक्ष है प्रयोग नियम पक्ष अर्थात् गतिसंज्ञक एवं उपसर्गसंज्ञक शब्दों का धातु से पूर्व एवं पर अव्यवस्थित क्रम से प्रयोग प्राप्त था कदाचित्, इनका पूर्व प्रयोग धातु से पूर्व भी होता पर भी अतः उन-उन सूत्रों से क्रिया वाचक धातु के योग में स्वतन्त्रतापूर्वक गतिसंज्ञा प्रादि शब्दों की हुई एवं उसी प्रकार उपसर्ग संज्ञा हुई। यह केवल प्रयोग नियामक ही है अर्थात् नियमार्थ है। यह एक पक्ष। दूसरा पक्ष यह है कि धातु के पूर्व में प्रपरादि रहने पर ही उपसर्ग एवं गतिसंज्ञा होगी अन्यथा नहीं यह पक्ष है संज्ञानियमपक्ष, संज्ञी ही नियम्य = अर्थात् व्यावृत्त हुई। इस नियम से सिद्ध हुआ कि प्रपरादि का पर प्रयोग नहीं, व्यवहित प्रयोग नहीं। किन्तु पूर्व प्रयोग ही होता है। प्रयोग नियम पक्ष या संज्ञा नियम पक्ष में यथेच्छ कोई पक्ष स्वीकार किया जाय न दोष है न फलभेद। छन्द में पर भी प्रयोग होता है, एवं व्यवहित में भी 'छन्दसि परेऽपि' 'व्यवहिताश्च' इन सूत्रों से।

२२३२ आनि लोट् ८।४।१६।

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य लोडादेशस्यानीत्यस्य नस्य णः स्यात्। प्रभवाणि। 'दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः'। दुःस्थितिः। दुर्भवानि। 'अन्तःशब्दस्याऽङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्'। अन्तर्धा। अन्तर्धिः। अन्तर्भवाणि।

उपसर्गस्थित निमित्त से पर लोट् लकार सम्बन्धी जो 'आनि' उसका जो नकार उसको णकार आदेश होता है।

विमर्श—यहाँ मिप् को नि आदेश होता है, आट् आगम है। 'आनि' आदेश लोट् के स्थान में नहीं होता है। आट् के साथ अवयवावयविभाव सम्बन्ध लोट् का है यदागम परिभाषा से। एवं 'नि' के साथ परम्परया स्थान्यादेशभाव सम्बन्ध है।

यहाँ 'नि लोट्' ऐसा सूत्र करते लोट् के उत्तम पुरुष का नि 'आनि' का ही होता पुनः आकार ग्रहण क्यों किया वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'आगमजम् अनित्यम्' आगम से उत्पन्न कार्य अनित्य है। अतः 'प्रभवानि' यहाँ णत्वाभावार्थ 'आनि' ग्रहण किया है, अत एव 'सागरं तर्तुकामः' यहाँ इट् न हुआ। एवं भट्टोजिदीक्षित मत में यहाँ जि के उत्तर तुक् आगम 'ह्रस्वस्य पिति' से न हुआ 'जप्त्वा स्तोत्रम्' यहाँ इट् आगम न हुआ। सूत्र में लोट् ग्रहण स्पष्टार्थ है। 'प्रवपानि मांसानि' यहाँ 'प्रकृष्टा वपा येषां तानि' यह अर्थ में प्र उपसर्ग नहीं है एवं अर्थवान् नहीं है। यहाँ प्रातिपदिकान्तत्वेन वैकल्पिक णत्व होता ही है।

सूत्रोदाहरण प्रभवाणि। दुर् को षत्व या णत्व करने में उपसर्ग संज्ञा का प्रतिषेध करना चाहिये। अतः 'दुःस्थितिः' यहाँ 'उपसर्गात् सुनोति' से षकार का अभाव हुआ है। 'दुर्भवानि' यहाँ 'आनि लोट्' से णकार का अभाव हुआ। 'अन्तर्' शब्द जो उपसर्ग संज्ञक नहीं है उसमें उपसर्गत्वधर्मारोप होता है अङ्विधि, किविधि एवं णकार विधि इन विधियाँ कर्तव्य रहे तब। 'अन्तर्धा'

यहाँ 'आतश्चोपसर्गे' से अङ् यहाँ हुआ एवं टाप्। 'अन्तर्धिः' यहाँ 'उपसर्गे घोः किः' से उपसर्ग पूर्वक घु संज्ञक धा धातु से कि प्रत्यय हुआ, आकार का लोप 'आतो लोप' से हुआ। 'अन्तर्भवाणि' यहाँ णकारादेश उपसर्गत्वनिमित्तक हुआ।

२२३२ शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे ८।४।१८।

उपदेशे कादिखादिषान्तवर्जे गदनदादेरन्यस्मिन्धातौ परे उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नेर्नस्य णत्वं वा स्यात्। प्रणिभवति प्रनिभवति। इहोपसर्गाणामसमस्तत्वेऽपि संहिता नित्या। तदुक्तम्—

उपदेश में ककारादि, खकारादि, षकारान्त, एवं गदनद आदि से भिन्न धातु पर रहते उपसर्गस्थ निमित्त से पर स्थित नि के नकार को णकारक विकल्प से होता है। यथा—प्रणिभवति। प्रनिभवति यहाँ उपसर्ग प्र उसमें रहने वाला रेफ है तन्निमित्तक णत्व वैकल्पिक हुआ। पक्ष में णकाराभाव है। यहाँ असमास होते हुए भी धातु एवं उपसर्ग की संहिता नित्य है। कहा गया है आचार्यों द्वारा कि—

'संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते॥' इति।

अखण्ड पद में संहिता नित्य है, पदत्व का अभाव से युक्त उत्तर खण्ड वाला जो पद उसको अखण्ड पद कहते हैं = पदत्वाभाववदुत्तरखण्डकत्वम् = उत्तरपदत्वम्। अतः पद द्विर्वचन में यथा 'अग्रे अग्रे' यहां संहिता अनित्य है। धातु एवं उपसर्ग में संहिता नित्य है। समास में संहिता नित्य है अतः सन्धियुक्त ही प्रयोग करना चाहिये। वाक्य में वक्ताकी इच्छा तदधीन संहिता है।

सत्ताद्यर्थनिर्देशश्चोपलक्षणम्। 'यागात्स्वर्गो भवती'त्यादावुत्पद्यत इत्याद्यर्थात् उपसर्गास्त्वर्थविशेषस्य द्योतकाः। प्रभवति। पराभवति। सम्भवति। अनुभवति। अभिभवति। उद्भवति। परिभवतीत्यादौ विलक्षणार्थावगतेः।

सत्ता आदि धातुओं के अर्थ प्रदर्शन अन्य अन्य अर्थों का भी उपलक्षण है। अर्थात् धातु पाठ में प्रदर्शित ही अर्थ नहीं है अन्य भी अर्थ उनका है। प्रसिद्ध एक अर्थ बोधन किया है। क्रिया कलाप रूप याग से उत्पन्न अदृष्ट से स्वर्ग उत्पन्न होता है एतदर्थक वाक्य—'यागात् स्वर्गो भवति' यहां भूधात्वर्थ उत्पत्त्यनुकूल व्यापारार्थ है। उत्पत्ति रूप फल अन्य उसका व्यापार जनक है। याग रूप कारण का नाश होता है वह अदृष्ट जब तक स्वर्गादि कार्य न होगा तब तक रहता है जब वह कार्य को उत्पन्न करा लेगा तब वह अदृष्ट नष्ट होता है।

उपसर्ग में शक्ति से वाचकत्व नहीं है, अर्थविशेष वाचक धातु ही है उपसर्ग तो केवल द्योतक है अर्थविशेष द्योत्य है। समीपस्थ पद में रहने वाली शक्ति का बोधक को द्योतक कहते हैं। प्रभवति—वह वर्तमान काल में उत्पत्ति जनक व्यापार युक्त है तदर्थाभिन्न एकत्व विशिष्ट कर्तृवृत्ति वर्तमान कालिक उत्पत्तिजनको व्यापारः। संभवति = सम्यक् उत्पन्न होता है। अनुभवति = वह अनुभव करता है। अभिभवति सर्वतोभाव से उत्पन्न होता है। उद्भवति उपरि भाग में उत्पन्न होता है। परिभवति पराजय को प्राप्त होता है। इस प्रकार एक भूधातु के अनेक अर्थ विलक्षण प्रतीयमान होते हैं।

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥

उपसर्ग के बल से धातु का प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति = बोधन होता है । यथा—प्रहार, आहार, संहार, विहार, परिहार, यहां एक हृ धातु के उपसर्ग वश अनेक अर्थ हुए हैं । एवं आलाप, प्रलाप, अनुलाप, विलाप, संलाप, सुप्रलाप, अपलाप आदि अर्थ एक धातु के अर्थ है ।

विमर्श—'धात्वर्थो बलात्' यहां धात्वर्थः अबलात् पद विभाग करना ही सर्वथा उचित मार्ग है 'धात्वर्थोऽबलात्' बलात् = का अर्थ है शब्दसमवेतशक्ति स्वाभाव्य है अर्थात् शब्द शक्ति के स्वभावतः अन्यान्य अर्थ भी धातु शक्ति से ही प्रतीयमान है । बलात् अर्थ बोधन करना यह पक्ष सर्वथा अनुचित है । उपसर्ग की अर्थ बोधन में स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं है, वह तो केवल द्योतक है अत एव अनुभूयते चैत्रेण आनन्दः । यहां अनुभवार्थक भूधातु सकर्मक है अतः कर्म में लकार हुआ कर्म आनन्द उक्त एवं कर्ता यहाँ अनुक्त है । कर्म वाचक से प्रथमा कर्तृ वाचक से तृतीया प्रपूर्वक हृ धातु का अर्थ हरण जनक व्यापार है । आङ् पूर्वक धातु का अर्थ—गलबिलाधःसंयोग जनक व्यापार है । संपूर्वक हृ का अर्थ है नाश जनक व्यापार । विपूर्वक हृ धातु का अर्थ है पर्यटन जनक व्यापार । परि पूर्वक हृ का अर्थ है आक्षेपादि का दूरीकरण जनक व्यापार है ।

एध वृद्धौ । कत्थन्ताः षट्त्रिंशत् अनुदात्तेतः ।

एध धातुका अर्थ है—वृद्धि जनक व्यापार । वृद्धि रूप फल एवं उसका उत्पादक व्यापार दोनों एकनिष्ठ है अर्थात् कर्ता में है, फल व्यापार दोनों एक वृत्ति रहे वह धातु अकर्मक है । एवं प्राचीनो ने एक श्लोक रूप से कहा है उसमें भी वृद्धि है अकर्मक है । वृद्धि अर्थक अकर्मक है इस में प्राचीनों की भी सम्मति है—यथा—

"लज्जासत्तास्थितिजागरणं वृद्धिक्षयभयजीवितमरणम् ।
शयनक्रीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः" ॥

विमर्श—वस्तुतः यह प्राचीनों से कथित अकर्मकलक्षण उचित नहीं है क्योंकि एक ही धातु सकर्मक एवं अकर्मक विवक्षा भेद से होता है । अतः स्वार्थफलसमानाधिकरणव्यापारवचकत्वम् अकर्मकत्वम् । एवं स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम् । यही लक्षण अकर्मक सकर्मक के उचित है ।

यहां से अर्थात् एध से लेकर कत्थ पर्यन्त ३६ धातु अनुदात्त की इत्संज्ञा से युक्त हैं अतः 'अनुदात्तेत्ङित' से आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय लकार के स्थान में आदेश होंगे । आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्यय आदेश युक्त को आत्मनेपदी धातु ऐसा कहा जाता है ।

२२३४ टित आत्मनेपदानां टेरे ३।४।७९।

टितो लस्यात्मनेपदानां टेरेत्वं स्यात् । एधते ।

टित् जो लकार उसके स्थान में जायमान जो आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय उसकी जो टिसंज्ञा युक्त वर्ण उसके एकारादेश होता है । एध में अकार की 'उपदेशे' से इत्संज्ञालोप वर्तमानत्व विवक्षा में लट् अकार टकार इत् संज्ञा से शेष ल् के स्थान में आदेश उसके अकार की टिसंज्ञा है शप् विकरण में अकार अवशेष है इससे एत्वसे एधते कमलेशः = कमलेशाभिन्नएकत्ववृत्ति वर्तमानकालिक वृद्धिजनक व्यापार । एवं रमेश एधते आदि वाक्य रचना करनी चाहिये ।

२२३५ सार्वधातुकमपित् १।२।४।

अपित्सार्वधातुकं ङिद्वत्स्यात् ।

पित् भिन्न जो सार्वधातुक संज्ञक प्रत्यय वहां ङित् प्रत्यय के तुल्य = समान होता अर्थात् ङित्प्रत्यय पर रहते जो जो कार्य होते हैं वे सब अपित् सार्वधातुक प्रत्यय पर रहते करना चाहिये। यह सूत्र आरोप बोधकत्व रूप अतिदेश शास्त्र है। यहां वत् ग्रहण ज्ञानलाघवार्थ है। स्पष्टार्थ भी है।

२२३६ आतो ङितः ७।२।८१।

अतः परस्य ङितामाकारस्य इय् स्यात् । एधेते । एधन्ते ।

ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से पर ङित् जो प्रत्यय उसका अवयव जो आकार उसके स्थान में इय् आदेश होता है। पूर्व सूत्र से आताम् को ङिद्वत् प्रतिपादन किया है। आ को इय् आदेश शप् के अकार एवं इकार का गुण, टि आम् को एकार एधेते। एध अन्ते 'अतो गुणे' पररूप एधन्ते।

२२३७ थासः से ३।४।८०।

टितो लस्य थासः से स्यात् । एधसे । एधेथे । एधध्वे । 'अतो गुणे'। एधे । एधावहे । एधामहे ।

टकारेत्संज्ञक जो लकार उसके स्थान में जायमान जो थास् उसके स्थान में से आदेश होता है एध ए यहां वृद्धि को बाधकर पररूप 'अतो गुणे' से हुआ। पररूप के दो उदाहरण प्रसिद्ध है।

विमर्श—किन्तु अपदान्त अ के बाद ओ कार रहे वहां 'अ × ओ' का पररूप का उदाहरण अतीव अप्रसिद्ध एवं कम लोग जानते हैं—सम्बोधन में हे तित ओ यहां पररूप से 'हे तितो' बना है 'तनोतेर्डे उ सन्वच्च' से 'तनु विस्तारे' से तन् ड डित्त्वात् टि लोप से अन् का लोप त उविकरण त उ सन्वद्भाव से द्वित्व 'तत उ' सन्यतः से अभ्यास अकार को इकारादेश तित उ सम्बोधन में सु उसकी सम्बुद्धिसंज्ञा ह्रस्वस्य गुणः से ओकार हेतत ओ पररूप हे तितो !

२१३८ इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ३।१।३६।

इजादिर्यो धातुर्गुरुमानृच्छत्यन्यस्तत आम् स्याल्लिटि । 'आमो मकारस्य नेत्त्वम्' । आस्कासोराम्विधानाज्ज्ञापकात् ।

लिट् प्रत्यय से अव्यवहित पूर्वत्व विशिष्ट इच् प्रत्याहार का अक्षर है आदि में जिसको ऐसा जो नित्यगुरुमान् ऋच्छ से भिन्न धातु उससे पर आम् प्रत्यय होता है। आस् एवं कास् धातु से लिट् में आम् विधान सामर्थ्य से आम् के मकार की हलन्त्यम् से इत् संज्ञा होकर लोप नहीं होता है। यदि मकार की इत्संज्ञा होती तो 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से आस् कास् के सकार पूर्व आम् का आकार मात्र विधेय रहता वहां दीर्घ से आस् कास् ही श्रूयमाण रहते आम् विधान इन दो धातुओ से व्यर्थ होता 'आसां चक्रे' 'कासां चक्रे' रूपों को असिद्धि भी होती अतः 'आमो मकारस्य इत्वं न' यह ज्ञाप्यवचन सिद्ध हुआ।

विमर्श—मकार की इत्संज्ञा एवं लोपकर 'मिदचोऽन्त्यात' की प्रवृत्ति कर आम् विधान सामर्थ्यात 'अकः सवर्णे' से दीर्घ नहीं होता यह कल्पना क्यों नहीं की गई। दीर्घ के अभाव में

आम् का आकार श्रूयमाण रहेगा व्यर्थ नही। ऐसा कथन उचित नही है। क्योंकि आम् विधान व्यर्थ है वह तो निर्विवाद है कौनसा वचन ज्ञापन करें वह केवल विचारणीय है। दीर्घ का अभाव बाधन में षड्विधि सूत्रों में विधिशास्त्र का प्राधान्य है, अत 'अकः सवर्णे' सूत्र के बाध करने में प्रधानीभूत शास्त्र का बाध करना यह उचित नहीं है, किन्तु अप्रधान इत्संज्ञा विधायक 'हलन्त्यम्' का बाध करना यही उचित क्रम है।

यहां कोई कहता है कि प्रधान दीर्घ का बाध न हो किन्तु आस्, कास् से आम् विधान सामर्थ्य से संहिता संज्ञा जो अप्रधान है उसी का बाध क्यों नही, संहिता के अभाव दीर्घ स्वतः अप्राप्त है। यह कथन भी भाष्यविरुद्ध है क्योंकि भाष्यकार ने कहा है कि संहिता एक पद में नित्य रहती ही है, उसका अभाव बोधन करना अनुचित है। अतः 'आमो मकारस्य नेत्वम्' यह वचन उचित है।

२२३९ आमः २।४।८२।

आमः परस्य लुक् स्यात्।

आम् से पर का लुक् होता है।

विमर्श—"प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्" इस परिभाषा से आम् प्रत्यय लेना अतः 'अमु गत्यादिषु' के लिट् में आम आमतुः आमुः का आम् का ग्रहण नही, वहां लुक् न हुआ। किञ्च, प्रतिपदोक्त परिभाषा से प्रतिपदोक्त आम् जो प्रत्यय है, उसका ग्रहण होता है, लाक्षणिक का नहीं। अथवा लिट् की अनुवृत्ति करके आम् से पर जो लिट् उसका लुक् होता है। इस व्याख्यान से कहीं दोष नहीं है।

२२४० कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि ३।१।४०।

आमन्ताल्लिट्पराः कृभ्वस्तयोऽनुप्रयुज्यन्ते। आम् प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्येति सूत्रे कृञ् ग्रहणसामर्थ्यादनुप्रयोगोऽन्यस्यापीति ज्ञायते। तेन कृभ्वस्तियोगे इत्यतः कृञो द्वितीयेति ञकारेण प्रत्याहाराश्रयणात् कृभ्वस्तिलाभः। तेषां क्रियासामान्यवाचित्वादाम्प्रकृतीनां विशेषवाचित्वात् तदर्थयोरभेदान्वयः। सम्पदिस्तु प्रत्याहारेऽन्तर्भूतोऽप्यनन्वितार्थत्वान्न प्रयुज्यते। कृञस्तु क्रियाफले परगामिनि परस्मैपदे प्राप्ते।

आमन्ततदादि से पर लिट् लकार है पर में जिनके ऐसे कृ, भू, अस् इनका अनुप्रयोग होता है। अनु = पश्चात् प्रयोगः = उच्चारणम्। सूत्र में तो केवल कृञ् शब्द ही है, तीनों के अनुप्रयोग में क्या प्रमाण है? इस शङ्का की निवृत्ति के लिए समाधान यह है कि यदि केवल कृञ् का अनुप्रयोग होता तो अनुप्रयोग शब्द का बोध्य कृञ् होता ही पुनः 'अनुप्रयोगस्य' इतना कहते 'आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य' सूत्र में कृञ् ग्रहण व्यर्थ होता इससे मालूम होता है कि अन्य का भी अनुप्रयोग होता है। अर्थात् अन्य अनुप्रयोग धातुओं के निरासार्थ कृञ् ग्रहण है, इससे यह सिद्ध होता है कि 'कृञ्' केवल स्वरूप परक नहीं है किन्तु कृ शब्द से आरम्भ कर 'कृञो द्वितीया' के ञकारतक मध्यवर्ती धातु एवं कृ वे कृञ् प्रत्याहार से बोध्य संज्ञी है। इससे 'कृ, भू, अस्' इन तीनों का अनुप्रयोग होता है यह अर्थ लब्ध हुआ है।

आम् की प्रकृति भूत जो धातु उनका अर्थ जो वाच्य है वह क्रिया विशेष का प्रत्यायक है, एवं अनुप्रयुज्यमान जो कृ, भू, अस् इन का अर्थ सामान्य क्रिया है। ऐसी स्थिति में सामान्य क्रिया विशेष्य है, विशेष क्रिया = वृद्धिजनक व्यापारादि विशेषण है सामान्यार्थ एवं विशेषार्थ का अभेदान्वय है।

अर्थात् अभेद सम्बन्ध से एधार्थ प्रकृत में विशेषण कृञर्थ विशेष्य है, एवं असर्थ, भूधात्वर्थ भी विशेष्य है। कृञ् प्रत्याहारान्तर्गत सम् पूर्वक पद् धातु भी है, किन्तु उसका अनुप्रयोग इस लिए न हुआ कि वह भी क्रियाविशेष का वाचक है, आम् प्रकृतिभूत धातु का अर्थ भी क्रिया विशेषार्थ है। अतः विशेषक्रियार्थक विशेषक्रियार्थक का परस्पर अन्वय के अभाव से अनुप्रयोग 'सम्पद्' का न हुआ।

विमर्श—तथाच 'एधाञ्चक्रे' 'एधाम्बभूवे' इत्यत्र एककर्तृकभूतानद्यतनपरोक्षा वृध्यभिन्ना क्रिया यह बोध हुआ। कृधातु सकर्मक है, भूधातु अकर्मक है, दोनों का समानार्थकत्व कैसा? समाधान यह है कि जब कृञ् का स्वतन्त्र प्रयोग होता है यथा 'घटं चक्रे' तब वह सकर्मक है। कृञ् धात्वर्थ जब अन्य वाच्य क्रिया के साथ एकार्थ बोधक होता है यथा 'जुहवाञ्चकार' तब सकर्मकत्व एवं अकर्मकत्व इन दोनों से स्वयं भी तथाभूतत्व को प्राप्त करता है, इसी प्रकार भू एवं अस् तदर्थ आम् प्रकृतिभूत धातु के अर्थ के समानार्थक होते हैं तब भूधात्वर्थ अस् धात्वर्थ भी सकर्मक है। अकर्मक नहीं है। अनुप्रयुज्यमान भूधातु सकर्मक होने से कर्म में लकार हुआ गुजरात प्रान्त के कविरत्न श्री माघ ने—"तस्यातपत्रं बिभरांबभूवे" कहा है। श्रीहर्ष महाकवि ने—

तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभरांबभूविरे।

आम् प्रत्यय की प्रकृतिभूत धातु वाच्य क्रियागत कारक एवं संख्यादि विशेष रूप जो अर्थ उनकी ही अभिव्यक्ति करना यही अनुप्रयोग का फल है।

यद्यपि कृञ् धातु ञकारेत्संज्ञक है 'स्वरितञितः' से आत्मनेपद प्राप्त ही है। कृञर्थ उत्पत्ति जनक व्यापार है, तज्जन्य उत्पत्ति रूप फल है वह कृञर्थ कर्ता से भिन्नगामी रहे वहाँ आत्मनेपद अप्राप्त होने से परस्मैपद की प्राप्ति है, वहाँ भी आत्मनेपद इष्ट है एतदर्थ सूत्र निर्माण करते हैं—

२२४१ आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य १।३।६३।

आम्प्रत्ययो यस्मादित्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्यमानात्कृञोऽप्यात्मनेपदं स्यात्।

इह पूर्ववदित्यनुवर्त्य वाक्यभेदेन सम्बध्यते। पूर्ववदेवात्मनेपदम् न तु तद्विपरीतमिति। तेन कर्तृगेऽपि फले (इन्दाञ्चकार) इत्यादौ न तङ्।

बहुव्रीहिसमास में दो भेद है, तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि, एवं अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि। यहाँ 'आम् प्रत्ययो यस्मात्' इस अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि से आम् का त्याग पूर्वक केवल आम् की प्रकृतिभूत धातु का ही ग्रहण हुआ, उसके समान अनुप्रयुज्यमान कृञ् धातु से भी आत्मनेपद होता है। यहाँ 'पूर्ववत् सनः' से पूर्ववत् की अनुवृत्ति कर वाक्यभेद करके पूर्ववत् ही = पूर्व सदृश ही आत्मनेपद होता है उससे विपरीत नहीं। इस अवधारणार्थ वाक्य से बोधितार्थ से क्रियाजन्य फल-

कृञर्थ कर्तृगामी है तो भी आम् की प्रकृति भूत धातु इन्द परस्मैपद है अतः अनुप्रयुज्यमान कृञ् से परस्मैपद ही हुआ यथा इन्दाञ्चकार। आत्मनेपद न हुआ।

यहाँ वाक्यभेद से व्याख्यान करण में 'आम्प्रत्ययवत्' ही प्रमाण है। अन्यथा 'पूर्ववत्' का सम्बन्धकर अनुप्रयोग कृञ् का आम् के पूर्व सदृशार्थ लाभ होता आम् प्रत्ययवत् ग्रहण व्यर्थ होता।

विमर्श—'अनेकम्' सूत्र पर भगवान् भाष्यकार बहुव्रीहि समास में पक्षद्वय प्रदर्शित किये हैं। 'शुक्लवाससम् आनय।' 'लम्बकर्णमानय' दो उदाहरण क्रमशः तद्गुण सं० वि० बहुव्रीहि एवम् अतद्गुण सं० वि० ब० के दिये हैं। शब्दार्थ—तस्य = अन्यपदार्थस्य, गुणानाम् = विशेषणानाम्, कार्यान्वयितया सविज्ञानं यत्र, यह तद्गुणसंविज्ञान शब्दार्थ है, लक्षण इस प्रकार है—संयोगसमवायान्यतररूपसम्बन्धे यदा बहुव्रीहिस्तदा तद्गुणत्वम्। तदतिरिक्तसम्बन्धे यदा बहुव्रीहिस्तदा अतद्गुणत्वम्। यह सामान्य स्वरूप है। चित्रगुमानय, नागयज्ञोपवीतिनं भोजय। लम्बकर्णम् आनय आदि में तद् गु० सं० ब० है। दृष्टसागरमानय आदि में अ० त० गु० सं० व० है।

२२४२ लिटस्तझयोरेशिरेच् ३।४।८१।

लिडादेशयोस्तझयोरेश् इरेच् एतौ स्तः। एकारोच्चारणं ज्ञापकं तङादेशानां टेरेत्वं नेति। तेन डारौरसां न। 'कृ ए' इति स्थिते।

लिट् के स्थान में आदेश जो त एवं झ उनके स्थान में क्रमशः एश् एवं इरेच् आदेश होते हैं। यहाँ शङ्का होती है कि एश् न करके इश् लाघवार्थ करते 'टित आत्मनेपदानाम्' से इकार को एकारादेश से रूपसिद्धि होती, पुनः आदेश एश् में एकार का उच्चारण क्यों किया? वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि तङादेश की टि को एकारादेश नहीं होता है। अतः डा रौ रस् की टिसंज्ञक को एकार नहीं हुआ।

प्रकृत में एध् से आम् एधाम् से कृञ् का अनुप्रयोग लिट् त त को एश् शकार की इत्संज्ञा लोप एधाम् कृ ए यह स्थिति हुई।

२२४३ असंयोगाल्लिट्कित् १।२।५।

असंयोगात्परोऽपिल्लिट्कित्स्यात्। ग्क्ङिति चेति निषेधात् सार्वधातुकार्धधातुकयोरिति गुणो न। द्वित्वात्परत्वाद्यणि प्राप्ते।

असंयुक्त धातु से पर स्थित अपित् लिट् कित् होता है। कित् बाधन करने से 'ग्क्ङिति' से निषेध प्रयुक्त 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण कृ के ऋ कार का यहाँ न हुआ। तब द्वित्व प्राप्त है एवं यण् प्राप्त है वे दोनों अन्यत्र अन्यत्र चरितार्थ है। यहाँ परत्व के कारण यण् प्राप्त है किन्तु वक्ष्यमाण सूत्र से यण् का निषेध कर द्वित्व हुआ—

२२४४ द्विर्वचनेऽचि १।५।५९।

द्वित्वनिमित्तेऽचि परे अच आदेशो न स्यात् द्वित्वे कर्तव्ये।

द्वित्वनिमित्त भूत अच् पर में रहे एवं द्वित्व कर्तव्य रहे वहाँ अच् के स्थान में आदेश नहीं होता है।

विमर्श—सूत्र में 'द्विर्वचने' तन्त्र से निर्दिष्ट है अस्मदादि को आवृत्त्या अर्थद्वय प्रतिपादक वह है। एक द्विर्वचन का अर्थ निमित्तसप्तमी, उससे पर होने से यह अर्थ कि 'द्वित्वनिमित्ते',

द्वितीय द्विर्वचन का अर्थ हुआ द्वित्वे कर्तव्ये। समुदायार्थ पूर्व में कह चुके हैं। अथवा असह विवक्षा में भी सौत्र प्रयोग मात्र निर्वाहार्थ एकशेष यहाँ है। यह भी पक्ष है। इसमें गौरव है। तथा एकशेष प्रकरण का भाष्य में प्रत्याख्यान भी है। इस सूत्र में दो पक्ष है—द्वित्व निमित्तक अच् पर रहते द्वित्व यदि कर्तव्य है तो अच् के स्थान में जायमान आदेश स्थानिवत् होता है। अथवा अजादेश नहीं होता है यह निषेध पक्ष भी है। दोनों पक्ष भाष्यसम्मत है किन्तु अच् के स्थान में आदेश करना एवं आदेश में स्थानिवृत्ति रूप का अतिदेश करके कार्य करना यह पक्ष गौरवग्रस्त है। अतः निषेध पक्ष का ही यहाँ ग्रन्थकार ने अवलम्बन किया है।

२२४५ उरत् ७।४।६६।

अभ्यास ऋवर्णस्य अत् स्यात् प्रत्यये परे। रपरत्वम्। हलादिः शेषः। प्रत्यये किम्? वव्रश्च।

प्रत्यय पर रहते धातु से पूर्व जो अभ्यास संज्ञक शब्द उसका अवयव जो ऋकार उसको अत् आदेश होता है, अर्थात् ह्रस्व अकार होता है। ऋकार स्थान में जायमान ह्रस्वाकार 'उरण्' सूत्र से रपर होता है। हलादिः शेष से अभ्यास का आदि हल् शेष एवं अन्य हल् का लोप होता है। प्रत्यय ग्रहण का फल वव्रश्च है, यहाँ अभ्यास में संप्रसारण से विद्यमान ऋकार का अकार हुआ, ऋकार वृत्ति सम्प्रसारणत्व पर प्रत्यय निमित्तक उरत् से विधीयमान अकार में स्थानिवद्भाव से सम्प्रसारणत्व धर्मानयन हुआ अर्थात् ऋकारवृत्ति सम्प्रसारणत्व का आकार में 'अचः परस्मिन्' से अतिदेश = आरोप कर 'न सम्प्रसारणे' से निषेध करने से अभ्यास के आदि वकार का 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' से सम्प्रसारण न हुआ वव्रश्च रूप की सिद्धि हुई।

विमर्श—उरत् अङ्गाधिकारीय है, अतः अङ्ग संज्ञा की अपेक्षा करता है अङ्ग का यहाँ सम्बन्ध है, अङ्ग संज्ञा विधायक सूत्र है 'यस्मात् प्रत्ययविधिः' वह प्रत्ययनिमित्तक अङ्गसंज्ञा करता है अतः अङ्ग से प्रत्यय का उरत् में आक्षेप होता है। अर्थापत्ति से उरत् इस प्रकार परनिमित्तक हुआ, अतः अचः परस्मिन् की प्रवृत्ति हुई। अन्यथा न होती। यही अङ्ग संज्ञा में 'प्रत्यये' का फल है वहाँ भी लिखा है 'प्रत्यये किम् वव्रश्च'। अर्थापत्ति से आक्षिप्तार्थ का शाब्दबोध में मान होता है, उपपाद्य ज्ञान से उपपादक के ज्ञान को अर्थापत्ति कहते हैं। अर्थस्य = आक्षिप्तार्थस्य कल्पना यह शब्दवाच्य अर्थ उसका है।

२२४६ कुहोश्चुः।

अभ्यासकवर्गहकारयोश्चवर्गादेशः स्यात्। एधाञ्चक्रे। एधांचक्रे। एधांचक्राते। एधाञ्चक्राते। एधाञ्चक्रिरे। एधांचक्रिरे।

अभ्यास संज्ञक जो शब्द स्वरूप उसका अवयव जो कवर्ग एवं हकार उसको चवर्गादेश होता है। 'एधाम् कृ ए' यहाँ द्वित्व से 'कृ कृ' उरत से कर् कृ कृ वृत्ति अभ्यासत्व स्थानिवद्भाव से कर् में है रेफ की निवृत्ति एधाम् क कृ अ क को चकार यण् एधाम् चक्रे यहाँ 'आमः' से लिट् के लकार का जो लोप है उसका प्रत्ययलक्षण करना, लकार की 'कृदतिङ्' से कृत् संज्ञा है एधाम् कृदन्त तदादि हुआ, अतः कृत्तद्धित से प्रतिपादिक संज्ञा 'एधाम्' की हुई। प्रातिपादिकत्व प्रयुक्त संख्या कर्तृत्वादि अभाव होने पर भी "एकवचनमुत्सर्गतः करिष्ये" इस भाष्यप्रामाण्य से एधाम् से उत्तर प्रथमैकवचन का सुप्रत्यय आया, उसका अव्ययत्व प्रयुक्त लुक् है, एधाम् की अव्ययसंज्ञा मान्त है कृदन्तत्व ज्ञान प्रत्यय

लक्षण से है। मान्त कृदन्त की 'कृन्मेजन्तः' से अव्यय संज्ञा है। यहाँ प्रत्ययलक्षण से 'एधाम्' सुबन्ततदादि है, 'सुप्तिङन्तं पदम्' से पदसंज्ञा कर 'मोऽनुस्वारः' से मकार का अनुस्वार कर 'वा पदान्तस्य' से विकल्प परसवर्ण से अनुस्वार के ञकारघटित एक रूप। पक्ष में परसवर्णाभाव प्रयुक्त अनुस्वार घटित अन्य रूप से दो रूप हुए। मूल में किसी ग्रन्थ में केवल अनुस्वार वाला ही रूप लिखा है। किसी पुस्तक में केवल परसवर्ण वाला ही रूप लिखा है। किन्तु वास्तविक दो रूप लिखना ही उचित है। यहाँ का भाष्य ग्रन्थ इस प्रकार है—"लुकारः कृत् तदाश्रयिका प्रातिपदिक संज्ञा एवं तर्हि विभक्त्युत्पत्तिः, अस्तु विभक्त्युत्पत्तिः सुपः श्रवणं स्यात् न स्यात् कथम्? अव्ययत्वात् कथम् अव्ययत्वं मान्तकृदन्तत्वात्" यह भाष्याशय है। एधाञ्चक्राते आदि रूप इसी प्रकार सिद्ध करने चाहिये।

२२४७ एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ७।२।१०।

उपदेशे यो धातुरेकाच् अनुदात्तश्च ततः परस्य वलादेरार्धधातुकस्येट् न स्यात्। 'उपदेशे' इत्युभयान्वयि। एकाच इति किम्, यङ्लुग्व्यावृत्तिर्यथा स्यात्। स्मरन्ति हि—

> श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणेन च।
> यत्रैकाज्ग्रहणञ्चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि॥ १॥ इति।

एतच्चेहैवैकाज्ग्रहणेन ज्ञाप्यते। अच इत्येवैकत्वविवक्षया तद्वतो ग्रहणेन च सिद्धे एकग्रहणसामर्थ्यादनेकाच्कोपदेशो व्यावर्त्यते। तेन बधेर्हन्त्युपदेशे एकाचोऽपि न निषेधः, आदेशोपदेशेऽनेकाच्त्वात्। अनुदात्ताश्चानुपदमेव संग्रहीष्यन्ते। एधांचकृषे। एधांचक्राथे।

उपदेश अवस्था एक अच्युक्त जो धातु एवं उपदेश अवस्था में अनुदात्त जो धातु उनसे पर वलादि आर्धधातुक को इट् नहीं होता है। 'देहलीदीपक' न्याय से उपदेशे का एकाच्-धातु में एवं अनुदात्त धातु में अन्वय है। 'कर्तुम्' 'गन्तुम्' यहाँ सम्प्रति उदात्तत्व होते हुए भी उपदेशावस्था में अनुदात्त धातु होने से इट्निषेध हुआ। उपदेश का अनुदात्त में सम्बन्ध का यह फल है। 'पिपक्षति', 'बिभत्सति' यहाँ इट्निषेध रूप उपदेश का एकाच् में सम्बन्ध का फल है, यहाँ द्वित्व करने पर अनेकाच् है।

विमर्श—यहाँ एकाच्ग्रहण करने पर ही 'उपदेशे' का उसमें अन्वय करना पड़ता है, सूत्र में एकाच् ग्रहण ही नहीं करेगें। उपदेश अनुदात्तात् से ही इष्टसिद्धि होगी, क्योंकि उपदेश अवस्था के अनुदात्त सभी धातु एकाच् है, सूत्र में एकाच् ग्रहण व्यर्थ है। न च वधादेश व्यावृत्ति के लिए एकाच् ग्रहण है, तत् सामर्थ्य से उपदेशमात्र में एकाच् का ग्रहण है, अथवा वधादेश को आद्युदात्तत्वनिपातन करने से दोषाभाव है। किञ्च 'अचः' यहाँ करके विभक्तिवाच्य एकत्व की विवक्षा करके अनेकाच् धातु की व्यावृत्ति होगी। एकग्रहण सामर्थ्य से अनेकाच्धातु स्थल में प्रवृत्ति इसकी नहीं होगी, क्योंकि वह हन्रूप उपदेश को लेकर एकाच् है, एवं वधरूप उपदेश को लेकर अनेकाच् है, उपदेशत्वावच्छेदेन एकाच्त्व नहीं है। पुनः सूत्र में एकाच् ग्रहण क्यों किया, वह व्यर्थ होकर 'स्थालीपुलाक' न्याय से एकदेशानुमत्या वा इसः वचन को ज्ञापन करता है 'श्तिपा शपा' इति।

श्तिप् से निर्देश कार्य यङ्लुगन्त में नहीं होता है। यथा—स्यति हन्ति याति वाति द्राति इत्यादि—'प्रण्यजङ्घनीत्' यहाँ 'नि' के नकार को 'नेर्गद' से णकारादेश न हुआ। शपा निर्देशकार्य नहीं होता है, यथा 'इपभर' 'बिभरिषति' 'सनीवन्तर्ध' इति इट्विकल्पो न, किन्तु नित्य इट् ही हुआ, एकाच् निषेध की प्रवृत्ति न हुई। अनुबन्ध निर्देश दो प्रकार का है—स्वरूपतः—'शीङः सार्वधातुके गुणः' 'दीङो युडचि' शेशितः देधितः। आदि में तस् प्रत्यय है, अन्त में क्तप्रत्यय है। इत्संज्ञकत्व से 'अनुदात्तङित' इत्यादि। पास्पर्धीति। शेशयीति। गण से यथा—बेभिदीति, यहाँ रुधादित्वप्रयुक्त श्नम् न हुआ। एकाच् पद घटित यही सूत्र है, यथा 'बेभिदिता' यहाँ इट् निषेध न हुआ। उपपदमतिङ् सूत्रभाष्य में सर्वांश विशिष्ट यह कारिका दृष्ट है।

अनुदात्त धातुओं का निर्देश यहाँ अभी करेंगे, उससे अनुदात्त एवं उदात्त धातुओं का स्पष्ट ज्ञान होगा। वस्तुतः 'श्तिपाशपा' यह परिभाषा भाष्यमत में नहीं है यह प्राचीन सम्मत है। दत्तोदाहरणों का उपायान्तर से समाधान कर यह परिभाषा प्रत्याख्यात है। यहाँ 'अचः' का अजन्त धातु अर्थ नहीं है, अनुदात्तकारिका में हलन्त का पाठ व्यर्थ होगा। उपदेशत्वावच्छिन्नत्वेन एकाच् यह अर्थ स्वभावसिद्ध है, इसमें ज्ञापक की आवश्यकता नहीं है, तो भी ज्ञापकद्वारा इस अर्थ का दृढीकरण करते हैं।

२२४८ इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् ८।३।७८।

इण्णन्तादङ्गात्परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य मूर्द्धन्यः स्यात्। एधाञ्चकृढ्वे। एधांचक्रे। एधांचकृवहे। एधाञ्चकृमहे। एधांबभूव। अनुप्रयोगसामर्थ्य दस्तेर्भूभावो न, अन्यथा हि 'कृस्चानुप्रयुज्यत' इति कृभ्विति वा ब्रूयात्।

इण् प्रत्याहार के वर्ण हैं अन्त में जिसको ऐसा जो अङ्ग उससे पर षीध्वम् उसका अवयव धकार एवं लुङ् लिट् सम्बन्धी जो धकार उसको मूर्द्धन्यवर्ण अर्थात् ढकारादेश होता है। यथा एधाञ्चकृढ्वे। 'एधांबभूव'। अनुप्रयोगसामर्थ्य से अनुप्रयुज्यमान जो अस् उसके स्थान में 'अस्तेर्भूः' से भू आदेश न हुआ। अन्यथा 'कृस्' कहने से ही कार्यनिर्वाह होता भूग्रहण यहाँ अनुप्रयोग में व्यर्थ सा सिद्ध होगा अथवा कृ भू का ही ग्रहणार्थं 'कृभू चानुप्रयुज्येते' ऐसा सूत्र करते पृथक् अस्ग्रहण व्यर्थ हो जाता।

विमर्श—यहाँ 'इण्कोः' का अधिकार से ही इण् का लाभ होता पुनः इण् ग्रहण कवर्ग की निवृत्यर्थ है। इसका फल यह है—पक्षीध्वम्। अङ्गग्रहण न करते तो 'वेविषीध्वम्' यहाँ ढकार हो जाता जो इष्ट नहीं है। यद्यपि अर्थवान् 'षीध्वम्' के ग्रहण से कोई आपत्ति यहाँ नहीं है—यथा कृषीढ्म्। पुनः अङ्ग ग्रहण व्यर्थ होकर अर्थवत् परिभाषा अनित्य है यह ज्ञापन करता है। एतन्मूलक 'अनिनस्मन्' यह परिभाषा लब्ध है। अर्थात् अननुगत अनित्यत्व बोधन की अपेक्षा नियतस्थल में अर्थवत्परिभाषा की अप्रवृत्ति उचित है 'ब्रुवीध्वम्' यहाँ एकदेशविकृतन्यायेन षीध्वम् है। यहाँ ढकार की व्यावृत्ति के लिए षीध्वम् में षकारोच्चारण है।

२२४९ अत आदेः ७।४।७०।

अभ्यासस्यादेरतो दीर्घः स्यात्। पररूपापवादः। एधामास। एधामासतुः, इत्यादि। एधिता। एधितारौ। एधितारः। एधितासे। एधितासाथे।

अभ्यास के आदि में स्थित ह्रस्व अकार का दीर्घ होता है। यह पररूप का अपवाद है। यहाँ पररूप एकादेश का उपलक्षण है, अतः 'आनृजे' यहाँ गुण की प्राप्ति है, उसको दीर्घ ने अवरुद्ध किया। अभ्यास विकार में बाध्यबाधक भाव नहीं होता है, अतः पूर्वोपस्थित हलादिः शेष की प्रवृत्ति के बाद दीर्घादेश इससे होता है।

विमर्श—यहाँ पररूप का अपवाद दीर्घ यह कथन पूर्वापरसन्दर्भ-विरुद्ध है। तथा हि—नामधातु प्रक्रिया में अ इवाचरति 'अति' यहाँ प्रत्ययान्त से आम् बोधक प्रत्ययग्रहण न कर उसके स्थान में 'अनेकाच्' ग्रहण करना चाहिये 'कास्यनेकाच्' इति—'औ अतुः उः' यहाँ लिखा है कि द्वित्वम् 'अतो गुणे' 'अत आदेः' इससे दीर्घ। हलादिशेष के बाद दीर्घ करने पर पररूप की शङ्का ही नहीं है। अतः यह ग्रन्थ सर्वथा उपेक्ष्य है यह नव्यमत है। 'प्रत्ययग्रहणमपनीय' यह पक्ष भी एकदेशी मत है। प्रत्ययान्तात् आम्, अनेकाचः आम् दोनों पक्ष स्वतन्त्र हैं, इसका विशद विचार नामधातु में किया जायगा।

लिट् परक अस् के अनुप्रयोग में भूभाव का अभाव से एधामास, एधामासतुः, एधामासुः। लुट् में भविता की तरह एधिता। एधितारौ। एधितारः। तास् के सकारका लोप से एधितासे। एधितासाथे।

२२५० धि च।

धादौ प्रत्यये परे सलोपः स्यात्। एधिताध्वे।

प्रत्ययविशेषण-धि होने से प्राप्त तदन्तविधि को बाधकर 'यस्मिन् विधौ' परिभाषा से तदादिविधि होकर धकारादि प्रत्यय पर रहते सकार का लोप होता है। यहाँ प्रत्यय ग्रहण से 'पयो धावति' यहाँ पयस् के सकार का लोप न हुआ।

२२५१ ह एति ७।४।५२।

तासस्त्योः सस्य हः स्याद् एति परे। एधिताहे। एधितास्वहे। एधितास्महे। एधिष्यते। एधिष्येते। एधिष्यन्ते। एधिष्यसे। एधिष्येथे। एधिष्यध्वे। एधिष्ये। एधिष्यावहे। एधिष्यामहे।

विभक्ति का एकार पर रहते तास् के सकार का एवं अस् धातु के सकार को हकारादेश होता है। यथा एधिताहे। आदि। लृट् में एधिष्यते आदि।

२२५२ आमेतः ३।४।९०।

लोट् के एकारस्याम् स्यात्। एधताम्। एधेताम्। एधन्ताम्।

लोट् के एकार के स्थान में आम् आदेश होता है। यथा एधताम्।

२२५३ सवाभ्यां वामौ ३।४।९१।

सवाभ्यां परस्य लोडेतः क्रमाद् व-अम् एतौ स्तः। एधस्व। एधेथाम्। एधध्वम्।

सकार से पर लोट् के एकार के स्थान में वकार आदेश होता है, एवं वकार से पर स्थित लोट् के एकार को अम् आदेश होता है। यथा एधस्व।

२२५४ एत ऐ ३।४।९३।

लोडुत्तमस्य एत ऐ स्यात्। आमोऽपवादः, एधै। एधावहै। एधामहै।

लोट् लकार के उत्तम पुरुष सम्बन्धी एकार के स्थान में ऐ आदेश होता है यह सूत्र आम् का अपवाद है। यथा एधै। एधावहै। एधामहै।

२२५५ आडजादीनाम् ६।४।७२।

अजादीनामाट् स्यात् लुङादिषु। अटोऽपवादः। आटश्च। ऐधत। ऐधेताम्। ऐधन्त। ऐधथाः। ऐधेथाम्। ऐधध्वम्। ऐधे। ऐधावहि। ऐधामहि।

लङ्, लुङ् एवं लृङ् लकार पर रहते अच् है आदि अवयव जिनका ऐसे धातुओं को आट् आगम होता है। यह सूत्र अट् आगम का बाधक होता है। आट् का आकार एवं धातु के एकार दोनों को 'आटश्च' सूत्र से वृद्धि हुई। यथा—ऐधत आदि।

विमर्श—अजादि धातुओं को भी अट् आगम कर 'आटश्च' के स्थान में 'अटश्च' न्यास करेगें 'आण् नद्याः' वहाँ भी 'अण् नद्याः' सूत्र करेगें, 'आडजादीनाम्' सूत्र व्यर्थ है क्यों किया ?,

'ऐधत' यहाँ वृद्धिरेचि इससे वृद्धि सिद्ध है, किन्तु 'ऐन्दत' की सिद्धि न होगी एवं 'ऐधत' यहाँ वृद्धि को बाधकर पररूप होगा यह शङ्का निरस्त हुई। यहाँ अटश्च से उभयत्र पररूपादि को बाधकर वृद्धि से इष्ट प्रयोग बनेगें। अटश्च न्यास करने पर 'अस्वपोऽहसत्' यहाँ 'अटश्च' से वृद्धि होगी, क्योंकि यहाँ 'रुदश्च पञ्चभ्यः' 'अड् गार्ग्यगालवयोः' से अडागम है। एवं 'अतो रोरप्लुतात्' से रुको उकार करने पर अच् परत्व है, अतः 'अटश्च' न्यास उचित नहीं।

यह कथन भी ठीक नहीं, 'उपसर्गाद् ऋति धातौ' इससे 'धातौ' का अनुकर्ष करके 'अजादौ धातौ' यह व्याख्यान करके यहाँ उकारादेश अजादि धातु नहीं अतः 'अस्वपोऽहसत्' दोष नहीं है। 'अस्वपोऽस्ति' यहाँ दोष है यह भी कथन उचित नहीं है। यद्यपि अस्वपोऽस्ति यहाँ पूर्वान्तवद्भाव से ओकार में अट्त्व है एवं परादिवद्भाव से धातुत्व है तो भी 'आत्' की अनुवृत्ति कर अकार रूप अट् से अच् पर रहते वृद्धि होती है यह 'अटश्च' का अर्थ स्वीकार करने पर पूर्वत्र प्रदर्शित उदाहरण में दोष नहीं हैं। इस अर्थ से 'अटनम्' यहाँ दोष का निरास हुआ। 'ऐन्दत्' यहाँ अटश्च चरितार्थ है अतः 'आतत्' 'आतीत्' की सिद्धि न होगी परत्व के कारण 'अतो गुणे' वृद्धि को बाध करेगा।

यह कथन भी ठीक नहीं है, 'अटश्च' यहाँ 'अटः' एक सूत्र है, इसका पूर्वत्र वर्णित अर्थ ही है। 'च' एक विभक्त सूत्र है, सब पूर्वत्र वर्णित पदों की अनुवृत्ति से पूर्वसदृशार्थक 'च' सूत्र बाधक बाधनार्थ हैं 'आटश्चः' का बाधक जो 'अतो गुणे' उसको 'च' सूत्र बाध कर वृद्धि करेगा 'आतीत' आदि की सिद्धि होगी। 'आडजादीनाम्' सूत्र के अभाव में 'आस्ताम्' 'आसन्' की असिद्धि होगी। क्योंकि 'श्नसोः' से अकारलोप करने पर 'अटश्च' की अप्रवृत्ति है यहाँ यह कथन भी उचित नहीं है, अन्तरङ्गत्व के कारण पूर्व ही अट् आगम कर 'अटश्च' से वृद्धि होती यहाँ अकार जो धात्ववयव है उसका लोप ही अब अप्राप्त है। यहाँ व्याश्रय के कारण अन्तरङ्ग परिभाषा की बाधिका परिभाषा जो 'वार्णादाङ्गं बलीयः' इसकी प्रवृत्ति नहीं है।

अथवा वह परिभाषा अनित्य है। अनित्व में 'श्नसोरल्लोपः' सूत्रस्थ तपरग्रहण ही प्रमाण है। यदि वृद्धि के पूर्व अल्लोप होता तो तपरग्रहण का वैयर्थ्य स्पष्ट है। वैदिक प्रयोग 'आनट्' 'आवः'

यहाँ 'छन्दस्यपि दृश्यते' से आडागम वक्ष्यमाण हैं एतदर्थ आट्ग्रहण आवश्यक है यह भी कथन ठीक नहीं है, वहाँ आङ् पूर्वकत्व है, पुनः आडजादीनाम् सूत्र क्यों किया ? इसका अन्तिम समाधान केवल यही है कि सूत्र यह अनावश्यक है इसको न करना ही उचित है।

२२५६ लिङः सीयुट् ३।४।१०२।

लिङात्मनेपदस्य सीयुडागमः स्यात्। सलोपः। एधेत। एधेयाताम्।

लिङ् के स्थान में जायमान जो आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय उनको सीयुट् आगम होता है। सीयुट् के सकार का 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से लोप होता है। यथा एधेत। एधेयाताम्।

२२५७ झस्य रन् ३।४।१०५।

लिङो झस्य रन् स्यात् ऐधेरन्। एधेथाः। एधेयाथाम्। एधेध्वम्।

लिङ् के स्थान में आदेशत्वप्रयुक्त जायमान जो झ उसको रन् आदेश होता है। यथा एधेरन्। यहाँ यकार का 'लोपोव्योः' से लोप है।

२२५८ इटोऽत् ३।४।१०६।

लिङादेशस्येटोऽत् स्यात्। एधेय। एधेवहि। एधेमहि। आशीर्लिङि आर्धधातुकत्वात् लिङः सलोपो न। सीयुट्सुटोः प्रत्ययावयवत्वात् षत्वम्। एधिषीष्ट। एधिषीयास्ताम्। एधिषीरन्। एधिषीष्ठाः। एधिषीयास्थाम्। एधिषीध्वम्। एधिषीय। एधिषीवहि। एधिषीमहि। ऐधिष्ट। ऐधिषाताम्।

लिङ् के स्थान में आदेश जो इट् उसके स्थान में अत् आदेश होता है। यथा एधेय। आशीर्लिङ् में आर्धधातुकत्व के कारण सकारलोप का अभाव है। सीयुट् आगम एवं सुट् आगम के सकार प्रत्यय के अवयव है, अतः यहाँ दोनों सकरों को दो बार 'आदेशप्रत्यययोः' से षकारादेश हुआ है। यथा—'एधिषीष्ट'। लुङ् में 'आ एध् इ स् त' आटश्च वृद्धि, सकार को षकार 'ऐधिष्ट'। ऐधिषाताम्। रूप हुए।

२२५९ आत्मनेपदेष्वनतः ७।१।५।

अनकारात् परस्यात्मनेपदेषु झस्य अत् इत्यादेशः स्यात्। ऐधिषत। ऐधिष्ठाः। ऐधिषाथाम्। इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात्, ऐधिढ्वम्। "इड् भिन्न इव इणिह गृह्यते" इति मते तु ऐधिध्वम्। ढधयोर्वस्य मस्य च द्वित्वविकल्पात् षोडशरूपाणि। ऐधिषि। ऐधिष्वहि। ऐधिष्महि। ऐधिष्यत। ऐधिष्येताम्। ऐधिष्यन्त। ऐधिष्यथाः। ऐधिष्येथाम्। ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्ये। ऐधिष्यावहि। ऐधिष्यामहि। उदात्तत्वाद् वलादेरिट्। प्रसङ्गादनुदात्ताः संगृह्यन्ते।

अकारभिन्न स्वर से पर स्थित आत्मनेपदसंज्ञक झकार को अत् आदेश होता है यथा—ऐधिषत। मध्यम पुरुष के बहुवचन में ध्वम् के धकार को 'इणः' सूत्र से ढकारादेश हुआ है। ऐधिढ्वम्। 'विभाषेटः' सूत्र में इट् आगम के इकार भिन्न इण् का ग्रहण है। अतः अर्थाधिकार के

अनुरोध से 'इण्' सूत्र में भी इट्भिन्न इण् का ग्रहण है—इस पक्ष में यहाँ इट् आगम भिन्न इण् नहीं अतः ढत्व नहीं होगा तब 'एधिध्वम्' हुआ। अर्थाधिकार में लाघव है—एक शक्ति, एकार्थ की उपस्थिति, एवं एकार्थ बोध होता है। शब्दाधिकार में भिन्न शक्ति पूर्वत्र, परत्र भिन्न शक्ति, भिन्नोपस्थिति, एवं भिन्न शाब्दबोध इस प्रकार त्रिविध गौरव है, एवं "न हि सर्पन्ती गोधा अहिर्भवति" यह भी है। अतः प्रबल प्रमाणाभाव में सर्वत्र अर्थाधिकार है, तथा च प्रकृत में पूर्वत्र, उत्तरत्र इट् भिन्न ही इण् का ग्रहण उत्तर सूत्रानुरोध से हुआ यह पक्ष उचित भी है। यहाँ ढकार, धकार, वकार, मकार के द्वित्व विकल्प से सोलह रूप हुए। 'ऐधिष्यत' यहाँ एध् धातु उदात्त है अत वलादिलक्षण इट् का आगम हुआ है।

अजन्त धातु उदात्त अर्थात् सेट्वाले थोड़े से हैं। एवं अनुदात्त अजन्तधातु अधिक हैं, अतः वक्ष्यमाण कारिका में उदात्त अजन्त धातुओं का प्रदर्शन किया है। कारिका में वर्णित धातु उदात्त है अतः इनको वलादि लक्षण इट् का आगम अवश्य होता है।

एवं हलन्त अनुदात्त स्वरूप है एवं हलन्त धातु उदात्त अधिक है अतः पूर्वोक्त क्रम से भिन्न क्रम का यहाँ अवलम्बन है अर्थात् यहाँ वर्णित हलन्त धातुओं को इट् का आगम नहीं होता है वे अनुदात्त हैं। यहाँ अनुक्त हलन्त धातु उदात्त है उनका इट् आगम वलादि आर्धधातुक में होता है।

"ऊदॄदन्तैर्यौति, रु, क्ष्णु, शीङ्, स्नु, नु, क्षु, श्वि, डीङ्, श्रिभिः।
वृङ्, वृञ्भ्याञ्च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः" ॥ १ ॥

दीर्घ ऊकारान्त, दीर्घ ॠकारान्त से भिन्न जो धातु, एवं यु, रु, क्ष्णु, शीङ्, स्नु, नु, क्षु, श्वि, डीङ्, श्रि इनसे भिन्न धातु, तथा वृङ् एवं वृञ् इनसे भिन्न जो धातु वे अजन्त धातु अनुदात्त है। कारिका में वर्णित उदात्त हैं, इनसे भिन्न अनुदात्त कथन से ॥ १ ॥

हलन्त धातुओं में अनुदात्त धातुओं का निर्देश करते हैं।

शक्लृ-पच्-मुच्-रिच्-वच्-विच्-सिच्-प्रच्छि-त्यज्-निजिर्-भजः।
भञ्ज्-भुज्-भ्रस्ज्-मस्जि-यज्-युज्-रुज्-रञ्ज्-विजिर्-स्वञ्जि-सञ्ज्-सृजः॥२॥

लृकारेत्संज्ञक ककारान्त केवल शक् से लेकर १०२ धातु अनुदात्त हैं उनका परिगणन ११ कारिकाओं से ग्रन्थकार करते हैं। यथा

समर्थ होना इस अर्थ वाला केवल ककारान्त शक् धातु १ अनुदात्त है। चकारान्त ६ धातु अनुदात्त हैं। पच् = विक्लित्ति जनक व्यापारार्थक है। मुच् का = छोड़ना अर्थ है। रिच् एवं रेच् का दस्त कराना अर्थ है। वच् = का बोलना अर्थ है। विच् = का अलग करना अर्थ है। सिच् = का सिञ्चन करना = छिडकना अर्थ है।

छकारान्त केवल १ प्रच्छ धातु अनुदात्त है। प्रच्छ् = पूछना। जकारान्त १५ अनुदात्त हैं। त्यज् = त्यागना। निज् = शुद्ध करना। भज् = सेवा करना। भन्ज् = तोड़ना। भुज् = भोग करना। भ्रस्ज् = भुनना। मस्ज् = डूबना। यज् = यज्ञ करना। युज् = जोड़ना। रुज् = रुग्ण होना। रञ्ज् = रंगना। विजिर् = अलग करना। स्वञ्ज् = गले लगना। सञ्ज् = मिलना। सृज् = त्याग करना ॥ २ ॥

(३) अद्-क्षुद्-खिद्-छिद्-तुदि-नुदः-पद्य-भि-विद्यति-विनद्।
शद्-सदी-स्विद्यति-स्कन्दि-हदी-क्रुध्-क्षुधि-क्षुध्यती ॥ ३ ॥

दकारान्त १६ धातु अनुदात्त हैं। अद्-भोजन करना। क्षुद् = कूटना। खिद् = दुःखी होना। छिद् = काटना। तुद् = दुःख देना। नुद् = प्रेरणा करना। पद्य से पद् धातु दिवादिगण का है। पद् = जानना। भिद् = तोडना। विद्य (दिवादिगण का) विद् = होना। विनद् रुधादिगण का है। विद् = विचरना। शद् = मुरझाना। सद् = जानना। दिवादिगण का स्विद्य है। स्विद् = पसीजना। स्कन्द = जाना सुखना, सुखाना, हद् = मल त्याग करना।

धकारान्त ११ अनुदात्त हैं। क्रुध् = क्रोध करना। क्षुध् भूख से युक्त होना। बुध्य दिवादिगण पठित है, बुध् = जानना। ३ तीसरी कारिका का अर्थ समाप्त हुआ।

(४) बन्धि-र्युधि-रुधि-राधि-व्यध्-शुधः साधि-सिध्यती।
मन्य-हन्नाप्-क्षिप्-छुपि-तप्-तिप्-स्तृप्यति-दृप्यती ॥ ४ ॥

बन्ध् = बाँधना। युध् = लड़ना। रुध् रोकना = घेरना। राध् = सिद्ध करना। व्यध् = ताडन करना या वेधना। शुध् = स्वच्छ होना। साध् = सिद्ध करना। सिध दिवादिगण का है, सिध् = पूर्ण होना।

नकारान्त दो अनुदात्त हैं। मन्य दिवादिका मन् = मानना हन् = मारना।

पकारान्त १३ अनुदात्त हैं। आप् = प्राप्त करना। क्षिप् = फेंकना। छिप् = छूना। तप् = तपना। तिप् = चूना। तृप्य दिवादि है, तृप् = तृप्त होना। परितुष्ट करना। दिवादि है दृप् = अभिमानी होना ॥ ४ ॥

(५) लिप्-लुप्-वप्-शप्-स्वप्-सृपि-यभ्-रभ्-लभ्-गम्-नम्-यमो रमिः।
क्रुशि-र्दंशि-दिशी-दृश्-मृश्-रिश्-रुश्-लिश्-विश्-स्पृशः कृषिः ॥५॥

लिप् = लीपना। लुप् = छेदन करना। वप् = बोना। शप् = शाप देना या शपथ करना। स्वप् = शयन करना। सृप् = रंगना। भकारान्त ३ अनुदात्त है। यभ् = मैथुन करना। रभ् = शीघ्रता करना। लभ् = प्राप्त करना। मकारान्त चार अनुदात्त हैं। गम् = जाना। नम् = नमस्कार करना। यम्—निवृत्त होना। रम् = क्रीडा करना। शकारान्त १० अनुदात्त हैं। क्रुश् = तारस्वर से रोना। दंश् = डसना = काटना। दिश् = दान करना। दृश् = देखना। मृश् = स्पर्श करना। रुश् रिश् = हंसी करना। लिश् = घटना। विश् = प्रवेश करना। स्पृश् = छूना। षकारान्त अनुदात्त ११ हैं। कृष् = आकर्षण करना।

त्विष्-तुष्-द्विष्-दुष्-पुष्य पिष्-विष्-शिष्-शुष्-लिष्यतयो घसिः।
वसतिर्दह्-दिहि-दुहो-नह्-मिह्-रुह्-लिह्-वहिस्तथा ॥ ६ ॥

त्विष्=चमकना। तुष् = तृप्त होना। द्विष् = द्वेष करना। दुष् = बिगड़ना। दिवादि पुष्य है। पुष्=पुष्ट करना। पिष् = पीसना। विष् व्याप्त करना। शिष् = अवशिष्ट कार्य करना। शुष् = सुखाना। लिष्-आलिङ्गन करना। सकारान्त २ अनुदात्त हैं, घस् = खाना। वस् = वास करना। हकारन्त अनुदात्त ८ है। दह्=जलाना। दिह्=लीपना। दुह्=दुहना। नह्=बांधना। मिह्=सींचना। रुह्=जमना। लिह्=चाटना। वह्=लेजाना।

(७) अनुदात्ता हलन्तेषु धातवो द्व्यधिकं शतम्।
तुदादौ मतभेदेन स्थितौ यौ च चुरादिषु ॥ ७ ॥

(८) तृप् दृपी तौ वारयितुं श्यना निर्देश आदृतः।

किञ्च—

स्विद्य-पद्यौ सिध्य-बुध्यौ मन्य-पुष्य-श्लिषः श्यना ॥ ८ ॥

(९) वसिः शपा लुका यौतिर्निर्दिष्टोऽन्यनिवृत्तये।
निजिर-विजिर्-शक्लृ इति सानुबन्धा अमी तथा ॥ ९ ॥

(१०) विन्दतिश्चान्द्रदौर्गादेरिष्टो भाष्येऽपि दृश्यते।
व्याघ्रभूत्यादयस्त्वेनं नेह पेठुरिति स्थितम् ॥ १० ॥

(११) रञ्जि-मस्जी - अदि - पदी तुद्-क्षुध्-पुषी-शिषिः।
भाष्यानुक्ता न वेहोक्ता व्याघ्रभूत्यादिसम्मतेः ॥ ११ ॥

मतभेद प्रयुक्त तुदादिगण एवं चुरादिगण में पठित तृप् एवं दृप् इनको अनुदात्तत्व वारणार्थ उनके उत्तर श्यन् निर्देश किया गया है। यथा—तृप्यति, दृप्यति। इससे सिद्ध हुआ कि दिवादिगण पठित वे दोनों धातु अनुदात्त हैं, अन्य गणपठित वे उदात्त हैं।

किञ्च = अन्य भी दिखाते हैं—खिद्-पद्-सिध्-बुध्-मन्-पुष्-लिष् इन धातुओं के जो अन्य गणों में पठित हैं उनको अनुदात्त की व्यावृत्ति के लिए इनमें श्यन् निर्देश कर यह सिद्ध किया कि दिवादिगण पठित पूर्वोक्त ही अनुदात्त हैं। अन्य नहीं। शब् विकरणयुक्त वस् धातु अनुदात्त है। लुक् विकरणक युधातु अनुदात्त है। अनुबन्धयुक्त निजिर विजिर शक्लृ यह तीन अनुदात्त धातु है। विद् धातु भी अनुदात्त हैं यह चान्द्र एवं दौर्गादि को इष्ट है, भाष्यकार को भी वह अनुदात्त इष्ट है। किन्तु व्याघ्रभूति आदि आचार्यों को विद् अनुदात्त है वह इष्ट नहीं है अर्थात् इनके मत में उदात्त ही है। रज्ज्, मस्ज्, अद्, पद्, तुद्, क्षुध्, शुष्, पुष्, शिष् यह नव धातु व्याघ्रभूत्यादि मत में अनुदात्त हैं। एवं भाष्यकार के मत में पूर्वोक्त नव धातुओं का अनुदात्तों के परिगणन में पाठ नहीं है। अर्थात् वे नव उदात्त हैं।

स्पर्ध संघर्षे। संघर्षः = पराभिभवेच्छा। धात्वर्थोपसंग्रहादकर्मकः। स्पर्धते। स्पर्ध धातु का अर्थ संघर्ष है। अन्यजन को परास्त करने की जो इच्छा उसका जनक व्यापार यह धात्वर्थ है। यहाँ स्पर्धा पूर्वक आह्वानार्थ शब्दजनक व्यापारार्थक धातु है। यहाँ देवदत्तो यज्ञदत्तं स्पर्धते यह भी प्रयोग होता है। यहाँ सकर्मक स्पर्ध है। सकर्मक भी धात्वर्थोपसंग्रह से अकर्मक होता है—फल व्यापार दोनों का एक अधिकरण विवक्षा से। सकर्मक में फलतावच्छेदक सम्बन्ध = स्वप्रयोज्य ज्ञानाश्रयत्व है।

२२६० शर्पूर्वाः खयः ७।४।६१।

अभ्यासस्य शर्पूर्वाः खयः शिष्यन्ते। 'हलादिशेषः' इत्यस्यापवादः। पस्पर्धे। स्पर्धिता।

स्पर्धिष्यते। स्पर्धताम्। अस्पर्धत। स्पर्धेत। स्पर्धिषीष्ट। अस्पर्धिष्ट। अस्पर्धिष्यत।

अभ्यास सम्बन्धी शर्पूर्वक खय् प्रत्याहार का बोध्य वर्ण ही शेष रहता है, अन्य का लोप होता है। यह सूत्र 'हलादिशेषः' का बाधक है। अर्थात् इसके विषय में 'हलादिशेषः' की अप्रवृत्ति है।

गाधृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च । गाधते । जगाधे । बाधृ लोडने । लोडनम्= प्रतिघातः । बाधते । नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु ।॥ आशिषि नाथ इति वाच्यम्॥ । अस्याशिष्येवात्मनेपदं स्यात् । नाथते । दध धारणे । दधते ।

गाधृ धातु का अर्थ प्रतिष्ठा = कीर्ति प्राप्त करने का उद्योग अर्थ है। एवं लाभविषयक प्राप्ति की इच्छा जनक व्यापार अर्थ है। एवं ग्रन्थजनक व्यापार अर्थ है। बाध धातु का अर्थ प्रतिघात जनक व्यापार है। नाधृ नाधृ का अर्थ याचनाजनक व्यापार, उपताप = दुःखजनक व्यापार, ऐश्वर्य प्राप्ति जनक व्यापार। एवं शुभाशंसन जनक व्यापार अर्थ है। नाथ धातु से पर जो लकार उसके स्थान में आशीर्वाद अर्थ में ही आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय आदेश होते हैं। अन्यथा नहीं। नाथते । दध धातु का अर्थ है धारण जनक व्यापार । दधते ।

२२६१ अत एक हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ६।४।१२०।

लिण्निमित्तादेशादिकं न भवति यदङ्गं तदवयवस्यासंयुक्तहल्मध्यस्थस्याकारस्य एकारः स्याद् अभ्यासलोपश्च किति लिटि ।

कित् लिट् पर रहते लिट्निमित्तक आदेशादि कार्य न हुआ हो ऐसा जो अङ्ग उसका अवयव असंयुक्त एक हल् के मध्य में स्थित अकार के स्थान में एकार होता है, एवं अभ्यास का लोप भी होता है। यह सूत्र एत्व एवं अभ्यास का लोप करता है। एतावता इसको एत्वाभ्यास लोपविधायक कहा जाता है।

२२६२ थलि च सेटि ६।४।१२१।

प्रागुक्तं स्यात् । आदेशश्चेह वैरूप्यसम्पादक एवाश्रीयते, शसिदद्योः प्रतिषेध-वचनाद् ज्ञापकात् । तेन प्रकृतिजश्चरां तेषु सत्स्वपि एत्वाभ्यास-लोपौ स्त एव । देधे । देधाते । देधिरे । अतः किम् , दिदिवतुः । तपरः किम् , ररासे । एकेत्यादि किम् , तत्सरतुः । अनादेशादेः किम् , चकणतुः । लिट आदेशविशेषणादिह स्यादेव । नेमिथ । सेहे । स्कुदि आप्रवणे । आप्रवणम्= उत्प्लवनम् , उद्धरणञ्च ।

सेट् थल् पर रहते लिङ् निमित्तक आदेशादि कार्य न हुआ हो ऐसा जो अङ्ग उसका अवयव असंयुक्त एक हल् के मध्यमें स्थित अकार के स्थान में एकार होता है एवं अभ्यास का लोप होता है।

यहाँ आदेशपद से विभिन्न रूप का सम्पादक आदेश का ही ग्रहण होता है, स्वरूप सम्पादक का नहीं। इसमें प्रमाण है—एत्वाभ्यास लोप निषेधक सूत्र में शस् एवं दद् ग्रहण है, यदि स्वरूप सम्पादक आदेश का ग्रहण करते तो दद् एवं शस् यहाँ प्रकृति जस् एवं प्रकृति चर् का आदेश होने पर भी एत्वाभ्यास लोप होगा। यथा— देधे । दिदिवतुः। यहाँ अकार नहीं अतः एत्वाभ्यास लोप न हुआ। 'ररासे' यहाँ ह्रस्वाकार नहीं है अतः एत्वाभ्यासलोप न हुआ। एक हल् मध्यस्थ कहने से 'तत्सरतुः' यहाँ कार्य न हुआ।

लिट् निमित्तक वैरूप्य सम्पादक आदेश होने से 'चकणतुः' यहाँ एत्वाभ्यासलोप न हुआ। लिट् का आदेश विशेषण के कारण 'नेमिथ' 'सेहे' यहाँ णकार को नकारादेश एवं षकार को सकारादेश हुआ है। किन्तु वे दोनों लिट्निमित्तक आदेश नहीं है अतः उभयत्र एत्वाभ्यास लोप हुआ।

स्कुदि धातु का अर्थ आप्रवण = उत्प्लवन एवं उद्धरण अर्थ है। यहाँ इकार की इत्संज्ञा लोप है।

२२६३ इदितो नुम् धातोः ७।१।५८।

स्कुन्दते। चुस्कुन्दे। श्विदि श्वैत्ये। अकर्मकः। श्विन्दते। शिश्विन्दे ११। वदि अभिवादनस्तुत्योः। वदन्ते। ११। भदि कल्याणे सुखे च भन्दते। बभन्दे। १२। मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु। मन्दते। ममन्दे। १३। स्पदि किञ्चिच्चलने। स्पन्दते। पस्पन्दे। क्लिदि परिदेवने। शोके इत्यर्थः। सकर्मकः। क्लिन्दते चैलम्। चिक्लिन्दे। १५। मुद हर्षे। मोदते १६। दद दाने ददते।

ह्रस्व इकार अन्त में इत् संज्ञक है जिसका ऐसा धातु को नुम् आगम होता है। स्कुद् धातु इदित् है नुम् 'मिदचोऽन्त्यात् परः' से अन्त्याच् से पर धातु का अवयव हुआ, स्कुन्दते। अकर्मक श्वैत्य = श्वेततागुण जनक व्यापारार्थक श्विदि धातु है। इदित्वात् नुम्, श्विन्दते। वदि धातु अभिवादन एवं उत्कर्षगुण बोधक स्तुत्यर्थक हैं। वन्दते। ववन्दे। वन्दिता। वन्दिष्यते। वन्दताम्। अवन्दत। वन्देत। वन्दिषीष्ट। अवन्दिष्यत। भदिधातु कल्याण एवं सुखजनक व्यापारार्थ है। भन्दते। बभन्दे। मदिधातु स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, इच्छा एवं गति अर्थ में है। मन्दते, ममन्दे। अमन्दिष्ट। स्पदि धातु ईषत् चलन में है। स्पन्दते। 'शर्पूर्वाः खयः' से पस्पन्दे। क्लिदि परिदेवने = शोक अर्थ में है। यह धातु सकर्मक है। 'मैत्रः चैत्रं क्लिन्दते' चिक्लिन्दे। अक्लिन्दिष्ट। मुदधातु हर्षजनक व्यापारार्थक है। मोदते। ददधातु दानार्थक है। स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पत्त्यनुकूलो व्यापारो दानम्। जिस वस्तु पर अपना स्वामित्व हैं उसकी निवृत्ति कर उस वस्तु पर प्रतिग्रहीता का स्वामित्व उत्पन्न कराने के व्यापार को दान कहते हैं। ददते। लिट् में विशेष कार्य है।

२२६४ न शसददवादिगुणानाम् ६।४।१२६।

शसेर्ददेर्वकारादीनां गुणशब्देन भावितस्य च योऽकारस्तस्य एत्वाभ्यासलोपौ न। ददते। ददाते। ददिरे। १७। ष्वद स्वर्द आस्वादने। अयमनुभवे सकर्मकः। रुचावकर्मकः।

शस् धातु, दद् धातु, वकारादि धातु, एवं गुण शब्द से उत्पन्न होने वाला जो अकार उसके स्थान में एकार एवं अभ्यास का लोप नहीं होता है। 'ददते' यहाँ एत्वाभ्यास लोप न हुआ। ष्वद् एवं स्वर्द आस्वादन अर्थ में है। अनुभवार्थ में सकर्मक एवं रुचि अर्थ में अकर्मक है।

२२६५ धात्वादेः षः सः ६।१।६४।

धातोरादेः षस्य सः स्यात्। सात्पदाद्योरिति षत्वनिषेधः। अनुस्वदते। सस्वदे। १८। स्वर्दते। सस्वर्दे। १९। उर्द माने क्रीडायाञ्च।

धातु के आदि में स्थित धात्ववयव षकार को सकारादेश होता है। स्वदसे। 'अनुस्वदते' यहाँ षकारादेश न हुआ, 'सात्पदाद्योः' से उसका निषेध है। उर्द धातु मानार्थक एवं क्रीडार्थक है।

२२६६ उपधायाञ्च ८।२।७८।

धातोरुपधाभूतयो रेफवकारयोर्हल्परयोः परत इको दीर्घः स्यात्। ऊर्दते। ऊर्दाञ्चक्रे। २०। कुर्द खुर्द गुर्द गुद् क्रीडायामेव। कूर्दते। चुकूर्दे। २१। खूर्दते। २२। गूर्दते। २३। गोदते। जुगुदे। २४। षूद क्षरणे। सूदते। सुषूदे।

"सेक्-सृप्-सृ-स्तृ-सृज्-स्तृ-स्त्याऽन्ये दन्त्याजन्तसादयः।
एकाच्, षोपदेशाः ष्वष्क्-स्विद्-स्वद्-स्वञ्ज्-स्वप्-स्मिङः"॥

दन्त्यः केवलदन्त्यो न तु दन्तोष्ठजोऽपि ष्वष्कादीनां पृथग्ग्रहणाज्ज्ञापकात्। २५।

हल् है परमें जिनको ऐसा जो रेफ या वकार उससे पूर्व धातु के उपधासंज्ञक जो इक् उसको दीर्घ होता है। ऊर्दते। 'इजादेश्च गुरुमतः' से लिट् में आम् लिट्परक कृञ् का अनुप्रयोग द्वित्वादिकार्य से ऊर्दाञ्चक्रे। कुर्द खुर्द गुर्द एवं गुद धातु क्रीडार्थक है। उपधादीर्घ कूर्दते आदि। षूदधातु क्षरणार्थक है, आदिषकार का सकारादेश हुआ सूदते। 'सुषूदे' यहाँ अभ्यासोत्तर सकार का 'आदेशप्रत्यययोः' से षकारादेश हुआ है।

कारिका में पठित सेक्, सृप्, सृ, स्तृ, सृज्, स्तृ, स्त्यै, इनसे अन्य दन्त्य अजन्त सकारादि एकाच् धातु, ष्वष्क, स्विद्, स्वद्, स्वञ्, स्वप्, स्मिङ् वे भी षोपदेश है। दन्त्य से केवल दन्त्य धातु लेना। दन्त्योष्ठ धातु का ग्रहण न करना, क्योंकि कारिका में ष्वष्कादिका पृथक् ग्रहण किया है अतः।

विमर्श—दन्ते भवः दन्त्यः दन्तसमीप स्थान से उच्चरित वर्ण को दन्त्य कहते हैं। दन्त्यश्च अच्च इति दन्त्याचौ, तौ अन्तौ = अव्यवहितपरौ यस्य स दन्त्याजन्तः। दन्त्याजन्तश्चासौ सश्च दन्त्याजन्तसः, स आदिर्येषां धातूनां ते दन्त्यान्तसादयोऽजन्तसादयश्चैकाचः षोपदेशाः बोध्याः।

ह्लाद अव्यक्ते शब्दे। ह्लादते। जह्लादे। २६। ह्लादी सुखे च। चादव्यक्ते शब्दे। ह्लादते। २७। स्वाद आस्वादने। स्वादते। २८। पर्द कुत्सिते शब्दे। गुदरवे इत्यर्थः। पर्दते। २९। यती प्रयत्ने। यतते। येते। ३०। युतृ जुतृ भासने। योतते। युयुते। ३१। जोतते। जुजुते। ३२। विथृ वेथृ याचने। विविथे। ३३। विवेथे। ३४। श्रथि शैथिल्ये। श्रन्थते। ३५। ग्रथि कौटिल्ये। ग्रन्थते। ३६। कत्थ श्लाघायाम्। कत्थते। ३७। एधादयोऽनुदात्तेतो गताः।

ह्लाद् धातु अस्पष्ट शब्दार्थक है। ह्लादी धातु अव्यक्तशब्दार्थक एवं सुख में है। स्वाद धातु आस्वादन अर्थ में है। पर्द निन्दित शब्दार्थक है, मलनिर्मोक स्थान से निस्सृत शब्दार्थक है। यती धातु प्रयत्नार्थक है। युतृ जुतृ धातु दीप्त्यर्थक है। विथृ, वेथृ, याच्ञार्थक है। श्रथि में इकार की इत् संज्ञा नुम् अर्थ है शिथिलताजनक व्यापार। ग्रथि का कुटिलताजनक व्यापार अर्थ है। कत्थ धातु का प्रशंसाजनक व्यापार है अर्थात् श्लाघार्थक है। एध् धातु से प्रारम्भ कर अनुदात्त इत्संज्ञक ३७ धातु कहे गये हैं।

अथाष्टात्रिंशत् तवर्गीयान्ताः परस्मैपदिनः ।

अत सातत्यगमने । अतति । अत आदेः । आत । आततुः । आतुः । लुङि आतिस् ई इति स्थिते ।

अब तवर्गान्त अड़तीस धातु परस्मैपद कहते हैं ।

अत धातु निरन्तर गमन में है । अतति = गच्छति निरन्तरम् । आत । आततुः । आतुः । लुङ् में आतिस् ई यह स्थिति में अत आदे से लिट् में अभ्यास का दीर्घ हुआ ।

२२६७ इट ईटि ८।२।२८।

इटः परस्य सस्य लोपः स्यादीटि परे ॐसिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यःॐ। आतीत् । आतिष्टाम् । आतिषुः ।

इट् से पर सिच् के सकार का लोप होता है ईट् पर में रहते। एकादेश करने में सिच् का सकार लोप सिद्ध रहता है । अर्थात् असिद्ध नहीं होता है । वह असिद्ध नहीं तो तत्कृत काल का भी व्यवधान नहीं अतः संहिता संज्ञा से दीर्घ होता है। आ अत् इ स् ईत् का आतीत् रूप बना ।

२२६८ वदव्रजहलन्तस्याचः ७।२।३।

वदेर्व्रजेर्हलन्तस्य चाङ्गस्याचः स्थाने वृद्धिः, स्यात् सिचि परस्मैपदेषु इति प्राप्ते ।

परस्मैपद संज्ञक प्रत्यय है परमें जिसको ऐसा सिच् परमें रहते वद्, व्रज् एवं हलन्त अङ्ग उसका जो अच् उसके स्थान में वृद्धि होती है ।

विमर्श—सूत्र में हलन्त धातु रूप अङ्ग व्रज् एवं वद् है ही पुनः, वद् व्रज् ग्रहण क्यों किया ? वह हलन्त लक्षण वृद्धि के बाधक का बाध करने के लिए है। 'अवादीत्' 'अव्राजीत्' यहाँ निषेधक सूत्र 'नेटि' नहीं लगता है वद व्रज् ग्रहण सामर्थ्य से। मा भवान् अतीत् यहाँ हलन्त लक्षण प्राप्त वृद्धि के निषेधार्थ वक्ष्यमाण वचन है ।

२२६९ नेटि ७।२।४।

इडादौ सिचि प्रागुक्तं न स्यात् । मा भवान् अतीत् । अतीष्टाम् । अतिषुः । १ ।

इट् है आदि में जिसको ऐसे सिच् पर रहते 'वद व्रज्' सूत्र से हलन्त लक्षणा वृद्धि नहीं होती हैं । अतीत् हुआ । माङ् योग में आतीत् न हुआ ।

चिती संज्ञाने । चेतति । चिचेत । अचेतीत । अचेतिष्टाम् । अचेतिषुः । २ । च्युतिर् आसेचने । सेचनम् = आर्द्रीकरणम् । आङ् ईषदर्थे, अभिव्याप्तौ च । ॐ इर इत्संज्ञा वाच्या ॐ । च्योतति । चुच्योत ।

चिती धातु सम्यक् ज्ञान में है। च्युतिर् धातु का अर्थ है आसेचन = आर्द्रीकरण है । आङ् शब्द है ईषदर्थ में एवं अभिव्यक्ति में है । धातु में इर् की इत्संज्ञा होती है च्योतति । चुच्योत ।

२२७० इरितो वा ३।१।५७।

इरितो धातोश्च्लेरङ् वा स्यात् परस्मैपदे परे। अच्युतत्। अच्योतीत्।३। श्च्युतिर् क्षरणे। श्च्योतति। चुश्च्योत। अश्च्युतत्। अश्च्योतीत्। यकार-रहितोऽप्ययम्। श्चोतति। मन्थ विलोडने। विलोडनम् = प्रतिघातः। मन्थति। ममन्थ। यासुटः किदाशिषीति कित्त्वादनिदितामिति नलोपः। मथ्यात्।५। कुथि पुथि लुथि मथि हिंसासंक्लेदनयोः। इदित्वान्नलोपो न। कुन्थ्यात्। मन्थ्यात्।६। षिध् गत्याम्। सेधति। सिषेध। सेधिता। असेधीत्। 'सात् पदाद्योः' इति निषेधे प्राप्ते।

इर् की इत्संज्ञायुक्त धातु से पर स्थित जो च्लि उसको अङ् आदेश विकल्प से होता है, परस्मैपद संज्ञक प्रत्यय पर में रहते। अङ् पक्ष में अच्युतत्। अङ् के अभाव पक्ष में नेटि से वृद्धि का निषेध लघूपधगुण सकार लोप दीर्घ अच्योतीत्। श्च्युतिर् धातु क्षरणार्थ है। यकार रहित भी पाठ है। मन्थ धातु का प्रतिघात अर्थ है। अन्तःस्थित वस्तु के सारभूत पदार्थ को बहिः निःसरणार्थ जो मन्थन व्यापार उसमें इसका प्रयोग होता है–स क्षीर-निधिं ममन्थ। इसके आशीर्लिङ् में 'किदाशिषि' सूत्र से यासुट् कित् होने से 'अनिदिताम्' से नकार लोप 'मथ्यात्' हुआ। षिधधातु संयोगजनक व्यापारार्थक है, आदि षकार का सकार शप् निमित्तक लघूपध गुण। लट् में सेधति, लिट् में सिषेध।

कुथादि में अनिदत् नहीं नलोपाभाव कुन्थ्यात् है।

असिध् इस् ईट् यहाँ हलन्त लक्षण वृद्धि का 'नेटि' से निषेध गुण सलोप दीर्घ असेधीत्। 'आदेशप्रत्यययोः' से प्राप्त षत्व का 'सात्' सूत्र से 'निसेधति' यहाँ षकाराभाव प्राप्त है वहाँ षकारादेश के लिए वक्ष्यमाण सूत्र है।

२२७१ उपसर्गात् सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् ८।३।६५।

उपसर्गस्थान्निमित्तादेषां सस्य षः स्यात्।

उपसर्गस्थ निमित्त से पर स्थित सु, सू, सो, स्तु, स्तुभ्, स्था, सेनय, सेध्, सिच्, सञ्ज, स्वञ्ज इन धातुओं के सकार को षकार होता है।

विमर्श—इस सूत्र से ण्यन्त में भी षकारादेश होता है—'अभिषावयति' शब्द शक्ति स्वभाव से उपसर्गार्थ का भी प्रकृत्यर्थ में ही यहाँ अन्वय है। स्तिपा निर्देश यहाँ यङ् लुक् में व्यावृत्यर्थ है। अभिसोषवीति। अभिसोषोति। यहाँ षत्व न हुआ यह प्राचीन वैयाकरण कहते हैं। 'सेनय' यह णिजन्त नाम धातु है। सेनया अभियाति = अभिषेणयति। सिध यहाँ शप् निर्देश से दिवादि का ग्रहण न हुआ, किन्तु भ्वादि का ही। अतः परिसिध्यति। यही हुआ तात्स्थात् गृहा दारा की तरह यहाँ उपसर्गस्थात् कथन है अर्थात् इण् रूप का उससे ग्रहण करना। यद्यपि 'इणकोः' है तो भी कवर्ग यहाँ सम्भव नहीं अतः केवल इणरूप निमित्तमात्र का ही ग्रहण हुआ। षत्वविधान में नुम् विसर्जनीयशर्व्यवाय का सम्बन्ध है अतः 'निःषुणोति' आदि में षत्व हुआ।

२२७२ सदिरप्रतेः ८।३।६६।

प्रतिभिन्नादुपसर्गात् सदेः सस्य षः स्यात्।

प्रति से भिन्न जो उपसर्ग उससे पर सद् के सकार को षकारादेश होता है। यहाँ भी उपसर्गस्थान्निमित्तात् का अन्वय है।

२२७३ स्तन्भेः ८।३।६७।

स्तन्भेः सौत्रस्य सस्य षः स्यात्। योगविभाग उत्तरार्थः। किञ्च, 'अप्रते' रिति नानुवर्तते। बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः।

स्तम्भ धातु जो सूत्रपठित केवल है उसके सकार को षकार होता है।

यह योगविभाग उत्तरसूत्र में केवल स्तम्भ की अनुवृत्त्यर्थ है। अथवा योगविभाग न करते तो 'अप्रतेः' का सम्बन्ध स्तम्भ में भी होता, किन्तु पृथक् सूत्र करने से अप्रतेः का सम्बन्ध स्तम्भ में न होने से प्रतिपूर्वक स्तम्भ के सकार को षकारादेश से कविकुलगुरु श्री कालीदास का यह प्रयोग सुसङ्गत हुआ–'प्रतिष्टम्भ' यह। दोनों बाहुओं के अकस्मात् अवरुद्ध होने से प्रकृष्ट क्रोधयुक्त दिलीप यह वाक्यार्थ है। मन्युशब्द यहां क्रोधार्थक है, यज्ञादि अर्थक नहीं है।

२२७४ अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः ८।३।६८।

अवात् स्तम्भेरेतयोरर्थयोः षत्वं स्यात्।

आश्रय एवं समीपार्थ में अवपूर्वक स्तम्भधातु के सकारको षकारादेश होता है। आलम्बन का अर्थ आश्रय हैं। अविदूर्य्य का अर्थ सामीप्य है।

२२७५ वेश्च स्वनो भोजने ८।३।६९।

व्यवाभ्यां स्वनतेः सस्य षः स्याद् भोजने।

विपूर्वक एवं अव पूर्वक स्वन् के सकार को षकारादेश होता है, भोजन अर्थ में।

२२७६ परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम् ८।३।७०।

परिनिविभ्यः परेषामेषां सस्य षः स्यात्। निषेधति।

परि, नि, वि इनसे पर सेव, सित, सय, सिव, सह, सुट्, स्तु, स्वञ्ज्, इनके सकार को षकार आदेश होता है। यथा निषेधति।

विमर्श—'सेव' यहां शपा निर्देश नहीं है केवल अकार उच्चारणमात्रफलक है। क्योंकि यकारान्त वकारान्त ऊठ्भावि धातुओं का यङ्लुक् नहीं है वह कथन वक्ष्यमाण है, अतः यङ् लुक् व्यावृत्ति के लिए शप् निर्देश करना यहां सर्वथा व्यर्थ ही है, षिवृ सेवायाम्–निषेवते। षिञ् बन्धने क्तान्त सित शब्द है—विषितः। क्तान्त का ग्रहण से विसिनोति यहां षत्वाभाव हुआ। षिवु तन्तुसन्ताने परिषीव्यति। षह मर्षणे–परिषहते। परिष्करोति यहां सुडागम के योग में इससे षकारादेश हुआ। विष्करोति। स्तु एवं स्वञ्ज को 'उपसर्गात् सुनोति' से सिद्ध ही था, पुनः षत्वविधान सिवादीनाम् अड्व्यवाय में विकल्पार्थ है।

२२७७ प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि ८।३।६३।

सेवसितेत्यत्र सितशब्दात् प्राक् ये सुनोत्यादयस्तेषामड्व्यवायेऽपि षत्वं स्यात्। न्यषेधत्। न्यषेधीत्। न्यषेधिष्यत्।

'सेवसित' यहां सित शब्द से पूर्व जो सुनोति आदि सुधातु आदि हैं उनके सकार को अट् के व्यवधान में भी षकारादेश होता है। यथा न्यषेधत् आदि। यहां 'तेषाम्' से १५ धातुओं का ग्रहण है। यहां अपिपद भ्रमनिवारणार्थ है, यदि 'अपि' ग्रहण यहां न करते तो कोई यह समझता कि उपसर्गात् सुनोति से ही षत्व सिद्ध है, यह केवल अड्व्यवधान में ही षत्वार्थ नियमार्थ है। इस भ्रान्ति को रोकने के लिए यहां 'अपि' है।

२२७८ स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ८।३।६४।

प्राक् सितात् स्थादिष्वभ्यासेन व्यवायेऽपि षत्वं स्यात्। एषामेव चाभ्यासस्य, न तु सुनोत्यादीनाम्। निषिषिधतुः।

१—सित शब्द से पूर्व स्थित स्था आदि धातुओं के सकार को अभ्यास से व्यवधान होने पर भी षकारादेश सकार को होता है। २—इन धातुओं के ही अभ्यास व्यवधान होने से भी षकारादेश होता है। अर्थात् सुनोति आदि के सु धातु आदि के अभ्यास से व्यवधान में नहीं।

विमर्श—इस सूत्र में दो वाक्य है १—'स्थादिष्वभ्यासेन' यह विध्यर्थं बचन है। इसका अर्थ १—से पूर्वत्र निर्दिष्ट ही है। दूसरा वाक्य है २—'चाभ्यासस्य' यह नियमार्थ है २—नियमाकार भी प्रथम बता चुके हैं। स्थादि दश धातुओं के ही अभ्यास का षत्व होता है अन्यत्र 'आदेशप्रत्यययोः' षत्व नहीं करेगा यह नियम व्यावर्तक है। नियम-फल यह है अभिसुसूषति, यहाँ नियम से अभ्यास में विद्यमान सकार को षकारादेश न हुआ। अभ्यासोत्तर सकार जो द्वितीय है उसको भी षकार न हुआ। इसमें कारण यह है—

एक सूत्र है—'स्तौतिण्योः' वह नियमार्थ है वह ण्यन्त में ही षकार युक्त पर में सन् रहने पर षत्व होने देता है। 'अभिसिषासति' यहाँ षण के अभाव से वह नियम न लगा। षत्व अभ्यासोत्तर सकार का हुआ। पूर्वको तो पूर्ववर्णित नियमार्थ चाभ्यासस्य से षत्वाभाव हुआ है।

यहाँ कोई कहता है कि प्रथम विध्यर्थ वाक्य का अनुपयोग है यथा 'निषिषेध' यहाँ अभ्यासोत्तर सकार को 'आदेशप्रत्यययोः' षकार कर देता।

पुनः 'स्थादिष्वभ्यासेन' इस प्रथम वाक्य का उपयोग क्या है? समाधान—आद्य वाक्य के तीन प्रयोजन हैं १—अषोपदेशार्थ है—सेनया अभियातुमिच्छति = 'अभिषिषेणयिषति' यह एक प्रयोजन। २—अवर्णान्त जहाँ अभ्यास है वहाँ प्रयोजन, यथा—'अधितष्ठौ'। ३—षणि में प्रतिप्रसवार्थ है। अभिषिषिक्षति। यहां 'षिच् क्षरणे' है। यहाँ 'स्तोति' नियम से व्यावृत्त षत्व को विधानार्थ आद्य वाक्य है।

२२७९ सेधतेर्गतौ ८।३।११३।

गत्यर्थस्य सेधतेः षत्वं न स्यात्। गङ्गां निषेधति। ११। षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च। शास्त्रम्=शासनम्।

गति अर्थयुक्त अर्थात् संयोगजनक व्यापारार्थक सिध धातु के सकार को षकार आदेश नहीं

होता है। गङ्गां निसेधति = स्नानाय तत्र गच्छति। कोई कहता है कि यह निषेध है। 'आदेश प्रत्यययोः' का ही है अनन्तरन्यायतः। कोई कहता है कि सर्व षत्व का यह निषेध है। 'उपसर्गात् सुनोति' का यहाँ सम्बन्ध नहीं है, मध्य में वह विच्छिन्न हो चुका है। अतः "गङ्गां सिसेध" यही प्रयोग है। न कि गङ्गां सिषेध।

षिधू धातु का अर्थ है शासन एवं मङ्गलजनक व्यापार। शासन में करण ल्युट् से शासन करण अर्थ है। शास् धातु का अर्थ प्रवृत्ति पर्य्यवसायी है। अर्थात् आज्ञा किसी कार्य विशेष करने की देकर वह कार्य उसने आज्ञाप्य ने किया या नहीं उसकी निगरानी करते हुए वह कार्य उससे सम्पादन कराना यह भी आज्ञापक का कर्तव्य है। इसमें शास् का प्रयोग होता है। न केवल आज्ञामात्र प्रदान में शास् का प्रयोग। शास्त्र = हितोपदेश एवं कर्तव्य में प्रेरक, अकर्तव्य जो निषिद्ध कार्य उसका व्यावर्तक होता है।

२२८० स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा ७।२।४४।

स्वरत्यादेरूदितश्च परस्य वलादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात्।

स्वृधातु, सूञ्, सू, धूञ्, ऊकार इत्संज्ञक धातु इनसे पर बलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् आगम होता है, स्वृ शब्द एवं उपतापार्थक है। धूञ् कम्पनार्थक स्वादि एवं क्र्यादि है। धू विधूनने निरनुबन्धक का ग्रहण नहीं है।

विमर्श—लाघवार्थ यहाँ "स्वरतिसूधूञूदितो वा" सूत्र करना उचित था, पुनः सूति एवं सूयति का पृथक् ग्रहण क्यों किया ?, ऐसा यदि करते तो "निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्" इस परिभाषा से 'षू प्रेरणे' तुदादि गणपठित का ही ग्रहण होता, अदादि एवं दिवादि गणपठित का जो ग्रहण इष्ट है वह न होता। यदि तदर्थं षूङ् यह पढ़ेंगे तो "लुग्विकरणालुग्विकरण-योर्मध्ये अलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम्" परिभाषाबल से अलुग्विकरणक तुदादि का ही ग्रहण होता अदादि पठित का नहीं, यह दोष आता। 'लुग् विकरण' परिभाषा में सूतिसूयति ग्रहण ही प्रमाण है।

इस सूत्र में 'इट् सनि वा' से विकल्प की अनुवृत्ति आती पुनः वाग्रहण क्यों किया ?, वह लिङ्सिच् सम्बद्ध है अतः केवल न आता, विशिष्ट की अनुवृत्ति-निवारणार्थ इट् ग्रहण है। अन्यथा यह लिङ् सिच् में ही विकल्प से इट् करता। स्वतन्त्र वाग्रहण से आर्धधातुक मात्र में विकल्प इट् हुआ।

२२८१ झषस्तथोर्धोऽधः ८।२।४०।

झषः परयोस्तथयोर्धः स्यान्न तु दधातेः। जश्त्वम्। सिषेद्ध। सिषेधिथ। सेद्धा। सेधिता। सेत्स्यति। सेधिष्यति। असैत्सीत्।

झष् है पर में जिसको ऐसा जो तकार एवं थकार उसको धकार आदेश होता है। किन्तु धाञ् धातु के विषय में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् वहाँ इसका अविषय ही है। जश्त्व कर सिसेद्ध। इट् पक्ष में सिषेधिथ। वलादि आर्धक धातुक में इट्, इट् का अभाव से रूपद्वय होते हैं। सेद्धा, सेधिता। सेत्स्यति यहाँ चर्त्व भी है। पक्ष में सेधिष्यति। लुङ् में इट् के अभाव में 'नेटि' की अप्रवृत्ति हुई, हलन्तलक्षण 'वदव्रज' सूत्र से वृद्धि होकर जश्त्व चर्त्व से असैत्सीत् हुआ।

२२८२ झलो झलि ८।२।२६।

झलः परस्य सस्य लोपः स्यात् झलि। असैद्धाम्। असैत्सुः। असैत्सीः। असैद्धम्। असैद्ध। असैत्सम्। असैत्स्व। असैत्स्म। पक्षे असेधीत्। असेधिष्टाम् इत्यादि। १२। खादृ भक्षणे। ऋकार इत्। खादति। चखाद। १३। खद स्थैर्ये हिंसायां च। चाद् भक्षणे स्थैर्ये अकर्मकः। खदति।

झल् से पर सकार का लोप होता है झल् पर रहते।

यहाँ 'संयोगान्तस्य' से लोप की अनुवृत्ति, 'रात्सस्य' से सकार की अनुवृत्ति है। 'पदस्य' अधिकार यहाँ है अतः झल् सकार एवं निमित्त झल् वे तीनों जब एकपदस्थ रहते हैं वहाँ ही इससे लोप होता है। 'सोमसुत्स्थानम्' यहाँ लोपाभाव ही हुआ एकपदस्थ के अभाव से। 'अनैष्टाम्' में झल् से पर नहीं। अभैत्सीत् यहाँ झल् पर नहीं है।

इट् पक्ष में हलन्त लक्षण वृद्धि का 'नेटि' से निषेध लघूपधगुण इट ईटि सकारलोप दीर्घ असेधीत् ५०। खादृ धातु का भक्षण अर्थ है। ऋकार को इत्संज्ञा लोप ऋदित् सम्पादनार्थ ऋकारानुबन्ध है। 'अचखादत्' ण्यन्त से लुङ् में यहाँ उपधाह्रस्व कर 'नाग्लोपि' से निषेध हुआ। अतः 'णौ चङ्युपधायाः' से ह्रस्व न हुआ। खद् धातु स्थिरताजनक व्यापार अर्थ में अकर्मक है। हिंसा एवं भक्षण अर्थ में भी है, यहाँ सकर्मक है। लट् में खदति रूप हुआ।

२२८३ अत उपधायाः ७।२।११६।

उपधाया अतो वृद्धिः स्यात् ञिति णिति च प्रत्यये परे। चखाद।

ञित् एवं णित् प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व जो अङ्ग उसका उपधाभूत अवयव ह्रस्वाकार उसकी वृद्धि होती है। चखाद। खद् लिट् तिप् णल् अ द्वित्वादि से खद् खद् खखद् चखद् वृद्धि से चखाद।

२२८४ णलुत्तमो वा ७।१।९१।

उत्तमो णल् वा णित्स्यात्। चखाद। चखद।

उत्तमपुरुषसंज्ञक जो णल् वह णित् विकल्प से माना जाता है। अतः जहाँ णित् माना गया वहाँ वृद्धि हुई। पक्ष में वृद्धि का अभाव से चखाद। चखद।

२२८५ अतो हलादेर्लघोः ७।२।७।

हलादेर्लघोरकारस्य इडादौ परस्मैपदे परे सिचि वृद्धिर्वा स्यात्। अखादीत्। अखदीत्।१४। बद स्थैर्ये। पवर्गीयादिः। बदति। बबाद। बेदतुः। बेदिथ। बबाद। बबद। अबादीत्। अबदीत्।१५। गद व्यक्तायां वाचि। गदति।

इट् है आदि में जिसको ऐसा परस्मैपदपरक जो सिच् उसके पर रहते हल् है आदि में जिसको ऐसा जो लघुसंज्ञक उकार उसकी विकल्प से वृद्धि होती है। वृद्धि पक्ष में अखादीत्। पक्ष में अखदीत् यहाँ 'नेटि' से निषिद्ध हलन्तलक्षण वृद्धि थी 'नेटि' को बाध कर विकल्प वृद्धि करने के लिए किया है। पवर्ग का बकार आदि वाला स्थिरतार्थक बद धातु है, बकारादि

नहीं है। अतः 'नशसदद' का अविषय से लिट् में यथाप्राप्त एत्वाभ्यास लोप होता ही है। लुङ् में विकल्प वृद्धि से अगादीत्। अगदीत्।

गद धातु व्यक्त = स्पष्ट अर्थक वाणी में है। अर्थात् सुस्पष्ट शब्दकर्मक कण्ठताल्वाद्यभिघात-जन्य उच्चारणार्थक हैं। गदति = स्पष्टशब्दं वदति यह अर्थ है।

२२८६ नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपति-वहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु च ८।४।१७।

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नेर्णः स्याद् गदादिषु। प्रणिगदति। जगाद। १६। रद विलेखने। विलेखनम् = भेदनम्। रराद। रेदतुः। १७। णद अव्यक्ते शब्दे।

उपसर्गस्थनिमित्त से पर नि उपसर्ग के नकार को णकार आदेश होता है गद्, नद्, पत्, पद् घुसंज्ञक दा एवं धा, मा, सो, हन्, या, वा, द्रा, प्सा, वप्, वह्, शम्, चि, दिह् इनमें से कोई धातु पर रहते। प्रणिगदति। लिट् में जगाद। रदधातु भेदनरूप विलेखनार्थक है। लिट् में रराद। रेदतुः। अस्पष्ट शब्दार्थक णद धातु है।

२२८७ णो नः ६।१।६५।

धातोरादेर्णस्य नः स्यात्। "णोपदेशास्त्वनर्द्-नाटि-नाथ्-नाध्-नन्द्-नक्क्-नृ-नृतः।" नाटेर्दीर्घोऽर्हस्य पर्युदासाद् घटादिर्णोपदेश एव। तवर्गचतुर्थान्तनाधतेर्नृनन्द्योश्च केचिण्णोपदेशतामाहुः।

धातु के आदि में स्थित धातु का अवयव णकार को नकारादेश होता है। उपदेश अवस्था के णोपदेश कौन से धातु है। एवं कौन से अणोपदेश है इसका ज्ञान सर्वथा अपेक्षित है एतदर्थ कहते हैं कि नर्द्, नाथ्, नाध्, नन्द्, नक्क्, नृ, नृत इनसे भिन्न धातु णोपदेश है। दीर्घार्ह नाटि का यहाँ पर्युदास से जहाँ 'मितां ह्रस्वः' से ह्रस्व हो जाता है ऐसा जो घटादि गणपठित वह तो अर्थतः णोपदेश सिद्ध हुआ। कोई आचार्य नाध् एवं नृ तथा नन्द को णोपदेश कहते हैं।

२२८८ उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ८।४।१४।

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य णोपदेशस्य धातोर्नस्य णः स्यात् समासेऽसमासेऽपि। प्रणदति। प्रणिनदति। १८। अर्द गतौ याचने च। अत आदेः।

उपसर्गस्थ निमित्त से पर णोपदेश धातु के नकार को णकारादेश होता है, समास में या असमासमें। यहाँ 'समासेऽङ्गुलेः सङ्गः' से समास की अनुवृत्ति आती है समास में ही इसकी प्रवृत्ति न हो एतदर्थ सूत्र में 'असमासे' कहा, वह कहने पर केवल असमास में ही इसकी प्रवृत्ति न हो एतदर्थ 'अपि' ग्रहण सूत्र में किया अपि समुच्चयार्थक से समास में भी णकारादेश हुआ। णद् धातु के नकार को णकारादेश प्रणदति। 'प्रणिनदति' यहाँ नि उपसर्ग के नकार को 'नेर्गद' से णकारादेश हुआ है। अर्द धातु गमनार्थक एवं याचनार्थक है। लिट् में द्वित्वादि के बाद 'अत आदेः' से अभ्यास के अकार को आकाररूप दीर्घ करने के बाद वक्ष्यमाणसूत्र की प्रवृत्ति होती है।

२२८९ तस्मान्नुड्द्विहलः ७।४।७१।

द्विहलो धातोर्दीर्घीभूतादकारात्परस्य नुट् स्यात्। आनर्द। आर्दीत् १९।

दो हल् युक्त धातु के दीर्घ आकार के उत्तर नुट् आगम होता है। अर्द् लिट्, तिप्, णल् अ द्वित्व हलादि शेष करके अभ्यास के आकार का 'अत आदेः' से दीर्घ होकर 'आ आर्द् अ' यहाँ नुट् उकार टकार की इत्संज्ञा लोप आनर्द। लुङ् में आ अर्द् इस् ईत् आटश्च वृद्धि, सलोप दीर्घ आर्दीत्।

विमर्श—सूत्र में द्विहल् ग्रहण न करते तो एक् हल् युक्त धातु के दीर्घ आकार के बाद नुट् प्रवृत्ति रूप आपत्ति होती यह कथन तो ठीक नहीं है। क्योंकि यदि एकहल्-घटित का यह नुट् करता तो "अश्नोतेश्च" 'आनशे' में नुट् करने के लिए सूत्र किया है वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करेगा कि "दीर्घीभूत आकार से पर एकहल्युक्त धातु को नुट् आगम हो तो अश् को ही हो। अन्य को नहीं", इससे दोष कहीं भी नहीं है इस सूत्र में 'द्विहल्' ग्रहण व्यर्थ ही है, कोई लौकिक फल इसका नहीं। दृष्टार्थकत्व फल विशेषाभाव है। केवल पारायणजन्य अदृष्ट फलार्थक है। लुङ् में आर्दीत्।

नर्द गर्द शब्दे। णोपदेशत्वाभावान्न णः। प्रनर्दति। २०। गर्दति। जगर्द। २१। तर्द हिंसायाम्। तर्दति। २२। कर्द कुत्सिते शब्दे। कुत्सिते कौक्षे। कर्दति। २३। खर्द दन्दशूके। दंशहिंसादिरूपायां दन्दशूकक्रियायामित्यर्थः। खर्दति। चखर्द। २४। अति अदि बन्धने। अन्तति। आनन्त। २५। अन्दति। आनन्द। २६। इदि परमैश्वर्ये। इन्दति। इन्दाञ्चकार। २७। बदि अवयवे। पवर्गतृतीयादिः। बन्दति = अवयवं करोतीत्यर्थः। भदीति पाठान्तरम्। २८। गडि वदनैकदेशे। गण्डति। अन्तत्यादयः पञ्चैते न तिङ्विषया इति काश्यपः। अन्ये तु तिङमपीच्छन्ति। २९। णिदि कुत्सायाम्। निन्दति। प्रणिन्दति। ३०। टुनदि समृद्धौ।

नर्द एवं गर्द धातु शब्दार्थक है। णोपदेश न होने के कारण यहाँ 'उपसर्गादसमासे' की अप्रवृत्ति से प्रनर्दति ही रूप हुआ। प्राणवियोगानुकूल व्यापारार्थक तर्द धातु है। कुत्सितशब्दार्थ अर्थात् उदरस्थ वायु-निष्कासनरूप व्यापारार्थक कर्द धातु है। खर्द धातु दंश (मच्छर आदि) हिंसादिरूप दंदशूक क्रियार्थक है। अर्थात् हिंसक मच्छर आदि से काटने में है। खर्दति। चखर्द। इकारेत्संज्ञक अत् अद् दोनों बन्धनार्थ हैं। अन्तति यहाँ 'इदितो नुम्' से नुम् आगम हुआ है। लिट् में 'अत आदेः' से दीर्घ एवं 'तस्मान्नुट्' से नुट् आगम आनन्त। अदिका अन्दति। आनन्द। इदिधातु उत्तमत्वविशिष्ट ऐश्वर्य = स्वामित्व में है। इदित् होने से नुम् इन्दति। इजादेश्च से लिट् में आम्, लिट्परक कृञ् का अनुप्रयोग इन्दाञ्चकार। बदि धातु अवयवार्थ है। यहाँ पवर्ग तृतीय बकार आदि में है। वकार नहीं। बन्दति = का अर्थ अवयव निर्माणकार्य को वह करता है। भदि यह भी पाठ है, भन्दति। भन्दाञ्चकार। गडि धातु मुख का एक अवयव जो गण्डस्थल है उसका प्रतिपादक अर्थात् वदन-एकदेशार्थक है। गण्डति। अन्तति आदि पाँच धातु तिङ्विषय नहीं है। यह काश्यप जी का मत है। अन्य आचार्य तो इनको तिङ्विषयक मानते ही हैं। णिदि धातु कुत्सा = निन्दारूपार्थक है। 'णो नः' से नकारा-

देश, इदित्प्रयुक्त नुम्। निन्दति। प्र पूर्वक रहने पर णोपदेशत्व प्रयुक्त णकारादेश प्रणिन्दति। ट्ुनदि धातु समृद्ध्यर्थक है।

२२९० आदिर्ञिटुडवः १।३।५।

उपदेशे धातोराद्या एते इतः स्युः। नन्दति। इदित्त्वान्नलोपो न। नन्द्यात्। ३१। चदि आह्लादे। चचन्द। ३२। त्रदि चेष्टायाम्। तत्रन्द। ३३। कदि क्रदि क्लदि आह्वाने रोदने च। चकन्द। ३४। चक्रन्द। ३५। चक्लन्द। ३६। क्लिदि परिदेवने। चिक्लिन्द। ३७। शुन्ध शुद्धौ। शुशुन्ध। नलोपः। शुध्यात्।

उपदेशावस्था में विद्यमान धातु के आदि जो ञि, टु एवं डु उनकी इत्संज्ञा होती है। डु की इत्संज्ञा इकार की इत्संज्ञा, नुम्। नन्दति। आशीर्लिङ् में इदित के कारण नलोप का अभाव हुआ अर्थात 'अनिदिताम्' की प्रवृत्ति न हुई। चदि धातु आह्वानार्थक है अर्थात् पुकारने के लिए शब्दोच्चारणार्थक है। चचन्द। त्रदि धातु चेष्टार्थक है। हितप्राप्ति एवं अहित से निवृत्ति-जनक व्यापार रूप चेष्टा है 'शर्पूर्वाः खयः' तत्रन्द। कदि, क्रदि, क्लदि, आह्वानार्थक एवं रोदनार्थक है। आँसुओं को नेत्र से गिरने अर्थ को रोदन कहते हैं। क्लिदि परिदेवनार्थक है। शुन्ध = शुद्ध्यर्थक है।

अथ कवर्गीयान्ता अनुदात्तेतो द्विचत्वारिंशत्। शीकृ सेचने। तालव्यादिः। दन्त्यादिरित्येके। शीकते। शिशीके। १। लोकृ दर्शने। लोकते। लुलुके। २। श्लोकृ संघाते। संघातो ग्रन्थः। स चेह ग्रथ्यमानस्य व्यापारो ग्रथितुर्वा। आद्ये अकर्मको द्वितीये सकर्मकः। श्लोकते। ३। ※ द्रेकृ ध्रेकृ शब्दोत्साहयोः। उत्साहो वृद्धिरौद्धत्यञ्च। दिद्रेके। ४। दिध्रेके। ५। रेकृ शङ्कायाम्। रेकते। ६। सेकृ स्रेकृ स्रकि श्रकि श्लकि गतौ। त्रयो दन्त्यादयः। द्वौ तालव्यादी। अषोपदेशत्वान्न षः। सिसेके। ११। शकि शङ्कायाम्। शङ्कते। शशङ्के। १२। अकि लक्षणे। अङ्कते। आनङ्के। १३। वकि कौटिल्ये। वङ्कते। १४। मकि मण्डने। मङ्कते। १५। कक लौल्ये। लौल्यम् = गर्वश्चापल्यञ्च। ककते। चकके। १६। कुक वृक आदाने। कोकते। चुकुके। १७। वर्कते। ववृके।

※ ऋदुपधेभ्यो लिटः कित्त्वं गुणात् पूर्वविप्रतिषेधेन ※। ववृके। १८। चके तृप्तौ प्रतिघाते च। चकते। चेके। ककि वकि श्वकि त्रकि ढौकृ त्रौकृ ष्वष्क वस्क मस्क टिकृ टीकृ तिकृ तीकृ रघि लघि गत्यर्थाः। कङ्कते। डुढौके। तुत्रौके।

※ सुब्धातुष्ठिवुष्वष्कतीनां सत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः ※। ष्वष्कते। षष्वष्के। अथ तृतीयो दन्त्यादिरित्येके। लघि भोजननिवृत्तावपि। ३५। अघि वघि मघि गत्याक्षेपे। आक्षेपो निन्दा। गतौ गत्यारम्भे चेत्यन्ये। अङ्घते। आनङ्घे। वङ्घते। मङ्घते। मघि कैतवे च। ३८। राघृ लाघृ द्राघृ सामर्थ्ये।

राघते । ३९ । लाघते । ४० । ध्राघृ इत्यपि केचित् । द्राघृ आयामे च । आयामो द्राघते । श्लाघृ कत्थने । श्लाघते । ४२ ।

कवर्ग के अक्षर है अन्त में जिनको ऐसे धातु अनुदात्त इत्संज्ञक ४२ है। वे सभी आत्मनेपदी है। अनुदात्तङित सूत्र से इन से पर लकार के स्थान में तङ् का ही प्रयोग होता है। तालव्य शकार आदि में है ऐसा शीकृ धातु सिञ्चनक्रियार्थक है। इसको कोई दन्त्यादि भी मानते हैं। लोकृ धातु अवलोकनार्थक है। बलिया प्रदेश में भाषा में बोलते हैं "लोकता नहिं खें रौआँको"। श्लोकृ धातु संघात अर्थ में है। अर्थात् ग्रन्थ में यहाँ ग्रथ्यमान = ग्रथनक्रिया का कर्म का व्यापार अथवा ग्रन्थनिर्माणकर्ता पुरुष का व्यापार यह दो अर्थ इस धातु के सम्भव हैं, आदि अर्थ में यह अकर्मक है। द्वितीय अर्थ में फल=ग्रथन ग्रन्थ में रहता है। व्यापार निर्माणकर्ता में रहता है। फलव्यधिकरण व्यापारवाचक होने से सकर्मक हुआ।

देकृ एवं धेकृ धातु शब्द एवं उत्साह अर्थ में है। उत्साह शब्द से वृद्धि एवं औद्धत्य का ज्ञान करना। रेकृ धातु शङ्कार्थक है। सिकृ सेकृ स्नकि श्रकि श्लकि ये पाँच धातु गमनार्थक हैं। इन पाँच में आदि तीन धातु दन्त्यवर्ण आदि वाले हैं। एवं चौथा तथा पञ्चम तालव्यादि है। षोपदेश न होने से षत्वाभाव से 'सिसेके' हुआ। शकि धातु आशङ्कार्थक है। एक विशेष्य में नानाधर्मप्रकारक सन्देह रहे वहाँ शङ्का होती है कि यह है या नहीं वहाँ शङ्कते प्रयोग होता है। अकि का अर्थ लक्षण है। चिह्नार्थक है। वकि का कुटिलता अर्थ है। मकि का मण्डन अर्थ है। ककि धातु लालच अर्थ में है, उत्कृष्ट इच्छार्थक है। यहाँ लौल्यका अर्थ किया अहंकार, एवं चपलता। ग्रहणार्थक कुक् वृक् धातु है।

ऋकारोपध धातुओं को लिट् में गुण होता है। एवं लिट् को पूर्वविप्रतिषेध से कित्व होता है। अतः 'ववृके' यहाँ लघूपध गुणाभाव है।

चक धातु तृप्ति एवं प्रतिघात अर्थ में है। ककि से लेकर लघि तक १५ धातु तो हैं वे सब गमनार्थक ही है। संयोगजनक व्यापारार्थक है।

नाम=प्रातिपदिक को कहते हैं वह है प्रकृति जिसकी ऐसा जो सुप् प्रत्यय वह है प्रकृति जिसकी ऐसे जो प्रत्यय वे हैं निमित्त जिसमें ऐसी जो धातु संज्ञा अर्थात् नामधातु, एवं षिवु धातु, ष्वष्क धातु इनके षकार को 'धात्वादेः' सूत्र से दन्त्य सकार रूप आदेश नहीं होता है। यहाँ किसी ने तीसरे धातु को अर्थात् ष्वष्क् को स्वष्क पढ़ा है। रुग्णावस्था में लंघन = अर्थात् भोजन की निवृत्ति रूप अर्थ में भी लघि धातु का प्रयोग होता है, भोजननिवृत्त्यर्थक लघि है। अघि, मघि, वघि आक्षेपार्थक है। आक्षेप का अर्थ निन्दा है। कोई कहते हैं की गति एवं गमनक्रिया के प्रारम्भ में भी इनका प्रयोग होता है। मघि धातु कपटार्थक है। राघृ लाघृ द्राघृ सामर्थ्य अर्थ में है। ध्राघृ भी सामर्थ्य में है ऐसा किसी का मत भी है। दाघृ धातु दैर्घ्यरूप आयामार्थक है। श्लाघृ धातु कत्थन अर्थात् अपने गुणों को प्रकट करने में है। श्लाघते = स्वगुणान् प्रकटीकरोति।

अथ परस्मैपदिनः पञ्चाशत्। फक्क नीचैर्गतौ। नीचैर्गतिर्मन्दगमनम्, असद्व्यवहारश्च। फक्कति। पफक्क। १। तक हसने। तकति। २। तकि कृच्छ्रजीवने। तङ्कति। ३ बुक्क भषणे। भषणम् = श्वरवः। बुक्कति। ४। कखे हसने। प्रनिकखति। ओखृ राखृ लाखृ द्राखृ ध्राखृ शोषणालमर्थयोः। ओखति। ओखाञ्चकार। १०। शाखृ श्लाखृ व्याप्तौ। शाखति। १२। उख उखि वख वखि मख मखि णख णखि रख रखि लख लखि इख इखि ईखि

वल्ग रगि लगि अगि वगि मगि तगि त्वगि श्रगि श्लगि इगि रिगि लिगि गत्यर्थाः। कवर्गद्वितीयान्ताः पञ्चदश। तृतीयान्तास्त्रयोदश। इह खान्तेषु रिख त्रख त्रिखि शिखि इत्यपि चतुरः केचित् पठन्ति।

परस्मैपदी ५०-धातुओं का यहाँ प्रदर्शन करते हैं।

फक्क धातु मन्दगमन अर्थ में है, एवं असद् व्यवहार में है। तक धातु हास्यजनक व्यापारार्थक है तकि धातु कष्ट पूर्वक जीवनधारणार्थक है। बुक्क धातु कुत्ते की ध्वनि अर्थ में है। कख धातु हसनार्थक है। ओखृ राखृ लाखृ द्राखृ ध्राखृ शोषणार्थक एवं अलमर्थ पर्य्याप्ति आदि में है। गुरुत्व लक्षण आम् से ओखाञ्चकार। शाखृ श्लाखृ व्याप्त्यर्थक है। उख से लेकर लिगि तक धातु वे सब गत्यर्थक हैं। १५ धातुओं के अन्त में खकार अन्त में है। गकारान्त १३ है। कोई खान्त में रिख आदि चार धातुओं को पढ़ते हैं अर्थ है गमनरूप ही।

२२९१ अभ्यासस्यासवर्णे ६।४।७८।

अभ्यासस्य इवर्णोवर्णयोरियङुवङौ स्तोऽसवर्णेऽचि। उवोख। सन्निपातपरिभाषया इजादेरित्याम् न। ऊखतुः। ऊखुः। इह सवर्णदीर्घस्याभ्यासग्रहणेन ग्रहणाद्ध्रस्वः प्राप्तो न भवति, सकृत्प्रवृत्तत्वात् आङ्गत्वाद्धि पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्त्या ह्रस्वे कृते ततो दीर्घः, वार्णादाङ्गं बलीय इति न्यायात्, परत्वाच्च। उङ्गति। ववखतुः। वङ्गति। मेखतुः। त्वगि कम्पने च। ४४। युगि जुगि बुगि वर्जने। युङ्गति। घघ हसने। घघति। जघाघ। मघि मण्डने। मङ्घति। शिघि आघ्राणे। शिंघति ५०।

असवर्ण अभ्यासोत्तर खण्डगत अच् पर रहते अभ्यासावयव इकार एवं उकार को क्रमशः इयङ् एवं उवङ् आदेश होता है। यथा उवोख। विभक्ति प्रकृति का अव्यवहित पूर्वापरीभाव रूप सम्बन्ध को मानकर जायमान गुणादि कार्य वे गुरुमान् होकर स्वोपजीव्य अव्यवहितपूर्वत्व अव्यवहितोत्तरत्व का नाशक व्यवधायक जो आम् उसकी प्रवृत्ति में साक्षात् या परम्परया निमित्त नहीं होते हैं अतः संनिपात परिभाषा से यहाँ आम् न हुआ।

ऊखतुः यहाँ उख् अतुस् द्वित्व अभ्यास संज्ञा हलादिशेष कर 'ह्रस्वः' सूत्र से 'पर्जन्यवत् लक्षणप्रवृत्ति' न्याय से ह्रस्व का भी ह्रस्व करके अभ्यासोत्तर खण्ड का आदि वर्ण उकार वह अभ्यास के उकार का सवर्णी है। अतः यहाँ उवङ् अभ्यास के उकार को न हुआ, 'अकः सवर्णे' से दीर्घ कर ऊखतुः रूप सिद्ध हुआ, उसी प्रकार ऊखुः। यहाँ सवर्ण दीर्घ का पूर्व स्थानी जो अभ्याससंज्ञक उकार है उसमें रहने वाला धर्म जो अभ्यासत्व है उसको 'अन्तादिवच्च' से एकादेश रूप जो दीर्घ है उसमें अतिदेश करके 'ह्रस्वः' सूत्र में दीर्घ ऊकार का ह्रस्व न हुआ, क्योंकि एक बार ह्रस्व हो चुका है अतः पुनः ह्रस्व नहीं होगा, एक न्याय है "लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते"। एक लक्ष्य में एक लक्षण एक ही बार लगता है। यहाँ विकारकृत लक्ष्यभेद नहीं माना जाता। वर्णभेद में तो लक्ष्यभेद माना जाता है। अर्थात् तल्लक्ष्ये तल्लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते।

इस न्याय में 'समः सुटि' सूत्र ही प्रमाण है। अन्यथा सम् के मकार का लोप करके सुट् के सकार का द्वित्व कर दो सकार करके पुनः द्वित्व से सकारत्रयघटित रूपों की सिद्धि होती, पुनः समःसुटि व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है तल्लक्ष्यन्यायको। 'न सम्प्रसारणे' सूत्रारम्भ से

वर्णभेद में लक्ष्यभेद से पुनः 'यूनः' में यकार का सम्प्रसारण जो प्राप्त है उसका निषेध हुआ। 'उदवोढाम्' यहाँ वह् के अकार को ओकार आदेश करने पर ढत्वादि सिच् लोपादि कार्य असिद्धि से ओकार की औकार वृद्धि प्राप्त थी 'लक्ष्ये लक्षण' न्याय से भाष्यकार ने वारण किया। इससे सिद्ध होता है कि विकारकृत लक्ष्यभेद नहीं बल्कि लक्ष्यैक्य ही है।

यहाँ कोई कहता है कि अन्तरङ्गत्वं प्रयुक्त प्रथम सवर्ण दीर्घ होगा न कि 'ह्रस्वः' से पर्जन्य-न्याय से ह्रस्व तब तो पूर्व दीर्घ तदनन्तर यहाँ ह्रस्व होना चाहिये। यह कथन भी ठीक नहीं है, 'वार्णादाङ्गं बलीयः' परिभाषा जो इस सूत्र से ज्ञापित है उससे बहिरङ्ग ह्रस्व जो अङ्गाधिकारी है वह ही प्रथम होगा न कि अन्तरङ्ग दीर्घ। एवं परत्व के कारण दीर्घ को बाधकर ह्रस्व होगा यह कथन तो उचित नहीं, अन्तरङ्ग दीर्घ है उसके समक्ष परत्व कथन अनुचित ही है। अन्तरङ्ग परिभाषा की बाधिका 'वार्णाद्' परिभाषा का तो उपन्यास उचित है।

अथवा बाधकत्व रूप उत्कृष्टत्व ह्रस्व में है। बाध्यत्व लक्षण अपकृष्टत्व दीर्घ में है, अतः वार्ण-परिभाषा सहकार से दीर्घ को बाधकर ह्रस्व हुआ। यहाँ परत्वात् = अपवादत्वात् यही अर्थ है विप्रतिषेध शास्त्र की प्रवृत्ति में परत्व कारण यहाँ नहीं है।

विमर्श—अन्तरङ्गत्व प्रयुक्त दीर्घ होने पर अभ्यासोत्तर खण्ड में असवर्ण अच् मिलेगा ही नहीं पुनः असवर्णे ग्रहण क्यों किया वह व्यर्थ होकर 'वार्णादाङ्गं बलीयः' इस परिभाषा में वह ज्ञापक है। वस्तुतः सूत्र ही ज्ञापक है परि० शे० में विस्तृत परिभाषा का वर्णन है।

त्वगि धातु कम्पनार्थक है। युगि आदि चार धातु वर्जनार्थक है। घघधातु हसनार्थक है। मघि धातु भूषणार्थक है। मण्डनम् = भूषणम्। शिघि का अर्थ आघ्राणार्थः सूंघना।

अथ चवर्गीयान्ताः। तत्रानुदात्तेत एकविंशतिः। वर्च दीप्तौ। वर्चते। १। षच सेचने सेवने च। सचते। सेचे। सचिता। २। लोचृ दर्शने। लोचते लुलुचे। ३। शच व्यक्तायां वाचि। शेचे। ४। श्वच श्वचि गतौ श्वचते। श्वञ्चते। ६। कच बन्धने। कचते। ७। कचि काचि दीप्तिबन्धनयोः। चकञ्चे। चकाञ्चे। ९। मच मुचि कल्कने। कल्कनम् = दम्भः, शाठ्यञ्च। कथनमित्यन्ये। मेचे। मुमुञ्चे। ११। मचि धारणोच्छ्रायपूजनेषु। १२। पचि व्यक्तीकरणे। पञ्चते। १३। ष्टुच प्रसादे। स्तोचते। तुष्टुचे। १४। ऋज गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु। अर्जते। नुड्विधौ ऋकारैकदेशो रेफो हल्त्वेन गृह्यते। तेन द्विहल्त्वान्नुट्। आनृजे। ऋजि भृजी भर्जने। ऋञ्जते। उपसर्गाद् ऋतीति वृद्धिः। प्रार्ञ्जते। ऋञ्जाञ्चक्रे। आर्ञ्जिष्ट। १६। भर्जते। बभृजे। अभर्जिष्ट। १७। एजृ भ्रेजृ भ्राजृ दीप्तौ। एजाञ्चक्रे। २०। ईज गतिकुत्सनयोः। ईजाञ्चक्रे।

चवर्गीयान्त अनुदात्त इत्संज्ञक २१ धातु हैं। वर्च का अर्थ दीप्तिजनक व्यापार। षच् का अर्थ सेचन एवं सेवन है। 'सेचे' में एत्वाभ्यास लोप हुआ। लोचृधातु दर्शनार्थक है = चक्षुरिन्द्रियजन्यज्ञानानुकूलव्यापारो दर्शनम्। शच व्यक्तशब्दार्थक है। श्वच श्वचि गत्यर्थक है। कच बन्धनार्थक है। कचि काचि दीप्त्यर्थक है एवं बन्धनार्थक है। मच् एवं मुचि दम्भार्थक एवं शाठ्यार्थक है। शाठ्य माने कुटिलता = वक्रता। कोई इसका अर्थ कथन भी कहता है। मचि धारणार्थक उच्छ्राय एवं पूजनार्थक है। पचि व्यक्तीकरणार्थ है = स्पष्टार्थक। ष्टुच प्रसाद

अर्थ में है। ऋच गतिजनकव्यापारार्थक है। स्थान का अर्जन = पैदा करना एवं उपार्जनार्थक है। 'तस्माद् नुट्' सूत्र से 'आनृजे' में नुट् हुआ। क्योंकि ऋकार का अवयव "वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते" इस पक्ष से रेफ एक हल् एवं जकार एक हल् मिलकर दो हल्युक्त धातु हुआ अतः नुट् आनृजे। ऋजि एवं भृजी पाकार्थक है। 'प्रार्जते' में 'उपसर्गात्' से वृद्धि हुई। 'ऋजाञ्चक्रे' में आम् एवं कृञ् का अनुप्रयोगादि कार्य हुए। एजृ आदि धातु दीप्त्यर्थक है। ईज धातु गति एवं कुत्सनार्थक है।

अथ द्विसप्ततिर्व्रज्यन्ताः परस्मैपदिनः। शुच शोके शोचति।१। कुच शब्दे तारे। कोचति।२। कुञ्च क्रुञ्च कौटिल्याल्पीभावयोः। अनिदितामिति नलोपः। कुच्यात्।३। क्रुच्यात्।४। लुञ्च अपनयने। लुच्यात्।५। अञ्चु गतिपूजनयोः। अच्यात्। गतौ नलोपः। पूजायान्तु। अञ्च्यात्।६। वञ्चु चञ्चु तञ्चु त्वञ्चु म्रुञ्चु म्लुञ्चु म्रुचु म्लुचु गत्यर्थाः। वच्यात्। चच्यात्। तच्यात्। त्वच्यात्। अम्रुञ्चीत्। अम्लुञ्चीत्।

यहाँ से प्रारम्भ कर व्रज् तक ७२ धातु परस्मैपदी है। शोकार्थक शुच् धातु है। उच्च स्वर से शब्द के उच्चारणार्थक कुच् धातु है कुञ्च क्रुञ्च कुटिलार्थक एवं अल्पभवनार्थक है: आशीर्लिङ् में नलोप से कुच्यात्। दूरीकरणार्थक लुञ्च धातु है। जैनसम्प्रदाय में यति होने पर मस्तक के बालों की लुञ्चन क्रिया द्वारा शिर के बाल = केश उखाड़े जाते हैं। गत्यर्थक एवं पूजनार्थक 'अञ्चु' है। गति में नलोप होता है। पूजार्थक में नहीं। वञ्चु से म्लुचु तक सब गमनार्थक है।

२२९२ जॄस्तम्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च ३।१।५८।

एभ्यश्च्लेरङ् वा स्यात्। अम्रुचत्। अम्रोचीत्। अम्लुचत्। अम्लोचीत्।१४।

जॄ, स्तम्भु म्रुचु, म्लुचु, ग्रुचु, ग्लुचु, ग्लुञ्चु, श्वि इससे पर च्लिके स्थान में अङ् विकल्प से होता है। पूर्वोक्त दो रूप हुए।

ग्रुचु ग्लुचु, कुजु खुजु स्तेयकरणे। जुग्रोच। अग्रुचत्। अग्रोचीत्। जुग्लोच। अग्लुचत्। अग्लोचीत्। अकोजीत्। अखोजीत्।१८। ग्लुञ्चु षस्ज गतौ। अङ् अग्लुचत्। अग्लुञ्चीत्।१९। सस्य श्चुत्वेन शः, जश्त्वेन जः। सज्जति। अयमात्मनेपद्यपि सज्जते।२०। गुजि अव्यक्ते शब्दे। गुञ्जति। गुञ्ज्यात्।२१। अर्च पूजायाम्। आनर्च।२२। म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे। अस्फुटेऽपशब्दे चेत्यर्थः। म्लेच्छति। मिम्लेच्छ।२३। लछ लाछि लक्षणे। ललच्छ।२४। ललाञ्छ।२५। वाछि इच्छायाम्। वाञ्छति।२६। आछि आयामे। आञ्छति। अत आदेरित्यत्र तपरकरणं स्वाभाविकह्रस्वपरिग्रहार्थम्। तेन दीर्घाभावान्न नुट् आञ्छ। तपरकरणं मुखसुखार्थमिति मते तु नुट्। आनाञ्छ।२७। ह्रीच्छ लज्जायाम्। जिह्रीच्छ।२८। हुर्छा कौटिल्ये। कौटिल्यमपसरणमिति मैत्रेयः। उपधायाञ्चेति दीर्घः। हूर्छति।२९। मुर्छा मोहसमुच्छ्राययोः। मूर्छति।३०। स्फुर्छा विस्तृतौ। स्फूर्छति।३१। युच्छ प्रमादे। युच्छति।

। ३२ । उछि उञ्छे । उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलमिति यादवः । उञ्छति । उञ्छाञ्चकार । ३३ । उछी विवासे । विवासः=समाप्तिः । प्रायेणायं विपूर्वः व्युच्छति । धृज धृजि ध्रज ध्रजि ध्वज ध्वजि गतौ । धर्जति धृञ्जति ध्रजति । ध्रञ्जति । ध्वजति । ध्वञ्जति ।४० । कूज अव्यक्ते शब्दे । चुकूज । ४१ । अर्ज षर्ज अर्जने । अर्जति । आनर्ज । ४२ । सर्जति । ससर्ज । ४३ । गर्ज शब्दे । गर्जति । ४४ । तर्ज भर्त्सने । तर्जति । ततर्ज । ४५ । कर्ज व्यथने । चकर्ज । ४६ । खर्ज पूजने च । चखर्ज । ४७ ।

मुचु आदि चार धातु चोरी करने अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । ग्लुञ्चु षस्ज ये दोनों गत्यर्थक हैं । विकल्प से लुङ् में अङ् होकर । अग्लुचत् । अग्लुञ्चीत् । सज्जति । यहाँ सकार का श्चुत्व से शकार एवं 'झलां जशि' से अपदान्त शकार को जश्त्व से जकारादेश । सज्जति । यह आत्मनेपदी भी है— सज्जते । गुजि अव्यक्तशब्दार्थक है । अर्च धातु पूजार्थक है । द्विहल्युक्त होने से लिट् में नुट् से आनर्च । म्लेच्छ अव्यक्त = अस्पष्ट शब्दार्थक है । अस्पष्ट कुत्सित शब्दार्थक है । लछ एवं लाछि लक्षणार्थक है । चिह्न = लक्षणार्थ है । वाछि इच्छाजनक व्यापारार्थक है ।

आछि आयाम = दैर्घ्य अर्थ में है । अभ्यास में सर्वत्र 'ह्रस्व' से ह्रस्वविधान से आकार मिलेगा नहीं अर्थात् ह्रस्व अकार का ही सम्भव है पुनः 'अत आदेः' यहाँ तपरग्रहण व्यावर्त्याभाव से व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि स्वाभाविक ह्रस्व का ग्रहण करता है 'ह्रस्वः' से कृत ह्रस्व का नहीं । अतः यहाँ दीर्घ 'अत आदेः' से न होने से दीर्घ से परत्व न होने के कारण नुट् न हुआ, अतः 'आञ्छ' यही रूप हुआ । कोई कहता है कि तपरग्रहण मुखसुखार्थ है फलविशेषार्थ नहीं अतः दीर्घ होकर नुट् आगम होता ही है, उस मत में 'आनाञ्छ' हुआ ।

ह्रीच्छ लज्जार्थक है । हुर्च्छा कौटिल्यार्थक है । मैत्रेयाचार्य यहां कौटिल्य का अर्थ दूर गमन अर्थ कहते हैं । 'हूर्च्छति' में 'उपधायाश्च' से दीर्घ हुआ । मुर्छा मोह = अविवेक या मूर्च्छित होना = अज्ञानावस्था को प्राप्त होना एवं उन्नत रूप समुच्छ्रायार्थ है । स्फुर्छा विस्मरणार्थक है। युच्छ प्रमादार्थक है, प्रमाद = अनवधानता है, अज्ञान या असावधानी से प्रमाद होता है । उछि का अर्थ एक एक कण को बटोरकर कणों को इकट्ठा करना या कणों का अर्जन = प्राप्ति का स्वभावार्थ है । मुनिजन उञ्छवृत्ति से जीवन यापन करते रहे। उसमें भी छठाँ अंश राजा को कर रूप से देय रूप होता था । उछी का विवास = परिसमाप्ति अर्थ है । प्रायः यह विपूर्वक है । ध्वज आदि छः धातु गत्यर्थक है । कूज पक्षियों के अस्पष्ट शब्दार्थक है । पक्षिणः कूजन्ति = अस्पष्टशब्दं ते कुर्वन्ति । अर्ज षर्ज अर्चनार्थक है । गर्ज शब्दार्थक है । गर्ज शब्दार्थक है । दुर्गापाठ में 'गर्ज गर्ज क्षणं मूढ !' प्रयुक्त है । तर्ज डाटना-ताडना देना अर्थ में है । कर्ज पीडाजनक व्यापारार्थहै । खर्ज पूजनार्थक है ।

अज गतिक्षेपणयोः । अजति ।

अज धातु का गति एवं क्षेपण = फेंकना अर्थ है । लट् में 'अजति' रूप हुआ । लिट् आदि में विशेष सूत्रों द्वारा विशेष कार्य बोधन करते हैं ।

२२९३ अजेर्व्यघञपोः २।४।५६।

अजेर्वी इत्ययमादेशः स्यादार्धधातुकविषये घञमपं च वर्जयित्वा। वलादावार्धधातुके वेष्यते । विवाय । विव्यतुः । विव्युः । अत्र वकारस्य हल्-

परत्वादुपधायां चेति दीर्घे प्राप्ते'अचः परस्मिन्नि'ति स्थानिवद्भावेनाच्-परत्वम्। न च 'नपदान्ते'ति निषेधः, 'स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेश एव न स्थानिवदि'त्युक्तेः। थलि 'एकाच' इतीण्निषेधे प्राप्ते।

आर्धधातुक प्रत्यय के विषय में अज धातु के स्थान में वी आदेश होता है, घञ् प्रत्यय एवं अप् प्रत्यय के विषय को छोड़कर। वलादि आर्धधातुक प्रत्यय के विषय में वी आदेश विकल्प से होता है। लिट् में विवाय। विव्यतुः विव्युः। 'एरनेकाच्' से यणादेश के बाद वकार हल्परक है अतः यहाँ 'उपधायां च' से दीर्घ प्राप्त है किन्तु 'अचः परस्मिन्' से यणादेश का स्थानिवद्भाव से हल्परत्वाभावबुद्धि होने से दीर्घ न हुआ। अर्थात् अच्परत्ववती बुद्धि हुई। 'न पदान्त' से स्थानिवद्भाव का निषेध यहाँ न हुआ, क्योंकि प्रथम कह चुके हैं कि स्वर, दीर्घ, यलोप में अभावात्मक लोपरूप आदेश ही स्थानिवत् नहीं होता है। यहाँ तो भावात्मक कार्य यण्रूप आदेश है वह तो स्थानिवृत्तिधर्मवान् होता ही है। थल् में 'आर्धधातुकस्येड् वलादि' से प्राप्त इडागम का 'एकाच' सूत्र से निषेध प्राप्त हुआ।

२२९४ कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि ७।२।१३।

एभ्यो लिट इण्न स्यात्। क्रादीनां चतुर्णां ग्रहणं नियमार्थम्। 'प्रकृत्याश्रयः प्रत्ययाश्रयो वा यावानिण्निषेधः स लिटि चेत्तर्हि क्रादिभ्य एव नान्येभ्य' इति। ततश्चतुर्णां थलि भारद्वाजनियमप्रापितस्य वमादिषु क्रादिनियमप्रापितस्य चेटो निषेधार्थम्।

कृ सृ भृ वृ स्तु द्रु स्रु श्रु इन से उत्तर वलादि आर्धधातुक लिट् में इट् आगम नहीं होता है। यहाँ 'कृ सृ भृ वृ' इन चार धातुओं का ग्रहण नियमार्थ है। प्रकृति को आश्रयण करके या प्रत्यय को अवलम्बन करके न शब्द से वा शब्द से जितने भी निषेध इट् के प्राप्त रहे वे सभी लिट् में कृ आदि धातुओं के ही उत्तर होते हैं। अन्य के उत्तर नहीं। स्तु द्रु स्रु श्रु इन चार धातुओं का ग्रहण थल् पर रहते भारद्वाज नियम से प्रापित एवं 'व' तथा 'म' में क्रादि नियम से प्रापित इट् के निषेधार्थ है।

विमर्श—यहाँ 'डुकृञ् करणे' 'कृञ् हिंसायाम्' उभय का कृग्रहण से ग्रहण है। एवं 'भृञ् भरणे' 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' उभय का भृ ग्रहण से ग्रहण है। 'सृ गतौ'। 'वृङ् संभक्तौ। वृञ् वरणे' उभय का 'वृ' से ग्रहण है। कृ सृ भृ ये तीन अनुदात्त हैं। अतः प्रकृत्याश्रय निषेध इनसे पर वलादि प्रत्यय को लिट् में 'एकाच्' सूत्र से निषेध प्राप्त होने पर एवं वृङ् वृञ् उदात्त दोनों होने पर भी 'श्र्युकः किति' से प्रत्ययाश्रय निषेध प्राप्त होने पर यह नियम है—कृ आदि चार का ग्रहण नियमार्थ है। क्योंकि इट् निषेध प्राप्त ही था पुनः इड् निषेध करना नियमार्थ ही होता है—कहा है कि "प्राप्तौ सत्याम् आरभ्यमाणो विधिः नियमार्थः" इति एवं स्तु द्रु आदि चार धातुओं का ग्रहण-प्रयोजन भारद्वाज नियमप्रापित इट्-निषेध भी है। अतः यहाँ आठों धातुओं का ग्रहण किया है। 'नेड् वशि' यह प्रक्रम से नञ् शब्द से प्राप्त इट् के अभाव का यह नियम है। न कि विभाषा-लभ्य का, अनन्तरस्येति न्याय से समीपस्थ का ही नियम उचित है। अतः विभाषा-लब्ध भावाभाव से सिषेधिथ। सिषेद्ध, आदि रूपद्वय 'स्वरति'सूत्र से हुए।

वस्तुतः 'यावान्' शब्द से निषेध शब्द से विकल्पार्थक वाशब्द से प्राप्त सभी का ग्रहण है बाध्यसामान्य पक्ष है। अतः 'सिषेधिथ' एक ही रूप इट्रहित रूप असङ्गत ही है, यह मत भाष्य-सम्मत भी है। मूल ग्रन्थ में 'नान्येभ्यः' कथन से 'पेचिव' बभूविव' इत्यादि रूप सिद्ध हुए।

क्रादि नियम से ही 'नेड वशि कृति' इस निषेध की भी अप्रवृत्ति से 'सेदिवान्' आदि प्रयोगों की सिद्धि होती पुनः 'वस्वेकाजादघसाम्' सूत्र क्यों किया ?

वह इट् विधान नियमार्थ है वह व्याख्यान करेगें उस सूत्र के वर्णन समय में। अन्यथा 'बभूवान्' यहाँ इडागम प्रवृत्तिरूप आपत्ति होगी। यहाँ कोई शङ्का करता है कि क्रादिनियम जो क्रिया यहाँ विपरीत नियम इस प्रकार का होगा—"क्रादिभ्यश्चेदिण् स्यात्तर्हि लिट्येव" इस नियम से 'कर्ता' 'अकार्षीत्' यहाँ इडागमापत्ति होगी। विपरीत नियम का विपरीत फल से। यह कथन उचित नहीं है। 'कृते ग्रन्थे' 'तमधीष्टो भृतः' 'परिवृतो रथः' इत्यादि निर्देश से यहाँ विपरीत नियम नहीं होता है मूल में 'वमादिषु' में आदि शब्द से 'से' 'ध्वे' वहि एवं महि का ग्रहण करना। तुष्टुषे, तुष्टुध्वे। तुष्टुवहे। तुष्टुमहे।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि क्रादिनियम प्रकृत्याश्रय निषेध का नियम करें। प्रत्ययाश्रय नियम का यहाँ सम्भव ही नहीं है। वृञ् ग्रहण का प्रयोजन 'ववर्थ' यहाँ अप्राप्त इट् निषेध का वह प्रापक है। यहाँ प्रत्ययाश्रय निषेध प्राप्त ही नहीं है क्योंकि थल् प्रत्यय अकित् है। न प्रकृत्याश्रय निषेध प्राप्त है, क्योंकि वृञ् धातु उदात्त है। वृङ् का नियमपर व्याख्या सम्भव है, उसका सूत्र में विशेष रूप से ग्रहण नहीं है अतः यह कथन भी उचित नहीं है। यद्यपि विशेष रूप से वृञ् का भी ग्रहण नहीं है तो भी अप्राप्त-निषेधप्राप्तिफलक वह है।

किञ्च यहाँ वृ पद से वृञ् का ही ग्रहण होगा विधि एवं नियम दोनों में जहाँ तक सम्भव हो विधि पक्ष ही उचित है। लाघव है। "विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान्"। नियम में सामान्य शास्त्र के उद्देश्य में तदतिरिक्तत्वेन संकोच शास्त्रबाध आदि अनेक ज्ञानप्रयुक्त गौरव है। तथा च 'बभूविव' यहाँ 'श्र्युकः किति' से इट् निषेध होना चाहिये।

इस पूर्वपक्षी की शङ्का का समाधान यह है—'बभूथाततन्थ' सूत्र में 'ववर्थ' वेद में इट् की अप्रवृत्ति के लिए निपातन किया है। इससे सिद्ध है कि भाषा में वृञ् से थल् को इट् आगम होता है। अतः वृग्रहण थल्विपयक नहीं है वमादि में कित्त्व से वृग्रहण नियमार्थ है। यह पक्ष दृढ एवं स्थिर है।

२२९५ अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् ७।२।६१।

उपदेशेऽजन्तो यो धातुस्तासौ नित्यानिट् ततः परस्य थल इण् न स्यात्।

उपदेश अवस्था में अजन्त एवं तास् में नित्य अनिट् ऐसे धातु से पर जो थल् उसको इट् का आगम नहीं होता है।

२२९६ उपदेशेऽत्वतः ७।२।६२।

उपदेशेऽकारवतस्तासौ नित्यानिटः परस्य थल इण्न स्यात्।

उपदेश अवस्था में अकार से युक्त अर्थात् अकार घटित धातु से पर तास् उसमें अनिट् रहे ऐसा जो धातु उससे पर जो थल् उसको इट् आगम नहीं होता है।

२२९७ ऋतो भारद्वाजस्य ७।२।६३।

तासौ नित्यानिट ऋदन्तादेव थलो नेट् भारद्वाजस्य मतेन। तेनान्यस्य स्यादेव।

भारद्वाज मुनि के मत से तास् प्रत्यय में नित्य अनिट् ऐसा ऋकारान्त धातु से ही थल् को इट् आगम नहीं होता है। इस नियम से ऋकारान्त भिन्न से पर थल् का इट् होता है। पाणिनिमत में नहीं अतः वैकल्पिक इट् का विधान लब्ध हुआ।

अयमत्र संग्रहः—

"अजन्तोऽकारवान् वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम्।
ऋदन्त ईदृङ् नित्यानिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत्"।

न च स्तुद्रुवादीनामपि थलि विकल्पः शङ्क्यः, 'अचस्तास्वदिति' उपदेशेऽत्वत इति च योगद्वयप्रापितस्यैव हि प्रतिषेधस्य भारद्वाजनियमो निवर्तकः; अनन्तरस्येति न्यायात्। विवयिथ। विवेथ। आजिथ। विव्यथुः। विव्य। विवाय। विवय। विव्यिव। विव्यिम। वेता। अजिता। वेष्यति। अजिष्यति। अजतु। आजत्। अजेत्। वीयात्।

यहाँ यह संग्रह है। अजन्त एवं अकारवान् धातु तास् में अनिट् रहे तब धातु से पर थल् को सूत्रकार के मत में इट् नहीं एवं भारद्वाज मुनि के मत में इट्, इससे सारांश यह प्राप्त हुआ कि थल् को विकल्प से इट् आगम होता है। ऋकारान्त धातु से पर तास् को नित्य यदि इट् का अभाव है तो इट् निषेध ऋकारान्त से पर थल् को होगा, अन्य जो ऋकारान्त से भिन्न है उनको इडागम से वे लिट् में सेट् = इट् युक्त ही रहेंगे। यह पाणिनि-मत से भिन्न मत है। भारद्वाज-नियम से स्तु द्रु आदि से पर थल् को भी विकल्प से इट् बोधन क्यों नहीं करता?

समाधान—'अनन्तरस्य' न्याय जो बाध्यविशेषचिन्तापक्ष में आश्रीयमाण है उससे 'अचस्तास्वत्'। एवं—'उपदेशेऽत्वतः' यह सूत्रद्वय प्राप्त निषेध का ही वह नियमन नियम से करता है, अन्य का नहीं। अर्थात् क्रादि नियम से प्राप्त का नहीं। अकारवान् धातु ऋकारान्त सम्भव नहीं अतः केवल 'उपदेशेऽत्वतः' का नियमन नियम नहीं करता है। तब केवल 'अचस्तास्वत्' मात्र का नियमन नियम क्यों नहीं करता? "उपदेशेऽचस्तास्वत्" ऐसा सूत्र करने पर भी 'तास्वत् थलि' इत्यादि पदों की तरह उपदेश की अनुवृत्ति 'अत्वतः' में उपदेश पद की, 'अचः' पूर्वसूत्र में 'तास्वत् थलि' के कारण से उभय का समान योगक्षेम है यह ज्ञापन है। इसलिए इष्टानुरोध से योगद्वय का भी भारद्वाजनियम नियामक = व्यावर्तक है। वे योगद्वय व्यावर्त्य हैं। यदि योगद्वय यथाश्रुत एक ही कर देंगे तो प्रकृत में की गई शङ्का का लेशमात्र ही नहीं है।

कोई कहता है कि अचस्तास्वत् के बाद ऋतो भारद्वाजस्य उसके बाद उपदेशेऽत्वतः तब पूर्वत्वेन परत्वेन च सामीप्य लेकर दोनों सूत्र का भारद्वाजनियम व्यावर्तक होता है। यह कथन भी ठीक है। इससे यह सार निकला कि अजन्त, अकारवान् में विकल्प से इट् एवं इट् का अभाव मुनिद्वय के मतभेद प्रयुक्त होता है। यथा 'विवयिथ' यहाँ भारद्वाजमत से इट् पाणिनिमत से इट् का अभाव से विवेथ। वलादि आर्धधातुक में वी आदेश विकल्प से पक्ष में 'आजिथ' रूप हुआ। 'विव्यिव' आदि में क्रादिनियम से नित्य इट् आगम हुआ। वेता अजिता वेष्यति अजिष्यति। आशीर्लिङ् में वीयात।

२२९८ सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ७।२।१।

इगन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्यात्परस्मैपदे परे सिचि। अवैषीत्। आजीत्। अवेष्यत्। आजिष्यत्।

इक है अन्त में जिसको ऐसा जो अङ्ग उसका जो अन्त्य अल् उसकी वृद्धि होती है परस्मैपद-संज्ञक प्रत्ययपरक सिच् पर रहते। यथा अवैषीत्। पक्ष में आजीत्। अवेष्यत्। पक्ष में आजिष्यत् । ४९।

तेज पालने। तेजति। ४६। खज मन्थे। खजति। ५०। खजि गति-वैकल्ये। खञ्जति। ५१। एजृ कम्पने। एजाञ्चकार। ५२। टुओस्फूर्जा वज्रनिर्घोषे। स्फूर्जति। पुस्फूर्ज। ५३।

क्षि क्षये। अकर्मकः अन्तर्भावितण्यर्थस्तु सकर्मकः। क्षयति। चिक्षाय। चिक्षियतुः। चिक्षियुः। चिक्षयिथ। चिक्षेथ। चिक्षियिव। चिक्षियिम। क्षेता।

तेज धातु रक्षार्थक है। खज धातु मन्थनार्थक है। खजि धातु लंगड़ा अर्थ में है। एजृ कम्प-नार्थक है। एजाञ्चकार। यहाँ 'इजादेश्च' से आम् लिट्परक कृञ् का अनुप्रयोग है। टु की ओ की आ की इत्संज्ञायुक्त स्फूर्ज धातु वज्रजन्यशब्दार्थक है। पुस्फूर्ज में 'शर्पूर्वाः खयः।' सूत्र हलादि-शेष को बोधकर प्रवृत्तिमत् है।

क्षि धातु क्षयार्थक अकर्मक है। चैत्रः क्षयति—यहाँ क्षय रूप फल एवं तद्जनक व्यापार वे दोनों चैत्ररूप कर्तृनिष्ठ है। फल व्यापार एकनिष्ठ रहे वह अकर्मक है। णेरर्थः ण्यर्थः अन्तर्भावितः = धात्वर्थकुक्षिप्रविष्टः ण्यर्थः = प्रेरणारूपोऽर्थो यस्य सः = णिजर्थ प्रेरणारूप अर्थ जहाँ धात्वर्थ कुक्षिस्थ रहे वह धातु सकर्मक है। क्षय करवाना यह अर्थ क्षि का रहे तब सकर्मक है। लट् में शप् गुण अयादेश से क्षयति। लिट् में लिट् तिप् णल् अ द्वित्वादि एवं 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि आय् आदेश चिक्षाय। चिक्षियतुः। यहाँ 'अचिश्नु' से इयङादेश है। भारद्वाजमत में इट् चिक्षयिथ। पाणिनिमत में चिक्षेथ। क्रादिनियम से नित्य इट् चिक्षियिव। चिक्षियिम। 'क्षेता' में लुट् तिप् डा तास् टिलोप गुण।

२२९९ अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७।४।२५।

अजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्याद् यादौ प्रत्यये परे न तु कृत्सार्वधातुकयोः। क्षीयात्। अक्षैषीत्। ५४। क्षीज अव्यक्ते शब्दे। कूजिना सहायं पठितुं युक्तः। चिक्षीज। ५५। लज लजि भर्त्सने। ५७। लाज लाजि भर्जने च। ५६। जज जजि युद्धे। ६१। तुज हिंसायाम्। तोजति। तुतोज। ६२। तुजि पालने। । ६३। गज गजि गृज गृजि मुज मुजि शब्दार्थाः। ६६। गज मदने च। ७१। वज व्रज गतौ। वदव्रजेति वृद्धिः। अव्राजीत्। ७२।

अजन्त अङ्ग के अन्त्य अच् का दीर्घ होता है यकारादि प्रत्यय पर रहते, किन्तु कृद् यकार एवं सार्वधातुक यकार पर रहते दीर्घ नहीं होता है।

विमर्श—यहाँ यहाँ दीर्घ पर श्रवण से 'अचश्च' परिभाषा की उपस्थिति हुई। अच् विशेषण अङ्गविशेष्य तदन्तविधि से 'अजन्ताङ्गस्य' अर्थ का लाभ हुआ। अयङ् यि क्ङिति से 'यि' की अनुवृत्ति उसका प्रत्यय विशेष्य 'यस्मिन् विधौ' परिभाषा से तदादि विधि कर 'यादौ प्रत्यये' अर्थ हुआ। 'प्रकृत्य' यहाँ कृत्संज्ञक यकार है अतः दीर्घ न हुआ। यहाँ अकृत न कहते तो तुक् को बोधकर

परत्व के कारण दीर्घ होता। 'अभिचित्' यहाँ तुक् विधि कृतार्थ है। 'चिनुयात्' यहाँ सार्वधातुक यकार है अतः दीर्घ न हुआ।

सूत्र का उदाहरण है क्षीयात्। लुङ् में 'सिचि वृद्धिः' से वृद्धि अक्षैषीत्।

क्षीज धातु अस्पष्ट शब्दार्थक है। कूज धातु जो प्रथम निर्दिष्ट है उसी के साथ इसको पढ़ना उचित था। किन्तु वहाँ भूल गये अतः यहाँ इसको पढ़ा है। लज एवं लाजि भर्जनार्थक है = पाकार्थक है। लाज एवं लाजि भर्त्सन = डाटना फटकारना अर्थ में है। जज एवं जजि युद्धार्थक है। तुज हिंसार्थक है। लुजि पालनार्थक = रक्षार्थक है। गज आदि छः धातु शब्दार्थक है। गज धातु मदन = चित्तविकारार्थक है। बज, व्रज गत्यर्थक = उत्तरदेशसंयोगजनक व्यापारार्थक है। लुङ् में 'वद व्रज' से वृद्धि अव्राजीत्।

अथ टवर्गीयान्ताः शाड्यन्ता अनुदात्तेतः षट्त्रिंशत्।

अट्ट अतिक्रमहिंसयोः। दोपधोऽयम्। तोपध इत्येके। अट्टते! आनट्टे।।१। वेष्ट वेष्टने। विवेष्टे।२। चेष्ट चेष्टायाम्। अचेष्टिष्ट।३। गोष्ट लोष्ट संघाते। जुगोष्टे।४। लुलोष्टे।५। घट्ट चलने। जघट्टे।६। स्फुट विकसने। स्फोटते। पुस्फुटे।७। अठि गतौ। अण्ठते। आनण्ठे।८। वठि एकचर्यायाम्। ववण्ठे।९। मठि कठि शोके। शोक इह आध्यानम्। मण्ठते।१०। कण्ठते।११। मुठि पालने। मुण्ठते।१२। हेठ विबाधायाम्। जिहेठे।१३। एठ च। एठाञ्चक्रे।१४। हिडि गत्यनादरयोः। हिण्डते। जिहिण्डे। हुडि संघाते। जुहुण्डे।१६। कुडि दाहे। कुण्डते। चुकुण्डे।१७।

वडि विभाजने। मडि च। ववण्डे। १९। भडि परिभाषणे। परिहासः सनिन्दोपालम्भश्च परिभाषणम्। बभण्डे।२०। पिडि संघाते। पिपिण्डे।२१। मुडि मार्जने। मार्जनम्=शुद्धिर्न्यग्भावश्च। मुण्डते।२२। तुडि तोडने। तोडनं दारुणं हिंसनं च। तुण्डते।२३। हुडि वरणे। वरणं स्वीकारः। हरण इत्येके। हुण्डते।२४। चडि कोपे। चण्डते।२५। शडि रुजायां संघाते च। शण्डते।२६। तडि तोडने।२७। पडि गतौ। पण्डते।२८। कडि मदे। कण्डते।२९। खडि मन्थे।३०। हेड़ होड़ अनादरे। जिहिडे।३१। जुहोडे।३२। वाडृ आप्लाव्ये। वशादिः। आप्लाव्यम्=आप्लावः। बाडते।३३। द्राडृ ध्राडृ विशरणे। द्राडते।३४। ध्राडते।३५। शाडृ श्लाघायाम्।३६। शाडते।

शाड् है अन्त में जिनको ऐसे टवर्गीयान्त ३६ धातुओं का यहाँ निर्देश करते हैं। अट्ट धातु अतिक्रमण = उल्लंघन एवं हिंसार्थक है। यह उपदेश अवस्था में दकारोपध अ द् ट् ऐसा है। ण्यन्त में लुङ् में आड्डित् यहाँ 'डि' मात्र का ही द्वित्व हुआ। 'नद्राः' से निषेध प्रयुक्त। यह सिद्धान्त पक्ष है। कोई इसको 'अत् ड' ऐसा भी मानता है। वेष् धातु वेष्टनार्थक है = लपेटना चारो ओर से बाँधना अर्थ में है।

चेष्ट चेष्टार्थक है। गोष्ट लोष्ट संघातार्थक है। घट्ट चलनार्थक है। स्फुट विकसनार्थ है। अठि गत्यर्थक वठि एकचर्या में है अर्थात् सहायक विना एकाकी गमनार्थ है। रक्षार्थक मुठि है। हेठ धातु विबाधा में है। एठ धातु भी उसी अर्थ में है। हिडि गत्यर्थक एवं अनादरार्थक है। हुडि संघातार्थक है। कुडि दाहार्थक है।

वडि विभाजन = पृथक् करणार्थक है। मडि परिभाषणार्थक है। 'यः सनिन्द उपालम्भस्तत्र स्याद् परिभाषणम्।' इत्यमरः। कोषप्रामाण्य से निन्दायुक्त डाटने में इसका प्रयोग है। पडि संघातार्थक है। मुडि मार्जनार्थक है। मार्जन = शुद्धिजनक व्यापार। एवं न्यग् भावार्थक है। तुडि तोडन = विदारण एवं हिंसार्थक है। हुडि वरण = स्वीकारार्थक है। कोई इसको हरणार्थक भी कहते हैं। चडि कोपार्थक है। शडि पीडार्थक संघातार्थक भी है। तडि तोडनम् = विदारण एवं हिंसा में है। पडि गत्यर्थक है। कडि मद अहङ्कार, गर्वार्थक है। खडि विलोडनार्थक भी है। हेडृ होडृ अपमानार्थक है। वाडृ धातु आप्लाव अर्थ में है। यह वशादि है। द्राडृ ध्राडृ विशरणार्थक है। शाडृ विशरणार्थक है। शाडृ का आत्मगुण प्रकाशनार्थ व्यापार रूपार्थक है।

अथ आटवर्गीयान्तसमाप्तेः परस्मैपदिनः।

शौटृ गर्वे। शौटति। शुशौट। १। यौटृ बन्धे। यौटति। २। म्लेटृ म्रेडृ उन्मादे। द्वितीयो डान्तः। टान्तमध्ये पाठस्तु अर्थसाम्यान्नाथतिवत्। म्लेटति। ३। म्रेडति। ४। कटे वर्षावरणयोः। चटे इत्येके। चकाट। सिचि अतो हलादेरिति वृद्धौ प्राप्तायाम्।

अब टवर्गीयान्त समाप्ति पर्यन्त परस्मैपदी धातु कहे हैं। शौटृ धातु गर्वार्थक है। योटृ धातु बन्धनार्थक है। म्लेटृ म्रेडृ का उन्माद = उद्दण्डता अर्थ है। द्वितीय धातु डान्त है। टान्त के मध्य में डान्त का पाठ अर्थतुल्यता प्रयुक्त है। यथा नाथ् का पाठ अन्य प्रकरण में किया है तथैव यहाँ। एकारानुबन्ध युक्त कटे का वर्षा एवं आवरणार्थक है। कोई चटे पाठ करता है। लुङ् में सिच् पर रहते 'अतो हलादे' सूत्र से वृद्धि निषेधक सूत्र वक्ष्यमाण है।

२३०० ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् ७।२।५।

ह्मयान्तस्य क्षणादेर्ण्यन्तस्य श्वयतेरेदितश्च वृद्धिर्न स्यादिडादौ सिचि। अकटीत्। ६।

हट् है आदि में जिसको ऐसे सिच् प्रत्यय पर रहते हकारान्त, मकारान्त, यकारान्त एवं क्षण श्वस जागृ एवं ण्यन्त धातु, श्वि, एकार की इत्संज्ञायुक्त धातु उनकी वृद्धि नहीं होती है। यथा 'अकटीत्' यहाँ एकार की इत् संज्ञावाला यह धातु है अतः 'अत उपधायाः' से प्राप्त वृद्धि का निषेध है।

अट पट गतौ। आट। आटतुः। आटुः। ७। पपाट। पेटतुः। पेटुः। ८। रट परिभाषणे। रराट। ९। लट बाल्ये। ललाट। १०। शट रुजा विशरणगत्यवसादनेषु। शशाट। ११। वट वेष्टने। ववाट। ववटतुः। ववटुः। ववटिथ। १२। किट खिट त्रासे। केटति। १३। खेटति। १४।

शिट षिट अनादरे। शेटति। शिशेट। १५। सेटति। सिषेट। १६। जट झट संघाते। १८। भट भृतौ। १९। तट ऊच्छ्राये। २०। खट काङ्क्षायाम्। २१। णट भृतौ। २२। पिट शब्दसंघातयोः। २३। हट दीप्तौ। २४। षट अवयवे। २५। लुट विलोडने। डान्तोऽयमित्येके। २७। चिट परप्रेष्ये। २८। विट शब्दे। २९। बिट आक्रोशे। बशादिः। हिटेत्येके। ३१। इट किट कटी गतौ। एटति। ३२। केटति। ३३।

कटति। ईकारः श्वीदितो निष्ठायामितीण्निषेधार्थः। केचित्तु इदितं मत्त्वा नुमि कृते 'कण्टति' इत्यादि वदन्ति। अन्ये तु इ ई इति प्रश्लिष्य अयति। इयाय। इयतुः। इयुः। इययिथ-इयेथ। इयाय। इयय। दीर्घस्य त्विजादेरित्यामि अयाञ्चकारेत्यादि उदाहरन्ति। ३५। मडि भूषायाम्। ३६। कुडि वैकल्ये। ३७। कुण्डति। 'कुण्डते' इति तु दाहे गतम्। ३८। मुड प्रुड मर्दने। ३९। चुडि अल्पीभावे।

अट पट धातु गत्यर्थक है। रट धातु परिभाषणार्थक है। लट धातु बाल्यार्थक = चपलार्थक है। चाञ्चल्यार्थक है। शट धातु पीड़ा विशरण गति एवं नाशार्थक है। वट धातु वेष्टनार्थक है। वादि होने से 'न शस' से लिट् में एत्वाभ्यासलोप नहीं होता है। किट, खिट, त्रासार्थक है = पीडार्थक। शिट षिट अपमानार्थक है। आदि षकारका सकारादेश 'धात्वादेः' से हुआ। जट झट संघातार्थक है। भट भृत्यर्थक है। तट उच्छ्रायार्थक है। खट किसी वस्तु की प्राप्तिविषयिणी इच्छा तज्जनक व्यापारर्थक है। भट भृति अर्थ में है। पिट शब्दार्थक एवं संघातार्थक है। इट दीप्त्यर्थक है। दीप्ति = प्रकाश।

शट अवयवार्थक है। लुट विलोडनार्थक है। यह डकारान्त भी एक आचार्य कहते हैं। चिट परप्रेष्यार्थक है। विट शब्दार्थक है। बिट आक्रोश = निन्दार्थक है। बशादि है। कोई हिट धातु आक्रोश अर्थ में पढ़ते हैं। इट् किट् कटी गत्यर्थक है। दीर्घ ईकारकी इत्संज्ञा 'श्वीदितो निष्ठायाम्' की प्रवृत्ति के लिए है। उससे इट् का निषेध होता है। कोई इसको ह्रस्व इकार की इत्संज्ञायुक्त मान कर 'इदितोः' सूत्र से नुम् आगम करते हैं। कण्टति।

कटी में 'इ ई' ऐसा प्रश्लेष करते ह्रस्व इकार धातु का अयति, इयाय, इयतुः, इयुः, इययिथ, इयेथ, आदि रूप होता है। एवं ईधातु का 'इजादेः' से लिट् में आम् से 'अयाञ्चकार' ऐसा रूप हुआ। मडि भूषा = अलङ्करणार्थक है। कुडि वैकल्यार्थक है। कुडि दाहार्थक प्रथम कह चुके हैं जिसका रूप 'कुण्डते' हुआ है, वह आत्मनेपदी है। मुड प्रुड मर्दनार्थक है। चुडि अल्पभवनार्थक है।

मुडि खण्डने मुण्डति। ४०। पुडि इत्येके। पुण्डति। ४१। रुटि लुटिस्तेये। रुण्टति। ४२। लुण्टति। ४३। रुठि लुठि इत्येके। ४५। रुडि लुडि इत्यपरे। ४७। स्फुटिर विशरणे। इदित्वादङ् वा। अस्फुटत्। अस्फोटीत्। ४८। स्फुटीत्यपि केचित्। इदित्त्वान्नुम्। स्फुण्टति। ४९। पठ व्यक्तायां वाचि। पेठतुः। पेठिथ। अपठीत्। अपाठीत्। ५०। वठ स्थौल्ये। ववठतुः। ववठिथ।

। ५१। मठ मदनिवासयोः। ५२। कठ कृच्छ्रजीवने। ५३। रट परिभाषणे। रठ इत्येके। हठ प्लुतिशठत्वयोः। बलात्कारे इत्येके। हठति। जहाठ। रुठ लुठ उठ उपघाते। ओठति। ५६। ऊठेत्येके। ऊठति। ऊठाञ्चकार। ६०।

पिठ हिंसासंक्लेशनयोः। ६१। शठ कैतवे च। ६२। शुठ प्रतिघाते। शोठति। ६३। शुठीति स्वामी। शुण्ठति। ६४। कुठि च। कुण्ठति। ६५।

लुठि आलस्ये प्रतिघाते च । ६६ । शुठि शोषणे । ६७ । रुठि लुठि गतौ । ६६ । चुड्ड भावकरणे । भावकरणम् = अभिप्रायसूचनम । चुड्डति । चुचुड्ड । अड्ड अभियोगे । अड्डति । आनड्ड ।

। ७१ । कड्ड कार्कश्ये । कड्डति । ७२ । चुड्डादयस्त्रयो दोपधाः । तेन क्विपि चुत, अत्, कत् इत्यादि । क्रीडृ विहारे । चिक्रीड । ७३ । तुडृ तोडने । तोडति । तुतोड । ७४ । तूडृ इत्येके । ७५ । हुडृ हूडृ होडृ गतौ । हुड्यात् । हूड्यात् । होड्यात् । ७८ । अड उद्यमे । अडति । अडति । आड । आडतुः । आडुः । ८२ । लड विलासे । लडति । ८३ । डलयोर्लरयोश्चैकत्व-स्मरणाल्लालतीति स्वाम्यादयः । कड मदे कडति । ८४ । कडि इत्येके । कण्डति । ८५ । गडि वदनैकदेशे । गण्डति । ८६ ।

इति टवर्गीयान्ताः ।

मडि खण्डनार्थं है । कोई पुडि को भी इस अर्थ में कहते हैं । रुटि लुडि चौर्य कर्म में = तस्कर वृत्ति में यह प्रयुक्त होता है । यहाँ इसी अर्थ में कोई रुटि एवं लुटि को पढ़ते हैं । रुडि लुडि भी इसी अर्थ में है । स्फुटिर् विशरणार्थक है । यहाँ इर् की इत्संज्ञा है, अतः लुङ् में च्लि को अङ् विकल्प से हुआ । अस्फुटत् । अस्फोटीत् । कोई स्फुटि को पढ़ता है यहाँ ।

पठ धातु व्यक्त = स्पष्ट शब्दकर्मक उच्चारण क्रियार्थक है । पठति । पठतः । पठन्ति । पठसि । पठथः । पठथ । पठामि । पठावः । पठामः । पपाठ । पेठतुः । पेठुः । पेठिथ । पेठथुः पेठ । पपाठ, पपठ । पेठिव । पेठिम । पठिता । पठितारौ । पठितारः । पठिष्यति । पठिष्यतः पठिष्यन्ति । पठतु पठतात् पठताम् पठन्तु । पठ । पठतम् । पठत । पठानि । पठाव । पठाम । अपठत् । अपठताम् । अपठन् । अपठः । अपठतम् । अपठत । अपठम् । अपठाव । अपठाम । पठेत् । पठेताम् । पठेयुः । पठ्यात् । पठ्यास्ताम् । पठ्यासुः । अपाठीत् । अपाठिष्टाम् अपाठिषुः । अपाठीः । अपाठिष्टम् । अपाठिष्ट । अपाठिषम् । अपाठिष्व । अपाठिष्म । पक्ष में वृद्धि का 'अतो हलादेः' से अभाव हुआ वहाँ अपठीत् । अपठिष्टाम् । अपठिषुः । अपठिष्यत् । आदि ।

वठ धातु स्थूलताजनक व्यापारार्थक है । वकारादित्वप्रयुक्त एत्वाभ्यासलोप लिट् में न हुआ । मठ धातु मद एवं निवासार्थक है । कठ कष्टपूर्वक जीवन यापनार्थक है । रट परि-भाषणार्थक है । रठ भी कोई पढ़ता है । हठ धातु शीघ्र गमन एवं शठत्वजनक व्यापारार्थक है । कोई इसे बलात्कार में प्रयोग करता है । रुठ लुठ उठ उपघातार्थक है । यहाँ कोई ऊठ पढ़ता है उसके मत में लिट् में 'इजादेः' से आम् होगा । पिठ हिंसा एवं संक्लेशन अर्थ में है । शठ धूर्तताजनक व्यापारार्थक है । शुठ प्रतिघात = सामने मारना अर्थ में है । स्वामी शुठि को भी पढ़ते हैं । कुठि भी पूर्वार्थक है ।

लुठि आलस्य प्रकटनार्थक एवं मारने वाले को मारने वाला इस अर्थ में है । शुठि शोषणा-र्थक है । रुठि एवं लुठि गमनार्थक है । चुड्ड = अभिप्राय का प्रकाशन जनक व्यापारार्थक है । अड्ड धातु अभियोगार्थक है । कुड्ड का कठोरताजनक व्यापारार्थक है । चुड्ड से तीन धातु दकारोपध है इनसे क्विप्, संयोगान्त लोप में कुत्, चुत्, कत् रूप है । क्रीट विहार = परि-भ्रमण = पर्यटन अर्थ वाला है । तुडृ - तोडन = विदारण एवं हिंसार्थक है । कोई तूडृ भी पढते हैं । हुडृ हूडृ होडृ वे गमनार्थक हैं ।

रोडृ अनादरार्थक है। रोडृ लोडृ उन्मादावस्था में है। अड उद्यमार्थक है। लड धातु विलास में है। डकार, लकार एवं रकार लकार इनका परस्पर एकत्व स्मरण के कारण 'ललति' रूप हुआ यह स्वामी मत है। कड गर्वार्थक हैं। कडि कोई पढते हैं। गडि मुख का एक अवयवार्थक है। टवर्गीयान्त सम्पूर्ण धातु कहे गये।

अथ पवर्गीयान्ताः। तत्रानुदात्तेतः स्तोभत्यन्ताश्चतुस्त्रिंशत्। तिपृ तेपृ ष्टिपृ ष्टेपृ क्षरणार्थाः। आद्योऽनुदात्तः। क्षीरस्वामी त्वयं सेडिति बभ्राम। तेपते। तितिपे। क्रादिनियमादिट्। तितिपिषे। तेप्ता। तेप्स्यते।

सम्प्रति पवर्गीयान्त धातु कहते हैं। उनमें भी स्तोभतितक ३४ धातु अनुदात्त की इत्संज्ञक है। तिपृ आदि चार धातु क्षरण अर्थ में हैं। आदि अनुदात्त है। किन्तु क्षीरस्वामी को भ्रम हुआ कि यह सेट् है। तितिपिषे में क्रादि नियम से इट् हुआ। तितिपिषे।

२३०१ लिङ्सिचावात्मनेपदेषु १।२।११।

इक्समीपाद्धलः परौ झलादी लिङ् आत्मनेपदपरः सिच्चेत्येतौ कितौ स्तः। कित्त्वान्न गुणः। तिप्सीष्ट। तिप्सीयास्ताम्। तिप्सीरन्। लुङि,'झलो झलि' इति सलोपः। अतिप्त। अतिप्साताम्। अतिप्सत। तेपते। तितेपे। तिष्टिपे। तिष्टिपाते। तिष्टिपिरे। तिष्टेपे। तिष्टेपाते। तिष्टेपिरे।

तेपृ कम्पने च। ४। ग्लेपृ दैन्ये। ग्लेपते। ५। टुवेपृ कम्पने च। वेपते।६। केपृ गेपृ ग्लेपृ च। चात् कम्पने गतौ च। सूत्रविभागादिति स्वामी। मैत्रेयस्तु चकारमन्तरेण पठित्वा कम्पने इत्यपेक्षत इत्याह। ग्लेपेरर्थभेदात् पुनः पाठः। मेपृ रेपृ लेपृ गतौ। १२ त्रपूष् लज्जायाम्। त्रपते।

इक् समीपस्थ हल् से परे झलादि लिङ् एवं झलादि सिच् आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय से पूर्व रहें तो वे दोनों कित् होते हैं। कित्त्व के कारण गुण न हुआ तिप्सीष्ट आदि में। 'अतिप्त' यहाँ झलो झलि से सकार का लोप हुआ। तेपृ कम्पनार्थक है। ग्लेपृ दैन्य अर्थ में है।

टुवेपृ कम्पनार्थ में है। यहाँ टुकार एवं ऋकार की इत्संज्ञा लोप है। केपृ आदि भी कम्पनार्थक एवं गत्यर्थक है। स्वामी कहते हैं कि सूत्रविभाग से यह अर्थ है। मैत्रेय तो चकारघटित पाठ नहीं करते। अतः कम्पनार्थक हैं। अर्थभेद से ग्लप् का पाठ है। मेपृ आदि गति अर्थ में है। त्रपूष् धातु लज्जाजनक व्यापारार्थक है। त्रपते लज्जाम् अनुभवति।

२३०२ तॄफलभजत्रपश्च ६।४।१२२।

एषामत एकारोऽभ्यासलोपश्च स्यात् किति लिटि, सेटि थलि च। त्रेपे। त्रेपाते। त्रेपिरे। ऊदित्वाद् इड्वा। त्रपिता-त्रप्ता। त्रपिषीष्ट-त्रप्सीष्ट। १३। कपि चलने। कम्पते। चकम्पे। १४। रबि लबि अबि शब्दे। ररम्बे। ललम्बे। आनम्बे। लबि अवस्रंसने च। १७। कबृ वर्णे। चकबे। १८। क्लीबृ अधार्ष्ट्ये। चिक्लीबे। १९। क्षीबृ मदे। क्षीबते। २०।

शीभृ कत्थने। शीभते। २१। चीभृ च। २२। रेभृ शब्दे। रिरेभे। २३।

अभिरभी क्वचित्पठ्येते । अम्भते । २४ । रम्भते । २५ । ष्टभि स्कभि प्रतिबन्धे । स्तम्भते । उत्तम्भते । उदः स्थास्तम्भोरिति पूर्वसवर्णः । विस्तम्भते । स्तन्भेरिति षत्वं तु न भवति, श्नुविधौ निर्दिष्टस्य सौत्रस्यैव तत्र ग्रहणात् । तद्बीजन्तु 'उदःस्थास्तम्भोरि'ति पवर्गीयोपधपाठः । 'स्तन्भेः' इति तवर्गीयोपधपाठश्चेति माधवः । केचिदस्य टकार औपदेशिक इत्याहुः । तन्मते विष्टम्भते । ष्टम्भते । टष्टम्भे । २७ । जृभी जृभि गात्रविनामे ।

कित् लिट् सेट् थल् पर रहते तॄफल भज त्रप इन धातुओं के अकार के स्थान में एकार आदेश एवं अभ्यास का लोप होता है । यथा त्रेपे आदि । स्वरति से ऊदित् के कारण यहाँ विकल्प से इट् का आगम होता है । त्रपिता । त्रप्ता आदि । कपिधातु गत्यर्थ में है । रधि तीन धातु शब्दार्थक है । लबि अधः पतनार्थक है । कब्र चित्रविचित्र वर्णवाचक है ।

क्लीबृ अधृष्टार्थक है । क्षीबृ मदार्थक है । शीभृ = आत्मगुणप्रकाशनार्थक है । शीभृ कत्थनार्थक रेभृ शब्दार्थक है । अभि रभि भी शब्दार्थक है । ष्टभि स्कभि प्रतिबन्ध में है । 'उत्तम्भते' यहाँ 'उद' सूत्र से पूर्वसवर्ण हुआ है । 'विस्तम्भते' यहाँ 'स्तन्भेः' इस सूत्र से सकार को षकारादेश नहीं होता है । 'स्तन्भेः' सूत्र की श्नुविकरणक सौत्र = सूत्रपठित स्तन्भ का ही वहाँ ग्रहण होता है । इसका नहीं । इसमें प्रमाण 'उदः' सूत्र में पवर्गीय वर्ण है उपधा में जिसको ऐसा 'स्तम्भेः' यह पाठ ही है । 'स्तम्भेः' षत्वविधायकशास्त्र में तवर्गीय उपधायुक्त पाठ है । यह माधवाचार्य कहते हैं । इसको टकारोपदेश ही मानते हैं । उनके मत में रूप ष्टम्भते होता है । २७ । जृंभी एवं जृभि गात्र = शरीर बिनाम अर्थ में है ।

२३०३ रधिजभोरचि ७।१।६१।

एतयोर्नुमागमः स्यादचि जम्भते । जम्भिता । अजम्भिष्ट । जृम्भते । जजृम्भे । २९ । शल्भ कत्थने । शशल्भे । ३० । वल्भ भोजने । दन्त्योष्ठ्यादिः । ववल्भे । ३१ । गल्भ धार्ष्ट्ये । गल्भते । श्रम्भु प्रमादे । तालव्यादिर्दन्त्यादिश्च । श्रम्भते । स्रम्भते । ३३ । ष्टुभु स्तम्भे । स्तोभते । विष्टोभते । तुष्टुभे । व्यष्टोभिष्ट । ३४ ।

अच् पर रहते रध् एवं जभ् धातु को नुम् का आगम होता है । यथा जम्भते । अनुस्वार परसवर्ण हुआ । वल्भधातु भोजनार्थक है । दन्त्योष्ठ्य अक्षर आदि में है । वादित्व प्रयुक्त लिट् में एत्वाभ्यास लोप नहीं होता । धृष्टताजनक व्यापारार्थक गल्भ धातु है । श्रम्भु प्रमाद में है । शकारादि एवं सकारादि यह है । स्तम्भ अर्थ में ष्टुभु धातु है । विष्टोभते में 'उपसर्गात्' से षकारादेश है ।

अथ परस्मैपदिनः । गुपू रक्षणे ।

सम्प्रति परस्मैपदी धातु कहते हैं । दीर्घ ऊकार की इत्संज्ञावाला रक्षण अर्थ में गुप् धातु है ।

२३०४ गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः ३।१।२८।

एभ्य आयप्रत्ययः स्यात् स्वार्थे । पुगन्तेति गुणः ।

गुपू, धूप, विच्छि पणि एवं पनि इनसे आय प्रत्यय होता है प्रकृत्यर्थ में । अर्थात् "अनिर्दिष्टार्थाः

प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति" से स्वार्थ में वे प्रत्यय होते हैं जिनका स्वतन्त्र अर्थ नहीं बताया गया है। प्रतीयते अर्थं बोधयति यह प्रत्यय। महासंज्ञा करण से अर्थबोधकता पृथक् नहीं वहां प्रकृत्यर्थ से ही वे स्वार्थिक प्रत्यय अर्थ से युक्त है। 'गुप् आय' यहां आय प्रत्यय की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक संज्ञा हुई अतः 'पुगन्त' सूत्र से लघूपधनिमित्तक गुण कर 'गोपाय' स्वरूप हुआ। यहां धातुसंज्ञा विधायक सूत्र का प्रदर्शन—

२३०५ सनाद्यन्ता धातवः ३।१।३२।

सनादयः कमेर्णिङन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां ते धातुसंज्ञाः स्युः। धातुत्वाल्लडादयः। गोपायति।

सन्, क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, क्यष्, आचार अर्थ में क्विप्, णिच्, यङ्, यक्, आय, ईयङ्, णिङ्, ये १२ सनादि प्रत्यय है अन्त में जिसको ऐसा सन्नन्त का अङ्, उसकी धातुसंज्ञा होती है। सन्नन्त तदादि क्यजन्त तदादि यह अर्थ 'प्रत्ययग्रहणे' परिभाषा के सहकार = सहयोग से प्रत्येक में करना उचित नहीं है। 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' नास्ति है। अतः सूत्र में यहां तदन्त की धातुसंज्ञाऽभाय अन्तग्रहण किया है।

धातुसंज्ञा गोपाय की होने से लडादिप्रत्ययों को उत्पत्ति हुई। शप् के अकार का अतो गुणे से पररूप 'गोपायति गोपायतः गोपायन्ति'।

२३०६ आयादय आर्धधातुके वा ३।१।३१।

आर्धधातुकविवक्षायाम् आयादयो वा स्युः।

आर्धधातुकसंज्ञक प्रत्यय की विवक्षामें आय, ईयङ्, एवं णिङ् विकल्प से होता है।

२३०७ कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि ३।१।३५।

कास्धातोः प्रत्ययान्तेभ्यश्चाम् स्याल्लिटि न तु मन्त्रे। ❀ कास्यनेकाज्ग्रहणं कर्तव्यम् ❀ सूत्रे प्रत्ययग्रहणमपनीय तत्स्थानेऽनेकाच इति वक्तव्यमित्यर्थः।

लिट् पर रहते कास् धातु तथा प्रत्ययान्त से उत्तर आम् प्रत्यय होता है। किन्तु मन्त्र में नहीं होता है। सूत्र में अनेकाच् ग्रहण करना उचित है। अनेकाच् धातुओं से भी आम् होता है, कास् की तरह। इस भाष्य का अभिप्राय व्याख्याता ने यह लगाया कि सूत्र में जो प्रत्ययग्रहण है, उसको निकाल कर उसके ही स्थान में अनेकाच् पढ़ना। किन्तु वास्तविक गूढार्थ विवेचन किया जाय तो यह निष्कर्ष है कि प्रत्ययान्त से आम् प्रत्यय का विधान स्वतन्त्र है। एवं अनेकाच् धातु से आम् विधान भी स्वतन्त्र है "निकाल कर उसके स्थान में अनेकाच्" यह व्याख्यान सर्वथा असङ्गत है, यह गुरु परम्परया मुझे ज्ञात है यही मैंने यहां लिखा है। अतः एकाच् जो प्रत्ययान्त उनसे भी आम् होता है 'स्वाञ्चकार' आदि इस रूप को अनाकर = भाष्यविरुद्ध कहने वालों की उक्ति ही भाष्यार्थ विरुद्ध है। विशेष विचार आगे करेंगे।

२३०८ आर्धधातुके ६।४।४६।

इत्यधिकृत्य।

आर्धधातु के यह अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार कर के अतो लोप को पाणिनिजी कहते हैं 'अतो लोपः' को अतः अधिकार रूपा एका क्रिया, कथनरूपा एका क्रिया, इन दो क्रियाओं का एक कर्ता आचार्य है पूर्वकालिक क्रियावाचक धातु से क्त्वाप्रत्यय गतिसमास कर ल्यप् हुआ। तुक् अधिकृत्य हुआ।

२३०९ अतो लोपः ६।४।४८।

आर्धधातुकोपदेशकाले यदकारान्तं तस्याकारस्य लोपः स्यादार्धधातुके परे। गोपायाञ्चकर। गोपायाम्बभूव। गोपायामास। जुगोप। जुगुपतुः। ऊदित्वाद् वेट्। जुगोपिथ। जुगोप्थ। गोपायिता। गोपिता। गोप्ता। गोपाय्यात्। गुप्यात्। अगोपायीत्। अगोपीत्। अगौप्सीत्। १। धूप सन्ताने धूपायति। धूपायाञ्चकार। दुधूप। धूपायितासि। धूपितासि २।

आर्धधातुक प्रत्यय की उत्पत्ति के पूर्व जो अकारान्त अङ्ग उसका जो अन्त्य वर्ण अर्थात् अकार उसका लोप होता है। अनुदात्तोपदेश से उपदेश का यहां सम्बन्ध है। अय का 'अत्' पय का 'पत्' यहां आकार लोप के अभावार्थ 'उपदेश' ग्रहण है। अय् क्विप् पय क्विप् पूर्वविप्रतिषेध से 'लोपो व्योः' से यकार लोप तुक् से अत् पत् बना है। आर्धधातुके का फल क्रथयति है। यहां वृद्ध करने की प्रसक्ति में अकार का लोप का स्थानिवद्भाव हुआ। आय प्रत्यय अकारान्त से 'गोपाय' धातु स्वर से अन्तोदात्त है। अतः आय् हलन्तादेश पक्ष असङ्गत है। आर्धधातुक में आय् विकल्प से आय पक्ष में गोपाय से आम् लिट् परक कृञ् का अनुप्रयोग से गोपायाञ्चकार हुआ। भू का अनु प्रयोग से गोपायाम्बभूव हुआ। अस् के अनुप्रयोग से गोपायामास हुआ। पक्ष में जुगोप हुआ। थल् में 'स्वरतिः' से विकल्प इट् जुगोपिथ। पक्ष में जुगुप्थ। आय इट् दो विकल्प से तीन रूप। गोपायिता। गोपिता। गोप्ता। आशीर्लिङ् में गोपाय्यात्। पक्ष में गुप्यात्। लुङ् में आय पक्ष में 'अगोपाय इस् ईत्' यहां अकार का लोप सकार का लोप दीर्घ अगोपायीत्। इट् पक्ष में 'नेटि' स वृद्धिनिषेध गुण अगोपीत्। इट् के अभाव में 'वदव्रज' से वृद्धि अगौप्सीत् तीन रूप है। अगौप्ताम् मे सकार का लोप हुआ। धूप धातु सन्ताप अर्थ में है। धूपायति। धूपायाञ्चकार। आय के अभाव में 'दुधूप'। आर्धधातुक में आयविकल्प से दो रूप हुए।

जप जल्प व्यक्तायां वाचि। जप मानसे च। ४। चप सान्त्वने। ५। षप समवाये। समवायः = सम्बन्धः सम्यगवबोधो वा। सपति। रप लप व्यक्तायां वाचि। ८। चुप मन्दायां गतौ। चोपति। चुचोप। चोपिता। ९। तुप तुम्प त्रुप त्रुम्प तुफ तुम्फ त्रुफ त्रुम्फ हिंसार्थाः। तोपति। तुतोप। तुम्पति। तुतुम्प। तुतुम्पतुः। संयोगात् परस्य लिटः कित्त्वाभावान्नलोपो न। किदाशिषीति कित्त्वान्नलोपः। तुप्यात्।

प्रातुम्पतौ गवि कर्तरीति पारस्करादिगणे पाठात् सुट्। प्रस्तुम्पति गौः। शितपा निर्देशाद् यङ्लुकि न। प्रतोतुम्पति। त्रोपति। त्रुम्पति। तोफति। तुम्फति। इहाद्यौ द्वौ पञ्चमषष्ठौ च नीरेफाः। अन्ये सरेफाः। आद्याश्चत्वारः प्रथमान्ताः। ततो द्वितीयान्ताः अष्टावप्युकारवन्तः। १७। पर्प रफ रफि

अर्ब पर्ब लर्ब बर्ब मर्ब कर्ब खर्ब गर्ब शर्ब षर्ब चर्ब गतौ। आद्यः प्रथमान्तः। ततो द्वौ द्वितीयान्तौ।

तत एकादश तृतीयान्ताः। द्वितीयतृतीयौ मुक्त्वा सर्वे रोपधाः। पर्पति। पपर्प। रफति। रम्फति। अर्बति। आनर्ब। पर्बति। लर्बति। बर्बति पवर्गीयादिरयम्। गर्बति। बर्बति। खर्बति। गर्बति। शर्बति। सर्बति। चर्बति। ३१। कुबि आच्छादने। कुम्बति। ३२। लुबि तुबि अर्दने। लुम्बति। तुम्बति। ३४। चुबि वक्त्रसंयोगे। ३५। षृभु षृम्भु हिंसार्थौ। सर्भति। ससर्भ। सर्भिता। सृम्भति। ससृम्भ। सृभ्यात्। ३७। षिभु षिम्भु इत्येके। सेभति। सिम्भति। ३६। शुभ शुम्भ भाषणे। भासने इत्येके। हिंसायामित्यन्ये।

जप् एवं जल्प स्पष्टशब्दार्थक है। जप मानसिक मात्र व्यापार है उसको जप कहते हैं। चप् सान्त्वनार्थक है। षच् धातु समवायार्थक है। समवाय = सम्बन्धार्थक है। नित्य एवं अनेक व्यक्ति में रहने वाला समवाय सम्बन्ध है जाति-व्यक्ति, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् इनका समवाय सम्बन्ध है। 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं सत्ताभिन्नत्वं समवायत्वम्' यह सामान्य लक्षण है। विशेष विचार अन्यत्र है। अथवा अच्छी तरह ज्ञान रूप सम्यक् अवबोधन में यह धातु है। रप् एवं लप् व्यक्तशब्दार्थक हैं। चुप् मन्दगति में है। तुप् आदि आठ धातु हिंसा अर्थ में है। तुतुम्पतु में संयोगपर लिट् कित्त्व न हुआ, अर्थात् 'असंयोगात्' सूत्र की अप्रवृत्ति हुई है। अतः नलोपाभाव यहाँ है। आशिषि कित्त्वप्रयुक्त नलोप है।

प्रशब्द से पर तुम्पति रहे वहाँ उसको सुट् आगम होता है तद्वाच्य क्रिया का कर्ता गो रहे तब। इसका पारस्करादिगण में पाठ प्रयुक्त इस वचन से सुट् हुआ—प्रस्तुम्पति गौः बैल हिंसा करता है यह अर्थ हुआ। 'तुम्पतौ' से श्तिपा निर्देश होने से यङ्लुक् में यह सुट् नहीं होता है। यथा प्रतोतुम्पीति। यहाँ आदि दो धातु एवं पञ्चम तथा षष्ठ धातु रेफरहित है। शेषरेफयुक्त है। आदि चार धातु प्रथमवर्णान्त है। दोमे अन्त में पवर्ग का द्वितीय वर्ण फकार है। ११ धातु बकारान्त है। द्वितीय तृतीयं के विना सभी रोपध है। आच्छादन अर्थ में कुब् है। पीड़ा अर्थ में लुबि तुबि है। मुख का संयोग अर्थात् चुम्बन क्रिया में चुबि धातु है। षृभु षृम्भु हिंसार्थक है। शुभ शुम्भ भाषण अर्थ में है। भासन अर्थ में भी है। हिंसा अर्थ में यह है ऐसा भी किसी का कथन है।

अथानुनासिकान्ताः तत्र कम्यन्ता अनुदात्तेतो दश।

जब अनुनासिकान्त धातुओं का निर्देश करते हैं उनमें कम् धातुतक दश अनुदात्तेत् हैं।

घिणि घुणि घृणि ग्रहणे। नुम्। ष्टुत्वम्। घिण्णते। जिघिण्णे। घुण्णते। जुघुण्णे। घृण्णते। घृण्णते। जघृण्णे। घुण घूर्ण भ्रमणे। घोणते। घूर्णते। इमौ तुदादौ परस्मैपदिनौ। पण व्यवहारे स्तुतौ च। पन च। स्तुतावित्येव सम्बध्यते, पृथङ् निर्देशात्। पनिसाहचर्यात्पणेरपि स्तुतावेवायप्रत्ययः। व्यवहारे तु पणते। पेणे। पणितेत्यादि। स्तुतावनुबन्धस्य केवले चरितार्थत्वाद् दायप्रत्ययान्तान्नात्मनेपदम्। पणायति। पणायाञ्चकार। पेणे। पणायितासि। पणितासि। पणितासे। पणाय्यात्। पणिषीष्ट। पनायति।

पनायाञ्चकार । पेने । ७ । भाम क्रोधे । भामते । बभामे । ८ । क्षमूष् सहने । क्षमते । चक्षमे । चक्षमिषे । चक्षंसे । चक्षमिध्वे । चक्षन्ध्वे । चक्षमिवहे ।

घिणि आदि चार धातु ग्रहण में है । नुम् । णत्व से घिण्णते आदि रूप है । घुण घूर्ण भ्रमण में है । इन दोनों तुदादिगण में पठित भी है वहाँ वे परस्मैपदी है । पणधातु व्यवहार में तथा स्तुति अर्थ में है । पन च में स्तुतिमात्र का ही सम्बन्ध से स्तुति में पन है । व्यवहार में नहीं, यदि उभयत्र रहता तो योग विभाग ही व्यर्थ होता । पनसाहचर्य से पण को भी स्तुति में ही आय प्रत्यय होता है । व्यवहार में 'पणते' यही होता है । लिट् में एत्वाभ्यास लोप में पेणे । पण में अनुदात्त आय रहित में आत्मनेपदार्थ चरितार्थ है । अतः आय प्रत्ययान्त से आत्मनेपद नहीं होता है । पणायति । पनायति । क्रोध अर्थ में भाम धातु है । क्षमूष् सहन में है । ऊकारेत्व से 'स्वरति' से विकल्प इट् होता है वलादि आर्धधातुक में । चक्षमिषे । पक्ष में नश्चेति अनुस्वार चक्षंसे ।

२३१० म्वोश्च ८।२।६५।

मान्तस्य धातोर्मस्य नकारादेशः स्यान्मकारे वकारे च परे । णत्वम् । चक्षण्वहे । चक्षमिमहे । चक्षण्महे । क्षमिष्यते । क्षंस्यते । क्षमते । आशिषि-क्षमिषीष्ट । क्षंसीष्ट । अक्षमिष्ट । अक्षंस्त । ९ ।

कमु कान्तौ । कान्तिः=इच्छा ।

यकार एवं वकार पर रहते मकारान्त धातु के मकार को नकारादेश होता है । नकार को णकार से इड् के अभावपक्ष में चक्षण्वहे । चक्षमिवहे । चक्षण्महे । आदि इट् एवं उसके अभाव में दो रूप । कमुधातु इच्छाजनक व्यापार में है । कान्ति का अर्थ यहाँ इच्छा है ।

२३११ कमेर्णिङ् ३।१।३०।

स्वार्थे । ङित्त्वात् तङ् । कामयते ।

कम् धातु से स्वार्थ में णिङ् प्रत्यय होता है । अवयव में अचरितार्थ अनुबन्ध ङकार समुदाय का उपकारक होकर 'अनुदात्त' सूत्र से आत्मनेपदप्रत्ययप्रवृत्ति में निमित्त होता है । णकार ङकार की इत्संज्ञा लोप 'अत उपधायाः' से वृद्धि कामयते ।

२३१२ अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु ६।४।५५।

आम् अन्त आलु आय्य इत्नु इष्णु एषु णेरयादेशः स्यात् । वक्ष्यमाण-लोपापवादः । कामयाञ्च क्रे । 'आयादय आर्धधातुके वा' । चकमे । कामयिता । कमिता । कामयिष्यते । कमिष्यते ।

आम् अन्त आलु आय्य इत्नु इष्णु इनके पर रहते णि को अयादेश होता है । यह सूत्र 'णेरनिटि' सूत्र से प्राप्त णिलोप का बाधक है । आर्धधातुक में णिङ् विकल्प से होता है । दो रूप । कामयाञ्चक्रे । पक्ष मे चकमे । कामयिता कमिता । आदि । लुङ् में विशेष कार्य है ।

२३१३ णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् ३।१।४८।

ण्यन्तात् श्र्यादिभ्यश्च च्लेश्चङ् स्यात् कर्त्रर्थे लुङि परे । अकाम् इ अतेति स्थिते ।

ण्यन्त धातु, श्रि, द्रु, स्रु इन से पर च्लि को चङ् आदेश होता है कर्त्रर्थक लुङ् पर रहते। कम् से णिङ् अनुबन्ध लोप अत उपधायाः वृद्धि धातुसंज्ञा तिप् अडागम च्लि अङ् 'अकाम् इ अ त' ऐसा होने पर।

२३१४ णेरनिटि ६।४।५१।

अनिडादावार्धधातुके परे णेर्लोपः स्यात्। परत्वादेरनेकाच इति यणि प्राप्ते। ॐ ण्यल्लोपावियङ्यण्गुणवृद्धिदीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेन ॐ। इति वार्तिकम्। णिलोपस्य तु पाचयतेः पाक्तिरित्यादि क्तिजन्तमवकाश इति भावः। वस्तुतस्तु अनिटीति वचनसामर्थ्याद् आर्धधातुकमात्रमस्य विषयः। तथा चेयङादेरपवाद एवायम्। इयङ् अततक्षत्। यण् आटिटत्। गुणः कारणा। वृद्धिः कारकः। दीर्घः कार्यते।

अनिडादि आर्धधातुक पर रहते णिप्रत्यय का लोप होता है। परत्व के कारण यहाँ 'एरनेकाच्' से यण् प्राप्त होने पर 'इयङ्, यण् गुण, वृद्धि, दीर्घ, से पूर्वविप्रतिषेध से णिलोप एवं अकार का लोप होता है। णिलोप का अवकाश पाचि से क्तिच् 'पाक्तिः' इत्यादि क्तिजन्त में अवकाश है। इससे तुल्यबल विरोध दिखाया गया। वास्तविक तो 'णेरनिटि' में अनिटि ग्रहण वचन के सामर्थ्य से आर्धधातुक मात्र में णिलोप का विषय है। इस कथन से णिलोप इयङादि का बाधक है। जैसे इयङ्–अततक्षत्। यण्–आटिटत्। गुण–कारणा। वृद्धिः–कारकः। दीर्घ–कार्य्यते।

२३१५ णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः ७।४।१।

चङ्परे णौ यदङ्गं तस्योपधाया ह्रस्वः स्यात्।

चङ् है पर में जिसको ऐसे णि पर रहते धातु की उपधा का ह्रस्व होता है।

२३१६ चङि ७।१।११।

चङि परे अनभ्यासधात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य।

चङ् पर रहते अनभ्यास धातु का अवयव प्रथम एकाच् का द्वित्व होता है। अजादि धातु के द्वितीय एकाच् का द्वित्व होता है।

२३१७ सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे ७।४।९३।

'चङ् परे' इति बहुव्रीहिः। स चाङ्गस्येति च द्वयमप्यावर्तते। अङ्गसंज्ञानिमित्तं यच्चङ् परं णिरिति यावत्, तत्परं यल्लघु तत्परो योऽङ्गस्याभ्यासस्तस्य सनीव कार्यं स्यात् णावग्लोपेऽसति। अथवा अङ्गस्येति नानुवर्तते। चङ्परे णौ यदङ्गं तस्य योऽभ्यासो लघुपरस्तस्येत्यादि प्राग्वत्।

चङ्परे यह बहुव्रीहि है—चङ् परः यस्मात् यहाँ अन्य पदार्थ णि है। 'चङ्परे' एवं 'अङ्गस्य' इन दो पदों की आवृत्ति यहाँ है। इससे यह अर्थ हुआ—अङ्गसंज्ञा के निमित्तक जो चङ्परक णि तत्परक जो लघु तत्परक जो अङ्ग का अभ्यास उसको सन् पर रहते जो कार्य होता है वैसा ही कार्य होता है णि पर रहते अक् का लोप न हुआ हो तब। अथवा 'अङ्गस्य' इस पद की आवृत्ति यहाँ नहीं है। तब ऐसा अर्थ हुआ कि "चङ्परक णिपरक जो अङ्ग उसका जो लघुपरक अभ्यास

उसको सन् प्रत्यय पर में रहते जैसा कार्य होता है वैसा ही कार्य होता है यदि णि पर रहते अक् का लोप न हुआ हो तब"।

२३१८ सन्यतः ७।४।७९।

अभ्यासस्यात इकारः स्यात् सनि।

सन् पर रहते अभ्यास के ह्रस्व अकार को इकारादेश होता है।

२३१९ दीर्घो लघोः ७।४।९४।

लघोरभ्यासस्य दीर्घः स्यात् सन्वद्भावविषये। अचीकमत। णिङभाव-पक्षे, ❀ कमेश्च्लेश्चङ् वक्तव्यः ❀ णेरभावान्न दीर्घसन्वद्भावौ—अचकमत।

सन्वद्भाव के विषय में लघुसंज्ञक अभ्यास का दीर्घ होता है। कम् णिङ् काम् इ धातुसंज्ञा लुङ् तिप् त् अडागम च्लि उसको चङ् णिलोप प्रत्ययलक्षण द्वित्व काम् काम् ककाम् चर्त्व चकाम् अचकाम् अत् सन्वद्भाव ह्रस्व इकारादेश अभ्यास अकार को दीर्घ अचीकमत।

णिङ् विकल्प है उसके अभाव पक्ष में वार्तिक से च्लिको चङ् आदेश द्वित्वादि। यहाँ णि के के अभाव से दीर्घ एवं सन्वद्भावकी प्राप्ति नहीं है। अचकमत।

"संज्ञायाः कार्यकालत्वादङ्गं यत्र द्विरुच्यते।
तत्रैव दीर्घः सन्वच्च नानेकाच्विति माधवः॥१॥
चकास्त्यर्थापयत्यूर्णोत्यादौ वाङ्गं द्विरुच्यते।
किन्त्वस्यावयवः कश्चित् तस्मादेकाच्विदं द्वयम्॥२॥
वस्तुतोऽङ्गस्यावयवो योऽभ्यास इति वर्णनात्।
ऊर्णौ दीर्घोऽर्थापयतौ द्वयं स्यादिति मन्महे॥३॥
चकास्तौ तूभयमिदं न स्यात् स्याच्च व्यवस्थया।
णेर्विशेष्यं सन्निहितं लघुनीत्यङ्गमेव वा॥४॥
इति व्याख्याविकल्पस्य कैयटेनैव वर्णनात्।
णेरग्लोपेऽपि सम्बन्धस्त्वगितामपि सिद्धये॥५॥

संज्ञाशास्त्र की कार्यकालपक्ष में विधिशास्त्र के साथ एकवाक्यता होने से 'अङ्गस्य' इससे सम्बद्ध 'पूर्वोऽभ्यासः' इसका 'सन्वल्लघुनि, दीर्घो लघोः' प्रभृति शास्त्र में सम्बन्ध हुआ एवं 'द्वे' इसका विशेष्यसमर्पक उच्चारणक्रिया निरूपित 'अङ्गस्य' इसमें कर्म में षष्ठी हुई। तब ऐसा अर्थ हुआ कि अङ्गकर्मक जहाँ द्विरुच्चारण हो वहाँ पूर्व की अभ्याससंज्ञा होती है एवं उसका दीर्घ एवं सन्वद्भाव होता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि अङ्ग का जहाँ द्विरुच्चारण है वहीं ही दीर्घ, एवं सन्वद्भाव होगा, अनेकाच् धातु में नहीं होगा यह माधवका मत है॥१॥

चकास्, अर्थापि, ऊर्णु इत्यादि धातु में अङ्ग का द्वित्व नहीं होता है, किन्तु अङ्ग के किसी अवयव का द्वित्व होता है, इस कारण उन स्थलों में दीर्घ, एवं सन्वद्भाव नहीं होता है। किन्तु एकाच् धातु में ही दीर्घ तथा सन्वद्भाव होगा॥ २॥

अर्थाधिकार पक्ष उचित मानकर एवं वह अनेक आचार्य सम्मत होने के कारण माधव के के मत को अस्वीकार कर कहते हैं कि वास्तविक परिस्थिति तो यहीं यह है कि अङ्गावयव जो

अभ्यास ऐसा वर्णन से ऊर्णु धातु में दीर्घ एवं 'अर्थापि' धातु में दीर्घ एवं सन्वद्भाव होगा ही ॥३॥

चकास् धातु में तो व्यवस्था से दोनों कार्य = दीर्घ एवं सन्वद्भाव नहीं होता है, होता भी है। वह व्यवस्था यह है कि णि का विशेष्य सन्निहित जो 'लघुनि' यह है। अथवा 'अङ्ग' यह है। जब लघुनि होगा तब णि के पूर्व लघु न होने से दोनों कार्य नहीं होंगे। जब अङ्ग विशेष्य होगा तब णि के पूर्व अङ्ग है उसका अभ्यास लघुपरक है अतः दोनों कार्य दीर्घ सन्वद्भाव होगा ॥ ४ ॥

कैयट से ही इस प्रकार वैकल्पिक व्याख्या वर्णित है। धातु को दीर्घ एवं सन्वद्भाव की सिद्धि के लिए णि का अक् लोप में सम्बन्ध कर जहाँ णि निमित्तक अक् लोप है वहाँ दोनों कार्य का अभाव। एवं उपदेशावस्था में जहाँ अनैमित्तिक इत्संज्ञा लोप से अक् की निवृत्ति हुई वहाँ तो दीर्घ एवं सन्वद्भाव होते ही हैं ॥ ५ ॥

विमर्श—संज्ञा एवं परिभाषा शास्त्र में पक्षद्वय है—"यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्, कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्।" अर्थात् यथोद्देश एवं कार्यकाल दो पक्ष है। जातिपक्ष व्यक्तिपक्ष के समान। दोनों पक्ष में 'पूर्वोऽभ्यासः' की 'सन्वल्लघुनि' इत्यादि से एकवाक्यता होती है। कार्यकाल पक्ष में पदैकवाक्यता। यथोद्देशपक्ष में वाक्यैकवाक्यता। यही विशेषमात्र है। यहाँ कार्यकाल पक्षपाति माधव मत की व्याख्या 'संज्ञायाः कार्यकालत्वात्' से की गई है दो श्लोकों से। माधव-मत स्वीकार करने पर ह्रस्व हलादिशेष चुत्वादि कार्य अनेकाच् धातुओं में नहीं होंगे यह महती आपत्ति है। अतः यथोद्देश पक्ष ही उचित है। अर्थाधिकार पक्ष श्रेष्ठ है। वह वृत्यादि सम्मत भी है। सन्निहितत्व के कारण णि का विशेष्य लघु है।

अथ क्रम्यन्तास्त्रिंशत् परस्मैपदिनः।

अण रण वण भण मण कण क्वण व्रण भ्रण ध्वण शब्दार्थाः। अणति। रणति। वणति। वकारादित्वादेत्वाभ्यासलोपौ न। ववणतुः। ववणिथ। १०। धणिरपि केश्चित् पठ्यते। धणति। ओण अपनयने। ओणति। ओणाञ्चकार। ११। शोणृ वर्णगत्योः। शोणति। शुशोण। १२। श्रोणृ संघाते। श्रोणति। १३। श्लोणृ च। शोणादयस्त्रयोऽमी तालव्योष्मादयः। १४। पैणृ गतिप्रेरण-श्लेषणेषु। प्रैणृ इति क्वचित् पठ्यते। पिप्रैण। १५। ध्रणशब्दे। उपदेशे नान्तोऽयम्। 'रषाभ्याम्' इति णत्वम्। ध्रणति। नोपदेशफलन्तु यङ्लुकि। दन्ध्रन्ति। १६। बणेत्यपि केचित्। बेणतुः। बेणिथ। १७। कनी दीप्तिकान्तिगतिषु। चकान। १८। ष्टन वन शब्दे। स्तनति। वनति। २०। वन षण सम्भक्तौ। वनेरर्थ-भेदात्पुनः पाठः। सनति। ससान। सेनतुः।

क्रम तक तीस परस्मैपद धातु कहते हैं। अण् आदि दश धातु शब्दार्थक है। वण् वकारादि के कारण लिट् में एत्व एवं अभ्यासलोप नहीं हुआ—ववणतुः आदि।

कोई शब्दार्थक धणि को भी पढ़ता है। ओणृ धातु दूरीकरण अर्थ में है। इजादि से लिट् में आम्। शोणृ वर्ण में एवं गति अर्थ में है। संघात अर्थ में श्रोणृ भी इसी अर्थ में है। यह तीन शोणादि धातु तालव्योष्मादि हैं। पैणृ गति में, श्लेषण में है। कोई प्रैणृ भी इसी अर्थ में पढ़ते हैं। ध्रण शब्द अर्थ में है, यह उपदेश अवस्था में नान्त था, बाद में 'रषाभ्याम्' सूत्र से णकारादेश नकार

को हुआ है। नोपदेश का फल यङ्लुक् आगमरूप फल है यथा—दन्ध्रन्ति। कोई बण को भी इसी अर्थ में पढता है। बकार आदि में है अतः एत्व एवं अभ्यास लोप लिट् में होता है। कनी धातु दीप्ति में, कान्ति में एवं गति में है। ष्टन एवं वन शब्दार्थक है। धातु के आदि षकार को सकार हुआ 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' से ष्टुत्व की निवृत्ति हुई। स्तनति। वन षण संभक्ति में है। अर्थभेद के कारण वन का पुनः पाठ यहाँ किया है।

२३२० ये विभाषा ६।४।४३।

जन सन खनाम् आत्वं वा स्याद् यादौ क्ङिति। सायात्। सन्यात्। २१। अम गत्यादिषु। कनीदीप्तिकान्तिगतीत्यत्र गतेः परयोः शब्दसंभक्त्योरादि-शब्देन ग्रहः। अमति। आम। २२। द्रम हम्म मीमृ गतौ। द्रमति। दद्राम। ह्म्यन्तेति न वृद्धिः। अद्रमीत्। हम्मति। जहम्म। मीमति। मिमीम। अयं शब्दे च। २५। चमु छमु जमु झमु अदने।

यकारादि कित् एवं ङित् प्रत्यय पर रहते जन्, सन्, खन् को आत्व विकल्प से होता है। सायात। सन्यात। अम गति आदि अर्थ में है। आदि पद से शब्द एवं संभक्ति अर्थ है। द्रम आदि तीन गति में वृद्धि न हुई। अद्रमीत। यह शब्दार्थक भी है। चमु आदि चार धातु अदन = भक्षणार्थक है।

२३२१ ष्ठिवुक्लमुचमां शिति ७।३।७५।

एषामचो दीर्घः स्याच्छिति। ॐ आङि चम इति वक्तव्यम् ॐ। आचामति। आङि किम्, चमति। विचमति। अचमीत्। २६। जिमिं केचित् पठन्ति। जेमति। क्रमु पादविक्षेपे।

शितप्रत्यय पर रहते ष्ठिवु क्लमु चमु धातु के अच् का दीर्घ होता है। आङ् पूर्व में रहते चमुके अच् का दीर्घ होता है। आचामति। आङ् रहित में चमति। लुङ् में 'ह्म्यन्तेति' न वृद्धि अचमीत। क्रमुधातु पादविक्षेप = चलना अर्थ में है।

२३२२ वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः ३।१।७०।

एभ्यः श्यन् वा स्यात् कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे।

कर्तृवाचक सार्वधातुक पर रहते भ्राश्, भ्लाश्, भ्रम्, क्रम्, क्लम्, त्रस्, त्रुट्, लष् इनको श्यन् विकल्प से होता है। पक्ष में शप् विकरण होता है। लट् लोट् लङ् विधिलिङ् में दो रूप होंगे श्यन् युक्त एवं शप् युक्त।

२३२३ क्रमः परस्मैपदेषु ७।३।७६।

क्रमेर्दीर्घः स्यात् परस्मैपदे शिति। क्राम्यति। क्रामति। चक्राम। क्राम्यतु। क्रामतु।

परस्मैपद प्रत्यय से पूर्व शित प्रत्यय पर रहते क्रम् के अच् को दीर्घ होता है। श्यन् एवं शप् दोनों शित है अतः दीर्घ होकर क्राम्यति। क्रामति। इसी प्रकार लोट्, लङ्विधिलिङ् में दीर्घ।

२३२४ स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते ७।२।३६।

अत्रैवेट्। अक्रमीत्। ३०।

आत्मनेपद निमित्त न रहते स्नु एवं क्रम से पर वलादि आर्धधातुक को इट् आगम होता है। अक्रमीत्।

अथ रेवत्यन्ता अनुदात्तेतः। अय वय मय पय चय तय णय गतौ। अयते।

रेवत्यन्त अनुदात्त की इत्संज्ञा वाले धातु है। अय आदि सात धातु गति अर्थ में है। आत्मनेपदी-अयते।

२४२५ दयायासश्च ३।१।३७।

दय अय आस् एभ्य आम् स्याल्लिटि। अयाञ्चक्रे। अयिता। अयिषीष्ट।

लिट् पर रहते दय्, अय्, आस् इनसे आम् प्रत्यय होता हैं। यथा अयाञ्चक्रे।

२३२६ विभाषेटः ८।३।७९।

इणः परो य इट् ततः परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य वा मूर्द्धन्यः स्यात्। अयिषीढ्वम्। अयिषीध्वम्। आयिष्ट। आयिढ्वम्-आयिध्वम्।

इण् से पर जो इट् उससे पर 'षीध्वम्' सम्बन्धी धकार एवं लुङ्सम्बधी धकार एवं लिट् सम्बन्धी धकार को विकल्प से मूर्धन्य अर्थात ढकार होता है।

२३२७ उपसर्गस्यायतौ ८।२।१९।

अयतिपरस्योपसर्गस्य यो रेफस्तस्य लत्वं स्यात्। प्लायते। पलायते। निस्दुसोरुत्वस्यासिद्धत्वान्न लत्वम्। निरयते। दुरयते। निर्दुरोस्तु निलयते। दुलयते। प्रत्यय इति त्विणो रूपम्। अथ कथम् "उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावि" ति माघः। इट किट कटी इत्यत्र प्रश्लिष्टस्य भविष्यति। यद्वा अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्, चक्षिङो ङित्करणाज् ज्ञापकात्।

अय् धातु है पर में जिसको ऐसा जो उपसर्ग उसका अवयव रेफ को लकारादेश होता है। प्र × अयते = प्लायते। परा अयते = पलायते। निस् दुस् सान्त है उसके सकार को रुत्व से यद्यपि वे दोनों रान्त है तो भी रुत्व असिद्ध होने से इसकी दृष्टि में सान्त है। अतः लकारादेश न हुआ निरयते। दुरयते यहाँ। निर् दुर् उपदेशावस्था के रान्त है वहाँ लकारादेश होता है। निलयते। दुलयते। प्रतिपूर्वक अच्प्रत्ययान्त अय् का रूप अय है 'प्रति×अय' यहाँ लत्व होना चाहिये 'प्लत्यय' होना उचित था प्रत्यय कैसे हुआ ?, प्रतिपूर्वक इण् से अच् गुण अयादेश है वहाँ अच् परत्व है ही नहीं। 'उदयते' माघ प्रयोग में होना चाहिये। समाधान प्रश्लिष्ट इकार का अयति रूप है। अथवा अनुदात्त लक्षण आत्मनेपद अनित्य है अतः परस्मैपद हुआ। प्रमाण अनित्यत्व में 'चक्षि' कहते इकार अनुदात्त मानकर आत्मनेपद होता पुनः ङित्वात आत्मनेपदार्थ ङकार अनुबन्ध क्यों किया। वह व्यर्थ हो कर ज्ञापन करता है कि अनुदात्तेत लक्षण जो आत्मनेपद विधान है वह अनित्य है। अनित्य का कोई भरोसा नहीं। अतः निश्चित रूप से आत्मनेपदार्थ ङकारानुबन्ध किया। ङकार की इत्संज्ञा आत्मनेपद।

यहाँ शङ्का होती है कि 'चक्षि' मात्र करने पर ह्रस्व इकार की अन्त में इत्संज्ञा होने से 'इदितो नुम् धातोः' से नुम् की आपत्ति होगी। अतः अन्त्य इदित्त्व के व्याघातार्थ ङकार आवश्यक है ङकार अनुदात्तलक्षण आत्मनेपद अनित्य में कैसे ज्ञापक हुआ? समाधान एतदर्थ 'चक्ष' करते अन्त अकार अनुदात्त है। उसकी इत्संज्ञा से अनुदात्तलक्षण आत्मनेपद होता। ङकारग्रहण व्यर्थ है वह उक्तार्थ में ज्ञापक होगा ही।

वादित्वात् ववये। पेये। मेये। चेये। तेये। प्रणयते। नेये। ७। दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु। आदानम् = ग्रहणम्। दयाञ्चक्रे। ८। रय गतौ। ९। ऊयी तन्तुसन्ताने। ऊयाञ्चक्रे। १०। पूयी विशरणे दुर्गन्धे च। पूयते। पुपूये। ११। क्नूयी शब्दे उन्दने च। चुक्नूये। १२। क्ष्मायी विधूनने। चक्ष्माये। १३। स्फायी ओप्यायी वृद्धौ। स्फायते। पस्फाये। प्यायते।

वकारादित्व के कारण एत्वाभ्यास लोप न हुआ। ववये। दयधातु दान में गति में रक्षण में हिंसा में एवं ग्रहण में है। दयाँचक्रे यहाँ 'दय अय' से आम् हुआ। रयगति में है। ऊयी पटबिनने में हैं। गुरुत्व के कारण आम् ऊयाँचक्रे। पूयी विसरण में तथा दुर्गन्ध में है। क्नूयी शब्द में एवं क्लेदन में है। क्ष्मायी कम्पनार्थक है। स्फायी एवं ओप्यायी वृद्धि में हैं।

२३२८ लिड्यङोश्च ६।१।२९।

लिटि यङि च प्यायः पीभावः स्यात्। पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् पीशब्दस्य द्वित्वम्। एरनेकाच इति यण्। पिप्ये। पिप्याते। पिप्यिरे।

लिट् पर रहते या यङ् पर रहते प्याय के स्थान में पीआदेश होता है। ओकार ईकार की इत्संज्ञक वृद्धि अर्थ बोधक प्याय् को लिट् में द्वित्व एवं पीआदेश एक समय में प्राप्त है, पी ने द्वित्व को बाध किया पीकर द्वित्व की प्राप्ति है तो द्वित्व करने में कोई आपत्ति नहीं है। यहाँ न्याय है पुनः प्रसङ्गविज्ञानाद सिद्धम्। बाधक की प्रवृत्ति के बाद बाध्य की प्रवृत्ति है तो उसको भी करना चाहिये। 'सकृद् गतौ विप्रतिषेधेन यद् बाधितं तद् बाधितमेव' न्याय की यहाँ शिष्टोक्त व्याख्यान से अप्रवृत्ति है। दोनों न्याय इष्टानुरोध से प्रवृत्त होते हैं। परिभाषेन्दु शेखर में इन न्यायों का विस्तृत वर्णन है। पीपी ए यहाँ 'एरनेकाच' से यण् अभ्यास ह्रस्वादि पिप्ये।

२३२९ दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् ३।१।६१।

एभ्यश्च्लेश्चिण् वा स्यादेकवचने तशब्दे परे।

कर्तृरूपार्थक एकवचन तशब्द पर रहते दीप् जन् बुध्, पूरि तायि प्यायि इनसे पर च्लि को चिण् विकल्प से होता है। असौ अप्यायि। कर्ता में चिण् से कर्तृरूप अर्थ उक्त है। अतः प्रथमा विभक्ति है।

२३३० चिणो लुक् ६।४।१०४।

चिणः परस्य लुक् स्यात्। अप्यायि। अप्यायिष्ट। १५। ताय सन्तानपालनयोः। सन्तानः = प्रबन्धः। तायते। तताये अतायि। अतायिष्ट। १६।

चिण् से पर लुक् होता है। इससे षकार का लोप हुआ। अप्यायि। पक्ष में अप्यायिष्ट।

विमर्श—'अपाचितराम्' यहाँ चिण् से पर 'तिङश्च' से तरप् कर 'किमेत्तिङ्' से आम् हुआ है। यहाँ चिण् से पर 'तराम्' का चिणो लुक् से लुक् प्राप्ति की शङ्का कर लक्षणोपप्लवपक्ष को माना = अर्थात् जितने लक्ष्य हैं उनको संस्कार करने के लिए उतने ही लक्षण = सूत्र है। अन्यथा किसी एक लक्ष्य को कार्यबोधन रूप संस्कार कर कृतार्थ सूत्र लक्ष्यान्तर में अप्रवृत्त होगा। प्रकृत में 'त' का लोप करने वाला चिणो लुक् 'तराम्' के लुगर्थ प्रवृत्त चिणो लुक् की दृष्टि में असिद्ध है अतः तराम् का लुक् न हुआ। अर्थात् स्वयं भी स्व की दृष्टि में असिद्ध होता है इसको वैयाकरण गण 'चिणो लुक्' न्याय कहते हैं। यह न्याय भाष्यसम्मत भी है। इससे सिद्ध होता है कि चिणो लुक् में तशब्द की अनुवृत्ति नहीं है।

तायृ धातु प्रबन्ध में तथा पालन अर्थ में है। लुङ् में चिण् विकल्प से दो रूप हुए।

शल चलनसंवरणयोः। १७। वल वल्ल संवरणे संचरणे च। ववले। ववल्ले। १६। मल मल्ल धारणे। मेले। ममल्ले। २१। भल भल्ल परिभाषण-हिंसादानेषु। बभले। बभल्ले। २३। कल शब्दसंख्यानयोः। कलते। चकले। २४। कल्ल अव्यक्ते शब्दे। कल्लते। अशब्द इति स्वामी। अशब्दस्तूष्णींभाव इति च। २५।

तेवृ देवृ देवने। तितेवे। दिदेवे। २७। षेवृ गेवृ ग्लेवृ पेवृ सेवृ म्लेवृ सेवने। परिनिविभ्य इति षत्वम्। परिषेवते। सिषेवे। अयं सोपदेशोऽपीति न्यासकारादयः। तद् भाष्यविरुद्धम्। गेवते। जिगेवे। जिग्लेवे। पिपेवे। मेवते। म्लेवते। ३३। शेवृ खेवृ केवृ इत्यप्येके। ३६। रेवृ प्लवगतौ। प्लवगतिः=प्लुतगतिः। रेवते। ३७।

शल धातु चलनार्थ एवं संवरणार्थक है। वल वल्ल धातु संवरण में एवं संचरण में है। मल मल्ल धारण में है। भल भल्ल परिभाषण में हिंसा में दान अर्थ में है। कल शब्द में एवं संख्या में है। कल्ल अस्पष्ट शब्दार्थक है। स्वामी के मत में मौन रहना यह अर्थ इसका है। तेवृ देवृ देवनार्थक है। षेवृ आदि छः धातु सेवन में है। 'परिषेवते' यहाँ परिनिविभ्यः से षकारादेश हुआ। भाष्यविरुद्ध न्यासकारमत इस धातु के विषय में यह है कि यह सोपदेश है षोपदेश नहीं। यह न्यास मत उपेक्ष्य है। शेवृ आदि तीन धातु और कोई इसी अर्थ में पढ़ते हैं। रेवृ धातु शीघ्र गमन रूप प्लुत गति में है।

अथावत्यन्ताः परस्मैपदिनः। मव्य बन्धने। ममव्य। १। सूर्क्ष्य ईर्क्ष्य ईर्ष्य ईर्ष्यार्थाः। ४। हय गतौ। अहयीत्। यान्तत्वान्न वृद्धिः। ५। शुच्य अभिषवे। अवयवानां शिथिलीकरणं सुरायाः सन्धानं वाऽभिषवः स्नानं च। शुशुच्य। ६। चुच्य इत्येके। ७। हर्य गतिकान्त्योः। जहर्य। ८। अल भूषण-पर्य्याप्तिवारणेषु। अलति। आल।

अब अव धातु तक परस्मैपद धातु कहते हैं। मव्य धातु बन्धन अर्थ में है। सूर्क्ष्य आदि धातु ईर्ष्यार्थक है। हय धातु गति अर्थ में है। लुङ् में यकारान्त के कारण 'ह्म्यन्त' सूत्र से वृद्धि का अभाव है। शुच्य धातु अभिषव में है, अभिषव का अर्थ है—अवयवों का शिथिल करना, सुरा का सन्धान या स्नान अर्थ है। कोई यहाँ चुच्य शुच्य के स्थान में पढ़ता है। हर्य गति में, कान्ति में है। अल धातु भूषण पर्य्याप्ति एवं वारण अर्थ में है। लट् में अलति। लिट् में आल।

२३३१ अतो ल्रान्तस्य ७।२।२।

ल्रेति लुप्तषष्ठीकम् । अतः समीपौ यौ ल्रौ तदन्तस्याङ्गस्यातो वृद्धिः स्यात परस्मैपदपरे सिचि । नेटीति निषेधस्यातो हलादेरिति विकल्पस्य चापवादः । मा भवान् आलीत् । अयं स्वरितेदित्येके । तन्मते 'अलते' इत्याद्यपि । ६ ।

सुपां सुलुक् से षष्ठी का लोप युक्त सूत्र में ल्रेति पद है ।

परस्मैपद संज्ञक प्रत्यय है परमें जिसको ऐसा जो सिच् उसके परमें रहते अकार समीपवर्ती जो लकार तथा रेफ तदन्त अङ्ग का अवयव अकार की वृद्धि होती है । यह सूत्र 'नेटि' से प्राप्त वृद्धिनिषेध एवं 'अतो हलादेः' से प्राप्त विकल्पवृद्धिका बाधक है । यथा माङ् योग में आट् आगम न होते हुए भी अल् के लुङ् में इससे वृद्धिकर 'आलीत्' हुआ । यह स्वरितेत् है ऐसा कोई कहते है उनके मत में आत्मनेपदी है । अलते ।

ञिफला विशरणे । तॄफलेत्येत्वम् । फेलतुः । फेलुः । अफालीत् । १० । मील श्मील स्मील क्ष्मील निमेषणे । निमेषणम्=संकोचः । द्वितीयस्तालव्यादिः । तृतीयो दन्त्यादिः । १४ । पील प्रतिष्टम्भे । प्रतिष्टम्भो रोधनम् । १५ । णील वर्णे । निनील । १६ । शील समाधौ । शीलति । १७ । कील बन्धने । १८ । कूल आवरणे । १९ । शूल रुजायां संघोषे च । २० ।

तूल निष्कर्षे । निष्कर्षो निष्कोषणम् । तच्चान्तर्गतस्य बहिर्निःसारणम् । तुतूल । २१ । पूल संघाते । २२ । मूल प्रतिष्ठायाम् । २३ । फल निष्पत्तौ । फेलतुः । फेलुः । २४ । चुल्ल भावकरणे । भावकरणम्=अभिप्रायाविष्कारः । २५ । फुल्ल विकसने । २६ । चिल्ल शैथिल्ये भावकरणे च । २७ । तिल गतौ । तेलति । २८ । तिल्लेत्येके । तिल्लति । २९ ।

फल धातु विशरण अर्थ में है । लिट् में 'तॄफल' से एत्वाभ्यासलोप होता है । फेलतुः । फेलुः । अफालीत् में 'अतो ल्रान्तस्य' से वृद्धि । मील से क्ष्मीलतक धातु संकोच अर्थ में है । श्मील में तालव्यशकार आदि में है । स्मील में दन्त्य सकार आदि में है । पील धातु रोधन अर्थ में है । नील धातु वर्ण अर्थ में है । शील चित्तवृत्तिनिरोध अर्थ में है । कील बन्धन अर्थ में है । कूल आवरण अर्थ में है ।

शूल पीडा अर्थ में एवं संघोष=शब्द अर्थ में है । तूल भीतर में स्थित वस्तु को बाहर निकालने का यत्न करने में है । पूल संघात अर्थ में है । मूल प्रतिष्ठा अर्थ में है । फल सिद्धि अर्थ में है । 'तॄफल' से एत्वाभ्यास लोप से फेलतुः । फेलुः । चुल्ल हृदयस्थ अभिप्राय के प्रकटन् अर्थ में है । फुल्ल विकसन अर्थ में है । चिल्ल शिथिलता अर्थ में एवं अभिप्राय व्यक्त करने में है । तिल गत्यर्थ में है । कोई गति में तिल्ल को भी कहते हैं ।

वेलृ चेलृ केलृ खेलृ वेलृ क्ष्वेल्ल चलने । पञ्च ऋदितः । षष्ठो लोपधः । ३५ । पेलृ फेलृ शेलृ गतौ । ३८ षेलृ इत्येके । ३९ । स्खल सञ्चलने । चस्खाल । अस्खालीत । ४० । खल सञ्चये । ४१ । गल अदने । गलति । अगालीत् । ४२ । षल गतौ । सलति । ४३ । दल विशरणे । ४४ । श्वल श्वल्ल आशुगमने । शश्वाल । अश्वालीत् । शश्वल्ल । अश्वल्लीत । ४६ ।

खोलृ खोर्ऋ गतिप्रतिघाते । खोलति । खोरति । ४८ । धोर्ऋ गतिचातुर्ये । धोरति । ४९ । त्सर छद्मगतौ । तत्सार । अत्सारीत् । ५० । क्मर हूर्छने । चक्मार । ५१ । अभ्र बभ्र मभ्र चर गत्यर्थाः । चरतिर्भक्षणेऽपि । अभ्रात । आनभ्र । मा भवान् अभ्रीत् । अङ्गान्त्यरेफस्यातः समीपत्वाभावान्न वृद्धिः । ५५ । ष्ठिवु निरसने । 'ष्ठिवुक्लम्वि' ति दीर्घः । ष्ठीवति । अस्य द्वितीयस्थकारष्ठकारो वेति वृत्तिः । तिष्ठेव । तिष्ठिवतुः । तिष्ठिवुः । टिष्ठेव । टिष्ठिवतुः । टिष्ठिवुः । 'हलि चे' ति दीर्घः । ष्ठीव्यात । ५६ । जि जये । अयमजन्तेषु पठितुं युक्तः । जय उत्कर्षप्राप्तिः । अकर्मकोऽयम् । जयति ।

वेल से लेकर वेल्ल तक छः धातु चलनार्थक है । इन में पाँच धातुओं में ऋकार अनुबन्ध की इत्संज्ञा है । षष्ठ लकारोपध हैं । पेल आदि तीन धातु गति में है । कोई पेल को गति में कहते हैं । स्खल सञ्चलन में हैं । संचय अर्थ में खल धातु है । भोजनार्थक गल धातु है । लुङ् में 'अतो ल्रान्तस्य से वृद्धि है । षल गति में है । दल विशरणमे है । श्वल श्वल्ल शीघ्रगमन में है । खोल खोर्ऋ गमनाभाव अर्थ में है । धोर्ऋ गमन की चतुरता=पटुता अर्थ में है । त्सर कपट गमन अर्थ में है । क्मर धातु कुटिलता में है । अभ्र बभ्र मभ्र एवं चर् धातु गत्यर्थक है । चर भक्षण अर्थ में भी है । अभ्रति । आनभ्र । मा भवान् अभ्रीत् । यहां अङ्ग के अन्त्य रेफ भकार समीप नहीं, अतः यहां वृद्धि न हुई । ष्ठिवु धातु निरसनार्थक है । ष्ठीवति यहां 'ष्ठिवुक्लमु' से दीर्घ हुआ । इस धातु के द्वितीय थकार के स्थान में विकल्प से ठकार होता है यह वृत्तिकार का मत है । 'ष्ठीव्यात्' यहां हलि च से दीर्घ हुआ । जि धातु जय अर्थ में अकर्मक है । जय=उत्कर्ष प्राप्तिजनक व्यापार है । बलात्कार से दूसरे पर पुरुषार्थ द्वारा विजय प्राप्त कर उस पराजित व्यक्ति को अपने अधीन करना यह इस धातु का अर्थ है । स जयति । यह धातु वि एवं परा उपसर्ग पूर्वक आत्मनेपदी है 'विपराभ्यां जेः' सूत्र से । विजयते । पराजयते । विजयतेतराम् । रामो विजयते । शत्रुः पराजयते ।

२३३२ सन् लिटोर्जेः ७।३।५७।

जयतेः सन् लिण्निमित्तो योऽभ्यासस्ततः परस्य कुत्वं स्यात् । जिगाय । जिग्यतुः । जिग्युः । जिगयिथ । जिगेथ । जिगाय । जिगय । जिग्यिव । जिग्यिम । जेता । जीयात् । अजैषीत् । ५७ ।

सन् निमित्तक जो द्वित्व तन्निमित्तक जो अभ्यास एवं लिट्निमित्तक द्वित्वनिमित्तक जो अभ्यास उस से पर जि के जकार को कुत्व=कवर्ग आदेश होता है । यथा जिगाय, जिग्यतुः, जिग्युः । भारद्वाज मत में इट् एवं इससे कुत्व जिगयिथ । पक्षमें जिगेथ । उत्तम पुरुष णिद्वत्व पक्षमें वृद्धि उसका अभाव से जिगाय, जिगय । आशीर्लिङ् में 'अकृत' से दीर्घ जीयात् । लुङ् में 'सिचि वृद्धिः' से वृद्धि 'आदेशप्रत्यययोः' से षकार अजैषीत् ।

जीव प्राणधारणे । जिजीव । ५८ । पीव मीव तीव णीव स्थौल्ये । पिपीव । मिमीव । तितीव । निनीव । ६२ । क्षीवु क्षेवु निरसने । ६४ । उर्वी तुर्वी थुर्वी दुर्वी धुर्वी हिंसार्थाः । उर्वाञ्चकार । उपधायाञ्चेति दीर्घः । तुतूर्व । ६९ । गुर्वी उद्यमने । गूर्वति । जुगूर्व । ७० । मुर्वी बन्धने । ७१ । पुर्व पर्व मर्व पूरणे । ७४ ।

चर्व अदने । ७५ । भर्व हिंसायाम् । ७६ । कर्व खर्व गर्व दर्पे । ७६ । अर्व शर्व षर्व हिंसायाम् । आनर्व । शर्वति । सर्वति । ८२ । इवि व्याप्तौ । इन्वति । इन्वाञ्चकार । पिवि मिवि णिवि सेचने । तृतीयो मूर्धन्योष्मादिरित्येके । 'सेवने' इति तरङ्गिण्याम् । पिन्वति । पिपिन्व । हिवि दिवि धिवि जिवि प्रीणनार्थाः । हिन्वति । दिन्वति ।

जीव धातु प्राणधारण करने में है। पीव आदि चार धातु स्थूलता अर्थ में है। क्षीवु क्षेवु निरसन अर्थ में है। उर्वी आदि पाँच धातु हिंसा में है। लिट् में इजादेः से आम्। तुतूर्वे में उधायाञ्च से दीर्घ है। गुर्वी उद्यमन अर्थ में है। मुर्वी बन्धन अर्थ में है। पुर्व पर्व मर्व पूरण अर्थ में है। चर्व धातु भक्षणार्थक है। भर्व हिंसा में है। कर्व खर्व गर्व अहङ्कार रूप दर्प में है। अर्व शर्व षर्व हिंसा में है। 'आनर्व' में द्विहल प्रयुक्त नुट् है। इवि व्याप्ति अर्थ में है। इकारेत्व प्रयुक्त नुम् इन्वाति। संयोगे गुरु इजादेः से आम् इन्वाञ्चकार। पिवि भिवि णिवि सेचन अर्थ में है। तृतीय मूर्धन्योष्मादि है ऐसा कोई कहते हैं। सेचन नहीं सेवन अर्थ में हैं ऐसा तरङ्गणी के मतमें है। हिवि दिवि धिवि जिवि प्रीणनार्थक है।

२३३३ धिन्विकृण्व्योर च ३।१।८०।

अनयोरकारोऽन्तादेशः स्यादुप्रत्ययश्च शब्विषये। आतो लोपः। तस्य स्थानिवद्भावाल्लघूपधगुणो न। उप्रत्ययस्य पित्सु गुणः। धिनोति। धिनुतः। धिन्वन्ति।

शप् विकरण के विषय में धिन्व एवं कृण्व को अकारादेश चरमावयव होता है एवं उकार विकरण होता है। धिवि में ह्रस्व इकार की अन्त में इत्संज्ञा है अतः 'इदितो नुम्' से नुम् आगम से धिन्वति, इस से वकार को अकारादेश धिन् अति, उकार विकरण उसकी 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक संज्ञा हुई। अतो लोपः से अकार का लोप उसका अचः परस्मिन् से स्थानिवद्भाव प्रयुक्त यहां पुगन्त से गुण का अभाव उकार का 'सार्वधातुक' से गुण धिनोति। धिनुतः। धिन्वन्ति।

विमर्श—यहां अकार विधान न कर धिन्व, कृण्व के अन्त्य वर्ण को 'लः'=लुक् करते 'न धातुलोप आर्धधातुके' सूत्र से यहां धात्वंश वकार का लोप होने से गुणाभाव उससे होता पुनः यहां अकार विधान उसका लोप उसका स्थानिवद्भाव प्रयुक्त गुण का अभाव यह गौरव ग्रस्त प्रणाली का अवलंबन क्यों किया ? यह पूर्व पक्ष है।

समाधान—'न धातुलोप आर्धधातुके' इस सूत्र का भगवान् भाष्यकार खण्डन करते हैं तब प्राप्त गुणवारणार्थ आचार्य पाणिनि ने इस क्रम का समाश्रयण किया है। पाणिनि भाष्यकार भविष्य में मेरे सूत्र का प्रत्याख्यान करने वाले है यह विषय के वे ज्ञाता थे त्रिकालदर्शी आचार्य पाणिनि है। भाष्यकार का प्रत्याख्यान आचार्य को सम्मत है परस्पर विरोध का लेश भी नहीं है। इसी से 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' आदि वचन सिद्ध होते हैं। यहां यह तर्क होता है कि सूत्रप्रत्याख्यान का आचार्य को ज्ञान था ऐसी परिस्थिति में सूत्र निर्माण न करते ? समाधान—सूत्र करने पर ज्ञान इसका हुआ किन्तु "आचार्याः कृत्वा न निवर्तन्ते" यह दृढ सिद्धान्त के वे पक्षपाती थे। यही भारतीय संस्कृति थी। अतः श्रीराम प्रभुने कैकेयी विमाता से कहा था रामायण में "रामो द्विर्नाभिभाषते" श्रीराम जो कहते हैं वे

ही करते हैं। अपनी बात कहकर आधुनिक जनवत् वापस नहीं लेते थे। "वागेको वाग्मिनां सताम्" यह पक्ष था।

२३३४ लोपश्चास्याऽन्यतरस्यां म्वोः ६।४।१०७।

असंयोगपूर्वो यः प्रत्ययोकारस्तदन्तस्याङ्गस्य लोपो वा स्यात् म्वोः परयोः। धिन्वः। धिनुवः। धिन्मः। धिनुमः। मिपि तु परत्वाद् गुणः। धिनोमि।

नहीं है संयोगपूर्व में जिसको ऐसा जो प्रत्यय उकार वह है अन्त में जिसको ऐसा जो अङ्ग उसका जो अन्त्य अल् उसका लोप होता है विकल्प से व या म पर रहते। यथा 'धिन्वः' यह उकार का लोप हुआ। लोपाभाव पक्ष में धिनुवः। धिन्मः। धिनुमः। मिप् में तो लोप को बाधकर पर के कारण गुण से धिनोमि हुआ।

२३३५ उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ६।४।१०६।

असंयोगपूर्वो यः प्रत्ययोकारस्तदन्तादङ्गात्परस्य हेर्लुक् स्यात्। धिनु। नित्यत्वादकारलोपात् पूर्वमाट्। धिनवाव। धिनवाम। जिन्वति, इत्यादि। ९०। रिवि रवि धवि गत्यर्थाः। रिण्वति। रण्वति। ९३।

कृवि हिंसाकरणयोश्च। चकराद् गतौ। कृणोतीत्यादि धिनोतिवत्। अयं स्वादौ च। मव बन्धने। मवति। मेवतुः मेवुः। अमवीत्। अमावीत्। ९५। अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रयणस्वाम्यर्थपाचनक्रियेच्छादीप्त्य-वाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु। अवति। आव। मा भवान् अवीत्। ९६। धावु गतिशुद्धयोः। स्वरितेत्। धावति-धावते। दधावे। ९७।

असंयोगपूर्वक जो प्रत्यय का उकार तदन्त जो अङ्ग उससे पर हि का लुक् होता है। यथा धिनु + हि यहाँ लोप से धिनु। धिनवाव, धिनवाम, यहाँ उकार लोप वैकल्पिक प्राप्त है एवं आट् आगम प्राप्त है इन दोनों के मध्य में लोप अनित्य एवं आट् आगम नित्य है। अतः लोप से पूर्व में आट् किया आट् के करने पर लोप की अप्राप्ति है। जिवि का जिन्वति, इदित् लक्षणनुम् हुआ।

रिवि रवि धवि गमनार्थक हैं। कृवि हिंसा एवं करणार्थक है। चकार से गति में भी प्रयुक्त है। यह स्वादिगण में भी पठित है। मव बन्धन में है। लुङ् में विकल्प वृद्धि से दो रुप है। अव धातु रक्षणमें गतिमें कान्ति में प्रीति में तृप्ति में ज्ञान में प्रवेश में श्रवण में स्वाम्यर्थ में पाचनक्रिया में इच्छा में दीप्ति में प्राप्ति में आलिङ्गनमे हिंसा, दान, भाग, वृद्धि में है। धावु गति में एवं शुद्धि में है। यह स्वरितेत् है क्रियाजन्यफल कर्तृगामि रहे वहाँ आत्मनेपदी। अन्यत्र परस्मैपदी यह है। धावति। धावते।

अथोष्मान्ता आत्मनेपदिनः।

धुक्ष धिक्ष सन्दीपनक्लेशनजीवनेषु। धुक्षते। दुधुक्षे। धिक्षते। दिधिक्षे। २। वृक्ष वरणे। वृक्षते। ववृक्षे। ३। शिक्ष विद्योपादाने। शिक्षते। ४। भिक्ष भिक्षायामलाभे लाभे च। भिक्षते। ५। क्लेश अव्यक्तायां वाचि। बाधने इति दुर्गः। क्लेशते। चिक्लिशे। ६। दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च। दक्षते। ददक्षे। ७। दीक्ष मौण्डे-

ज्योपनयननियमव्रतादेशेषु । दीक्षते । दिदीक्षे । ८ । ईक्ष दर्शने । ईक्षाञ्चक्रे । ९ । ईष गतिहिंसादर्शनेषु । ईषांचक्रे । १० ।

भाष व्यक्तायां वाचि । भाषते । ११ । वर्ष स्नेहने । दन्त्योष्ठ्यादिः । ववर्षे । १२ । गेषृ अन्विच्छायाम् । ग्लेष्ट इत्येके । अन्विच्छा=अन्वेषणम् । जिगेषे । १३ । पेष्ट प्रयत्ने । पेषते । १४ । जेषृ णेषृ एषृ प्रेषृ गतौ । जेषते । जेषसे । एषांचक्रे । पिप्रेषे । १८ । रेषृ हेषृ ह्लेषृ अव्यक्ते शब्दे । आद्यो वृकशब्दे । ततो द्वौ अश्वशब्दे । रेषते । ह्लेषते । २१ । कासृ शब्दहेसते कुत्भसायाम् । कासांचक्रे । २२ ।

भासृ दीप्तौ । बभासे । २३ । णासृ रासृ शब्दे । नासते । प्रणासते । २५ । णस कौटिल्ये । नसते । २६ । भ्यस भये । भ्यसते । बभ्यसे । २७ । आङ् शसि इच्छायाम् । आशंसते । आशशंसे । १८ । ग्रसु ग्लसु अदने । जग्रसे । जग्लसे । ३० । ईह चेष्टायाम् । ईहाञ्चक्रे । ३१ । वहि महि वृद्धौ । वंहते । बवंहे मंहते । ३३ । अहि गतौ । अंहते । आनंहे । ३४ । गर्ह गल्ह कुत्सायाम् । जगर्हे । जगल्हे । ३६ । बर्ह बल्ह प्राधान्ये । ओष्ठ्यादी । ३८ । वर्ह वल्ह परिभाषणहिंसाच्छादनेषु । दन्त्योष्ठ्यादी ।

केचित्तु पूर्वयोर्दन्त्योष्ठ्यादितामनयोरोष्ठ्यादितां चाहुः । ४० । प्लिह गतौ । पिप्लिहे । वेहृ जेहृ बाहृ प्रयत्ने । आद्यो दन्त्योष्ठ्यादिः । अन्त्यः केवलोष्ठ्यादिः । उभावप्योष्ठ्यादी: । अन्त्यः केवलोष्ठ्यादिः । उभावप्योष्ठ्यादी इत्येके । दन्त्योष्ठ्यादी इत्यपरे । बेहतिर्गत्यर्थोऽपि । ववाहे । ४४ । द्राहृ निद्राक्षये । निक्षेपे इत्येके । ४५ । काशृ दीप्तौ । चकाशे । ४६ । ऊहृ वितर्के । ऊहांचक्रे । ४७ । गाहू विलोडने । गाहते । जगाहे । जगाहिषे । जघाक्षे । जगाहिढ्वे । जगाहिध्वे । जगाढ्वे ।

अब ऊष्मान्त आत्मनेपदी धातुओं का निर्देश करते है ।

धुक्ष धिक्ष संदीपन क्लेशन जीवन अर्थ में है । वृक्ष धातु वरण अर्थ है । शिक्ष धातु विद्या का उपार्जन = प्राप्ति अर्थ में है । भिक्ष धातु भिक्षा के लाभ या आलाभ अर्थ में है । क्लेश अव्यक्त शब्दार्थक है । बाधन अर्थ में यह है ऐसा दुर्गाचार्य का मत है । दक्ष का बृद्धि एवं शीघ्रता अर्थ है । दीक्ष का अर्थ मुण्डन करना, इज्या=यज्ञ सम्पादन क्रिया, उपनयन = यज्ञोपवीतधारण क्रिया, नियम, एवं व्रतादेश में है । ईक्ष दर्शनार्थक है । ईष गति, हिंसा एवं दर्शन में है ।

भाष धातु व्यक्त शब्दक्रमंक उच्चारण क्रिया में है । वर्ष धातु स्नेह अर्थ में है । यह दन्त्योष्ठ्यादि है । गेष्ट धातु अन्वेषण = खोज करना = रीसर्च करना अर्थ में है । कोई ग्लेष्ट पढता है इसी अर्थ में । पेषृ प्रयत्नार्थ क है । जेषृ आदि गत्यर्थक है । हेषृ अस्पष्ट शब्द में है । रेषृ धातु वृक शब्द में है । हेषृ एवं, हेषृ धातु अश्व शब्द में है । कास धातु कुत्सित शब्द अर्थ में है । भास दीप्ति मे है । णास रास शब्द करने में है । णस् धातु कुटिलता अर्थ में है । भ्यस् भयार्थक है । आङ् पूर्वक शंस् इच्छा अर्थ में है । ग्रसु ग्लसु भक्षणार्थक है ।

ईह चेष्टा में है । बहि महि वृद्धि में । गर्ह गल्ह कुत्सा में है । वर्ह् बल्ह प्राधान्य में है । यह दो धातु ओष्ठ्यादि है । वर्ह बल्ह परिभाषण, हिंसा, आच्छादन में है । यह दो धातु दन्त्योष्ठ्यादि

है। कोई पूर्वोक्त कथन से विपरीत कहते हैं। प्लिह गत्यर्थक है। वेह आदि तीन धातु प्रयत्न में है। प्रथम दन्त्योष्ठ्यादि अन्य केवल ओष्ठ्यादि एवं कोई दन्त्योष्ठ्यादि भी कहते हैं। वेह गत्यर्थक है। द्राह निद्रा'भङ्ग में है। अन्यमत से निक्षेप में है। काश्र दीप्ति में है।

ऊह धातु वितर्क में है। गाहू बिलोडन अर्थ में है। ऊकारेत्व से वलादि आर्धधातुक में 'स्वरति' सूत्र से विकल्प से इट् आगम होगा। लट् में गाहते। लिट् में जगाहे। इट्पक्ष में जगाहिषे। इट् के अभाव में जगाह् से यहाँ ढत्व भष्भाव 'एकाचो बशो भष्' से हुआ। 'षढोः कः सि' से क, ककार से पर सकार को षकार जघाक्षे। 'विभाषेटः' इति वा मूर्धन्यः। जगाहिषे। जगाढ्वे। जगाहिध्वे। इडभाव में भष्भाव हुआ।

२३३६ ढो ढे लोपः ८।३।१३।

ढस्य लोपः स्याड् ढे परे। गाहिता। गाढा। गाहिष्यते। घाक्ष्यते। गाहिषीष्ट। घाक्षीष्ट। अगाहिष्ट अगाढ। अघाक्षाताम्। अघाक्षत। अगाढाः। अघाढ्वम्। अघाक्षि। ४८। गृहू गर्हणे। गर्हते। जगृहे। ॐऋदुपधेभ्यो लिटः कित्त्वं गुणात् पूर्वविप्रतिषेधेनॐ। जगृहिषे। जघृक्षे। जगृढ्वे। गर्हिता। गर्ढा। गर्हिष्यते। घर्क्ष्यते। गर्हिषीष्ट। घृक्षीष्ट। लुङि अगर्हिष्ट। इडभावे।

ढकार से अव्यवहित पूर्व ढकार का लोप होता है। ऊदित्व प्रयुक्त वलादि आर्धधातु को विकल्प से इट् होता है। इट् पक्ष में गाहिता। इट् के अभाव पक्ष में ढकार धकार ष्टुत्व ढलोप गाढा। गाहिष्यते। पक्ष में ढत्व भष भाव कत्व षत्व क्षत्व घाक्ष्यते। गाहिषीष्ट पक्ष में ढत्क भष भाव कत्व षत्व क्षत्व घाक्षीष्ट। लुङ् में इट् पक्ष में अगाहिष्ट। पक्ष में ढत्व षत्व ष्टुत्व ढलोप झस्लो झलि सकारलोप अगाढ। ढत्व षत्व ष्टुत्व ढलोपाः।

यहां सिच् लोप से पूर्व भष्भाव नहीं होता है। क्योंकि असिद्ध वह हैं। सिच् लोप के बाद भी भष् भाव नहीं होता है सकार परत्व के अभाव से। वर्णाश्रय में प्रत्ययलक्षण का अभाव है अतः सिच् लोप करने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' की अप्रवृत्ति ही है। वर्णाश्रये प्रत्ययलक्षणाभाव स्वीकार करने से ही गवे हितम् = गोहितम् में प्रत्ययलक्षणाभाव से अच्परत्व के अभाव प्रयुक्त 'एचोऽय्' से अवादेश न हुआ।

गृहू निन्दार्थ में है। गर्हते लघूपध गुण हुआ। जगृहे यहां कित्व से पर लघूपध गुण प्राप्त है। अतः वार्तिक किया * ऋकारोपध से पर लिट् को कित्व पूर्वविप्रतिषेध से होता है *। कित्वप्रयुक्त गुणाभाव से जगृहे रूप सिद्ध हुआ। इट् पक्ष में जगृहिषे। पक्ष में कित्व से गुणाभाव ढत्व भष् भाव कत्व षत्व जघृक्षे। जगृढ्वे। यहां ध्वम् के धकार को मूर्धन्य ढकार टिको एत्व गर्हिता। इट् पक्ष में लघूपध गुण गर्हिता। पक्ष में। गुण ढत्व षत्व ष्टुत्व ढलोप गर्ढा। गर्हिष्यते। पक्ष में ढत्व भष् भाव कत्व षत्व गुण घर्क्ष्यते। गर्हिषीष्ट। पक्ष में घृक्षीष्ट ढत्व भष् भाव कत्व षत्व क्षत्व। लुङ् में गुण इट् सकार जो सिच् का है उसको षकार ष्टुत्व अगर्हिष्ट। इट् के अभाव में च्लि को क्सादेश के लिए सूत्र—

२३३७ शल इगुपधादनिटः क्सः ३।१।४५।

इगुपधो यः शलन्तस्तस्मादनिटश्च्लेः क्सादेशः स्यात्। अघृक्षत।

इक् उपधावाले शलन्त धातु से पर अनिट् च्लि प्रत्यय को क्स आदेश विकल्प से होता है। अगृह् स त ढत्व भष्भाव कत्व षत्व क्षत्व अघृक्षत।

२३३८ क्सस्याचि ७।३।७२।

अजादौ तङि क्सस्य लोपः स्यात्। अलोऽन्त्यस्य। अघृक्षाताम्। अघृक्षन्त। ४९। ग्लह च। ग्लहते। ५०। घुषि कान्तिकरणे। घुंषते। जुघुंषे। केचिद् 'घष' इत्यदुपधं पठिन्त।

अजादि तङ् पर रहने क्स का जो अन्त्य अल् अकार उसका लोप होता है। अगृह् स आताम् यहां ढकार भष्भाव ककार मूर्धन्य अकारलोप अघृक्षाताम्।

विमर्श—यद्यपि यहां लोप अकार का न कर दीर्घ करने पर भी रूप की सिद्धि होती। लोप विधान का अन्यत्र फल है यह कथन उचित नहीं है, लोपाभाव पक्ष में 'आतो ङितः' से आकार को इयादेश प्राप्त होता जो इष्ट नहीं है। अकारलोप करने पर उसकी अकारपरक आकार न होने से प्राप्ति ही नहीं है अतः लोपविधान का यहाँ भी फल है।

ग्लह धातु भी निन्दा अर्थ में है। घुषि कान्तिकरण में है। इकारेत्व प्रयुक्त नुमागम अनुस्वार घुंषते। कोई घष ऐसा पढता है। ५१।

अथार्हत्यन्ताः परस्मैपदिनः।

घुषिर् अविशब्दने। विशब्दनं प्रतिज्ञानं ततोऽन्यस्मिन्नर्थे इत्येके। शब्दे इत्यन्ये पेठुः। घोषति। जुघोष। घोषिता। इरित्वादङ् वा। अघुषत्। अघोषीत्। १। अक्षू व्याप्तौ।

घुषिर् से अर्ह् तक परस्मैपदी धातुओं का निर्देश अब करते हैं।

प्रतिज्ञान से भिन्न अर्थ में घुषिर् धातु है। कोई इसको शब्द अर्थ में पढते हैं। इर् की इत्संज्ञा प्रयुक्त लुङ् में सिच् को बाधकर च्लि विकरण को अङ् आदेश। 'इरितो वा' से विकल्प हुआ अङ् ङित् होने से लघूपध गुणाभाव से अघुषत्। पक्ष में अघोषीत्। ऊकार की इत्संज्ञा युक्त अक्ष् व्याप्ति अर्थ में है।

२३३९ अक्षोऽन्यतरस्याम् ३।१।७५।

अक्षो वा श्नुप्रत्ययः स्यात् कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे। पक्षे शप्। अक्ष्णोति। अक्ष्णुतः। अक्ष्णुवन्ति। अक्षति। अक्षतः। अक्षन्ति। आनक्ष। आनक्षिथ। आनष्ट। अक्षिता-अष्टा। अक्षिष्यति। स्कोरिति कलोपः। षढोः कः सि अक्ष्यति। अक्ष्णोतु। अक्ष्णुहि। अक्ष्णवानि। आक्ष्णोत्। आक्ष्णवम्। अक्ष्णुयात्। अक्ष्यात्। ऊदित्वाद् वेट्। नेटि। मा भवान् आक्षीत्। अक्षिष्टाम्। अक्षिषुः। इडभावे तु मा भवान् आक्षीत्। आष्टाम्। आक्षुः। २। तक्षू त्वक्षू तनूकरणे।

कर्तृ अर्थ में विद्यमान सार्वधातुक पर रहते अक्ष् धातु को श्नुविकरण विकल्प से होता है। पक्षमें शप् विकरण से लट् लोट् लङ् विधि लिङ् में दो रूप होते एक श्नु घटित एक शप् घटित। श्नु में शकार की इत्संज्ञा नु के नकार को णकारादेश होता है। पित् सार्वधातुक में गुण। अक्ष्णोति। अक्ष्णुतः। 'हुश्नुवोः' से अन्तिपरक उकार को यण्। आनष् में शकार को षकार ष्टुत्व। 'अष्टा' में षत्व ष्टुत्व। अक्ष् स्यति यहां स्कोः से ककार का लोप हुआ। लुङ् में ऊदित्प्रयुक्त वैकल्पिक इट् आगम। नेटि से वृद्धि का निषेध माङ् योग मे आट का अभाव-मा भवान् अक्षीत्। इडभाव में हलन्तलक्षणा वृद्धि में आक्षीत्। तक्षू त्वक्षू तनूकरण = अल्पत्व करण अर्थ में है।

२३४० तनूकरणे तक्षः ३।१।७६।

श्नुः स्याद् वा शब्विषये। तक्ष्णोति। तक्षति वा काष्ठम्। ततक्षिथ। ततष्ठ। अतक्षीत्। अताक्षिष्टाम्। अतक्षीत्। अताष्टाम्। तनूकरणे किम्, वाग्भिः संतक्षति = भर्त्सयति इत्यर्थः। ४। उक्ष सेचने। उक्षाञ्चकार। ५। रक्ष पालने। ६। णिक्ष चुम्बने। प्रणिक्षति। ७।

तनूकरण अर्थ में तक्ष धातु को कर्तृरूपार्थक सार्वधातुक प्रत्यय पर रहते अर्थात् शप्विकरण की प्राप्ति विषय में श्नुविकरण होता है विकल्प से। लट् लोट् लङ् विधिलिङ् में दो रूप होंगे श्नुघटित एवं शप्घटित। जहाँ इस धातु का डाटना अर्थ है वहाँ श्नु नहीं होता है केवल शप् ही होता है। बढई काष्ठ को छिलकर कृश अर्थात् अल्प करता है वहाँ तक्ष्णोति तक्षति दो रूप हैं। आर्धधातुक में विकल्प से इट् आगम होता है। ततक्षिथ। ततष्ठ यहाँ स्कोः से सकार का लोप एवं ष्टुत्व है। लुङ् में 'नेटि' से वृद्धि का निषेध अतक्षीत्। इट् के अभावपक्ष में हलन्त लक्षण वृद्धि से अताक्षीत्। अताष्टाम् में स्कोः से ककार का लोप है। 'वचनैः संतक्षति' यहाँ भर्त्सन है यहाँ श्नु न हुआ।

उक्ष धातु सेचन में है। लिङ् में 'इजादेः' से आम् हुआ। पालन अर्थ में रक्ष धातु है। णिक्ष धातु मुखसंयोगजन्य चुम्बन अर्थ में है यह प्रीति का उद्बोधक है, कभी वात्सल्यभाव से कभी वैषयिक वासना की अभिव्यक्ति प्रयुक्त भी होता है। 'णो नः' से नकारादेश निक्षति। प्र उपसर्ग पूर्वक रहने पर "उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य" सूत्र से णकारादेश नकार को हुआ। प्रणिक्षति = प्रकर्षेण चुम्बनं करोति यह अर्थ हुआ।

तृक्ष ष्टृक्ष णक्ष गतौ। तृक्षति। स्तृक्षति। नक्षति। १०। वक्ष रोषे। संघाते इत्येके। ११। मृक्ष संघाते। म्रक्ष इत्येके। १२। तक्ष त्वचने। त्वचनं संवरणम्, त्वचो ग्रहणं च। पक्ष परिग्रहे इत्येके। १४। सुर्क्ष आदरे। सुसूर्क्ष। 'अनादरे' इति तु काचित्कोऽपपाठः 'अवज्ञावहेलनमसूर्क्षणम्' इत्यमरः। १५।

काक्षि वाक्षि माक्षि काङ्क्षायाम्। १८। द्राक्षि ध्राक्षि ध्वाक्षि घोरवाशिते च। २१। चूष पाने। चुचूष। २२। तूष तुष्टौ। २३। पूष वृद्धौ। २४। मूष स्तेये। २५। लूष रूष भूषायाम्। २७। शूष प्रसवे। प्रसवोऽभ्यनुज्ञानम्। तालव्योष्मादिः। २८। यूष हिंसायाम्। जूष च। ३०। भूष अलङ्कारे। भूषति। ३१।

कष खष शिष जष झष शष वष मष रुष रिष हिंसार्थाः। तृतीयषष्ठौ तालव्योष्मादी। सप्तमो दन्त्योष्ठ्यादिः। चकाष। चखाष। शिशेष। शिशेषिथ। शेष्टा। क्सः—अशिक्षत्। अशेक्ष्यत्। जेषतुः। झेषतुः। शेषतुः। वेषतुः। मेषतुः।

तृक्ष ष्टृक्ष णक्ष धातु गमनार्थक है। वक्ष धातु रोष अर्थ में है। कोई संघात में इसका प्रयोग करता है। मृक्ष संघात में है। कोई म्रक्ष को संघात में कहते हैं। तक्ष त्वचन में है। त्वचन का संवरण त्वच् का ग्रहण अर्थ है। सूर्क्ष आदर अर्थ में है। किसी पुस्तक में अनादर अर्थ में है ऐसा असङ्गत पाठ भेद है। सूर्क्ष का आदर एवं नञ् तत्पुरुष से अनादर इसमें अमरकोषकार भी प्रमाणीभूत है। 'अवज्ञा अवहेलनम असूर्क्षणम्' ये सब तिरस्कारार्थ हैं।

काक्षि वाक्षि एवं माक्षि चाहना इस अर्थ में है। द्राक्षि आदि तीन धातु घोरशब्द अर्थ में है। चूष पानार्थक है। तुष्टि में तुष् है। वृद्धि में पूष् है। चौर्यकर्म में मूष् है। अलङ्करण में लुष् एवं रुष् है। प्रसव में शूष् है। प्रसव का यहाँ अभ्यनुज्ञान अर्थ है। यह तालव्योष्मादि है। हिंसा में यूष का प्रयोग है। जूष भी हिंसा में है। अलंकार में भूष धातु है। कष से लेकर रिष तक १० धातु हिंसा में है। इनमें तृतीय शिष् षष्ठ शष् तालव्योष्मादि है। वष सप्तम दन्त्योष्ठ्यादि है।

२३४१ तीषसहलुभरुषरिषः ७।२।४८।

इच्छत्यादेः परस्य सादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात्। रोषिता। रोष्टा। रोषिष्यति। रेषिता। रेष्टा। रेषिष्यति। ४३। भष भर्त्सने। इह भर्त्सनं श्वरवः। भषति। बभाष। ४४। उष दाहे। ओषति।

यहां 'ति' सप्तम्यन्त है एवं 'ईषसह लभरुषरिषः' दिग्योगलक्षण पञ्चम्यन्त है, 'तस्मिन्' 'तस्मात्' दोनो परिभाषाओं का विषय है किन्तु 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' से ति षष्ठ्यन्त होगा। यस्मिन् विधिः से स्वरूपसती सप्तमी तदादि में निमित्त है सप्तम्यन्त अर्थ हो या नहीं। अतः तादि अर्थ हुआ। पञ्चम्यन्त से पर सप्तम्यन्त षष्ठ्यन्त व्याख्याकरने समय होना है। अतः सूत्रार्थ यह हुआ कि—ईष सह लुभ रुष रिष इनसे पर तकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् आगम होता है। रोषिता। रोष्टा। रेषिता। रेष्टा। रेषिष्यति। भर्त्सन अर्थ में भष् धातु है। कुत्ते के शब्द को भर्त्सन कहते हैं। भषति। बभाष। दाह अर्थ में उष है। ओषति।

२३४२ उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् ३।१।३८।

एभ्यो लिट्याम् वा स्यात्। ओषांचकार। उवोष। ऊषतुः। उवोषिथ। ४५। जिषु विषु मिषु सेचने। जिजेष। क्रादिनियमादिट्। विवेषिथ। विवेषिव। वेष्टा। वेक्ष्यति। अविक्षत्। ४८।

पुष पुष्टौ। पोषिता। पोषिष्यति। अपोषीत्। अनिट्केषु पुष्येति श्यना निर्देशादयं सेट् अतो न क्सः। अङ् विधौ दैवादिकस्य ग्रहणान्नाङ्। ४६। श्रिषु श्लिषु प्रुषु प्लुषु दाहे। श्रेषति। शिश्रेष। श्रेषिता। श्लेषति। शिश्लेष। श्लेषिता। अयमपि सेट्। अनिट्सु दैवादिकस्यैव ग्रहणमिति कैयटादयः। यत्वनिट्कारिकान्यासे द्वयोर्ग्रहणमित्युक्तम् तत्स्वोक्तिविरोधाद् ग्रन्थान्तरविरोधाच्चोपेक्ष्यम्। पुप्रोष। पुप्लोष। ५३।

पृषु वृषु मृषु सेचने। मृषु सहने च। इतरौ हिंसासंक्लेशनयोश्च। पर्षति। पपर्ष। पृष्यात्। ५६। वृषु संघर्षे। ५७। हृषु अलीके। ५८। तुस ह्रस ह्लस रस शब्दे। तुतोस। जह्रास। जह्लास। ररास। ६२। लस श्लेषणक्रीडनयोः। ६३।

घस्लृ अदने। अयं न सार्वत्रिकः 'लिट्यन्यतरस्याम्' इत्यदेर्घस्लादेशविधानात्। ततश्च यत्र लिङ्गं वचनं वास्ति तत्रैवास्य प्रयोगः। अत्रैव पाठः शपि परस्मैपदे लिङ्गम्। लृदित्करणमङि। अनिट्कारिकासु पाठो बलाद्यार्धधातुके। क्रमरचि तु विशिष्योपादानम्। घसति। घस्ता।

२३४२ उष, विद, जागृ धातु के पर आम् प्रत्यय विकल्प से होता है लिट् पर रहते। लिट् में आम, लघूपध गुण लिट् परक कृञ् का अनुप्रयोग से ओषांचकार। पक्ष में उवोष। यहां अभ्यास को उवङ् हुआ अभ्यासस्यासवर्णे से। 'ऊषतुः' सवर्णदीर्घ हुआ। जिषु आदि तीन धातु सेचनमें है। अविक्षत् में च्लि को क्सादेश है। पुष पुष्टि में है। अनिट्कारिका में पुष्य इस श्यन्-निर्देश से दिवादिगणपठित अनिट् है। शप् विकरण सेट् है। अतः च्लि को क्सादेश न हुआ सेट् होने से। पुषादिसूत्र में दिवादि पुष से पर च्लि को अङ् विधान है। अतः यहां अङ् न हुआ। अपोषीत। श्रिषु आदि चार धातु दाह में है। क्लिष् धातु दिवादि अनिट् है। अतः शब् विकरण यह सेट् है यह कैयटमत है। अनिट् यह एवं दिवादि दोनों है यह न्यासकार का मत है। यह न्यासमत स्वमत एवं अन्य आचार्य प्रणीत ग्रन्थों से विरुद्ध है अतः उपेक्ष्य है। पृषु आदि सेचनार्थ है। मृषु का सहन अर्थ है। अन्य दो हिंसा एवं संक्लेशनार्थक है। घृषु संघर्ष में है। दूसरे को पराभव करने की इच्छा को संघर्ष कहते हैं। मिथ्या अर्थ में हृषु धातु है। तुष आदि चार धातु शब्द में है। लस धातुश्लेषण एवं क्रीडा में है।

घस्लृ धातु भक्षणार्थ में है। यह धातु सार्वत्रिक नहीं है, जहाँ प्रमाण मिलेगा वहां ही इसका प्रयोग होता है। यदि सार्वत्रिक होता तो अद् धातु के स्थान में लिट् में घस्लृ आदेश का विधान व्यर्थ सिद्ध होता। भ्वादि में परस्मैपदी धातु के मध्य मे पाठ करने से शप् विकरण इसको होता है, इस से लट् लोट् लङ् विधि लिङ् में इसका प्रयोग सिद्ध हुआ। लृकारानुबन्धयुक्त इसको करने से लुङ् में इसका प्रयोग कर च्लि को 'पुषादि' सूत्र से अङ् हुआ। इससे लुङ् में प्रयोग का प्रमाण भी मिला। अनिट्कारिका में पाठ करने के कारण इसका प्रयोग वलादि आर्धधातुक में भी है। क्मरच् प्रत्यय पर रहते इसका विशेष रूप से उपादान है।

२३४३ सः स्यार्धधातुके ७।४।४९।

सस्य सः स्यात् सादावार्धधातुके। घत्स्यति। घसतु। अघसत्। घसेत्। लिङाद्यभावादाशिष्यस्याप्रयोगः।

यहाँ 'सि' सप्तम्यन्त सादि अर्थ प्रतिपादक हुआ। घस् के सकार को तकारादेश होता है सकारादि आर्धधातुक पर रहते। घत्स्यति। घसतु। अघसत्। घसेत् रूप हुए। आशीर्लिङ् में घस् के प्रयोग में कोई प्रमाण नहीं अतः वहाँ इसका अप्रयोग ही है।

२३४४ पुषादिद्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु ३।१।५५।

श्यन्विकरणपुषादेर्द्युतादेर्लृदितश्च परस्य च्लेरङ् स्यात् परस्मैपदेषु। अघसत्।६४।

श्यन् विकरण पुषादि, एवं द्युतादि तथा लृकार की इत्संज्ञा वाले जो धातु इनसे पर च्लि को अङ् आदेश होता है। परस्मैपदी संज्ञक प्रत्यय पर में रहते। लुङ् में 'अघसत्' रूप हुआ।

विमर्श—पुष धातु भ्वादि में दिवादि में क्र्यादि में एवं चुरादिगण में पठित है। यदि 'पुष पुष्टौ से आरम्भ कर पुषादिगण इस सूत्र में माना जाय तो सूत्रस्थ द्युतादि ग्रहण व्यर्थ होगा क्यों कि पुष के उत्तर द्युतादि का पाठ है।

इस से सिद्ध हुआ कि भ्वादि का पुषादि यहाँ गृहीत नहीं है। क्र्यादि का ग्रहण भी नहीं हैं, वहाँ पुष धातु के बाद केवल चार धातु हैं वे लृकारानुबन्ध से युक्त करदिये जाते कार्य निर्वाह अङ् रूप होता। इस में लाघव भी है। चुरादि का पुषादि भी यहाँ गृहीत नहीं है। णि का व्यवधान

से णिच् प्रकृतिभूत धातु से अव्यवहित च्लि का अभाव है। अतः परिशेषात् दिवादि ही पुषादि यहाँ गृहीत है। इसका फलितार्थ कथन है कि श्यन् विकरण पुषादि यही वृत्ति में लिखित है। शिष्टोक्तव्याख्यान से भी श्यन् विकरण ही लेना, अतः णिच् विकल्प पक्ष में चुरादि से अव्यवहित च्लि सम्भव है यह शङ्का न करनी चाहिये।

जर्ज चर्च झर्झ परिभाषणहिंसातर्जनेषु । ६७ । पिसृ पेसृ गतौ । पिपिसतुः । पिपेसतुः । ६८ । हसे हसने । एदित्त्वान्न वृद्धिः । अहसीत् । ७० । णिश समाधौ । तालव्योष्मान्तः । प्रणेशति । ७१ । मिश मश शब्दे रोषकृते च । तालव्योष्मान्तौ । ७३ । शव गतौ । दन्त्योष्ठ्यान्तस्तालव्योष्मादिः । शवति । आशावीत् । अशवीत् । ७४ ।

शश प्लुतगतौ । तालव्योष्माद्यन्तः । शशाष । शेशतुः । शेशुः । शेशिथ । ७५ । शसु हिंसायाम् । दन्त्योष्मान्तः । 'न सशदद' इत्येत्वं न । शशसतः । शशसुः । शशसिथ । ७६ शंसु स्तुतौ । अयं दुर्गतावपि इति दुर्गः । नृशंसो घातुकः क्रूर इत्यमरः । शशंस । आशिषि नलोपः—शस्यात् । ७७ । चह परिकल्कने । परिकल्कनम्=शाठ्यम् । अचहीत् । ७८ । मह पूजायाम् । अमहीत् । ७९ । रह त्यागे । ८० ।

रहि गतौ । रंहति । रंह्यात् । ८१ । दृह दृहि बृह बृहि वृद्धौ । दर्हति । ददर्ह । ददृहतुः । दृंहति । बर्हति । बृंहति । बृहि शब्दे च । बृंहितं करिगर्जितम् । ८५ । बृहिर् इत्येके । अबृहत । अबर्हीत् । ८६ । तुहिर् दुहिर् उहिर् अर्दने । तोहति । तुतोह । अतुहत् । अतोहीत् । दोहति । अदुहत् । अदोहीत् । अनिट्कारिकास्वस्य दुहेर्ग्रहणं नेच्छन्ति । ओहति । उवोह । ऊहतुः । ओहिता । मा भवान् उहत । औहीत् । ८९ । अर्ह पूजायाम् । आनर्ह । ९० ।

जर्ज चर्च झर्झ परिभाषण, हिंसा एवं तर्जन में है। पिस पेस गति में है। हसे हसन क्रिया में है। एकार की इत्संज्ञा से लुङ् में वृद्धि नहीं। अहसीत्। 'ह्म्यन्त' से वृद्धि का निषेध हुआ। णिश समाधि = चित्तवृत्तिनिरोध में है। णो नः से नकारादेश। 'प्रणेशति' में 'उपसर्गादसमासे' से णकारादेश। मिश मश शब्दार्थक है या रोष = क्रोध प्रयुक्त शब्द में है। शव गति में है। शसु हिंसा में है। 'शशसुः' में 'न शशदद' से एत्वाभ्यास लोप न हुआ।

शंसु स्तुति में है। यह दुर्गति में भी प्रयुक्त है ऐसा श्री दुर्गाचार्य कहते हैं। अमरकार भी कहते हैं कि घातुक, क्रूर नृशंस वे तीनो नीचार्थ के पर्य्याय वाचक हैं। आशीर्लिङ् में 'अनिदिताम्' से नलोप शस्यात्। चह धातु शठताजनक व्यापारार्थक है। हकारान्त से लुङ् में वृद्धि न हुई। अचहीत्। मह पूजा में है। रह त्याग में है। रहि गति में है। दृह आदि चार वृद्धि में है।

बृहि शब्द में है। हाथी के शब्द को बृंहित कहते हैं। कोई इर् इत्संज्ञक इसको मानता है। लुङ् में च्लि का अङ् विकल्प से दो रूप। तुहिर आदि तीन पीडा में है। अनिट्कारिका में इस दुह को ग्रहण नहीं है। अर्ह पूजा में है। लिट् में 'इजादेः' से नुम् आनर्ह। ९०।

अथ कृपूपर्यन्ता अनुदात्तेतः । द्युत दीप्तौ । द्योतते ।

सम्प्रति कृप् तक अनुदात्त वर्ण है इत्संज्ञक जिनका ऐसे धातुओं का निर्देश करते हैं। द्युत

धातु दीप्तिजनक व्यापार में है। यहां से भ्वादि का अन्तर्गण द्युतादि का प्रारम्भ हुआ। द्युतादिगण पठित परस्मैपदी धातुओं का लुङ् मे च्लि को अङ् होता है। एवं लुङ् में परस्मैपद विकल्प से होता है। यह सब वक्ष्यमाण है। यह आत्मनेपदी है। द्योतते।

२३४५ द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् ७।४।६७।

अनयोरभ्यासस्य सम्प्रसारणं स्यात्। दिद्युते। दिद्युताते। द्योतिता।

द्युत् एवं स्वप् धातु के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है लिट् में। सम्प्रसारण, पूर्वरूप, दिद्युते।

२३४६ द्युद्भ्यो लुङि १।३।९१।

द्युतादिभ्यो लुङः परस्मैपदं वा स्यात्! पुषादिसूत्रेण परस्मैपदे अङ्। अद्युतत्। अद्योतिष्ट। १। श्विता वर्णे। श्वेतते। शिश्विते। अश्वितत्। अश्वेतिष्ट। २। ञिमिदा स्नेहने। मेदते।

द्युतादिगण पठित धातुओं से पर लुङ् के स्थान में परस्मैपद संज्ञक प्रत्यय विकल्प से होते है। परस्मैपद प्रत्यय से पूर्व में यहां च्लि को अङ् पुषादि सूत्र करता है। अद्युतत्। अद्योतिष्ट। श्विता धातु वर्ण में है। आकार की इत्संज्ञा लोप हुआ। श्वेतते। लुङ् में अश्वितत्। अश्वेतिष्ट। ञिमिदा स्नेह में है। ञि एवं आ की इत्संज्ञा है। लधूपध गुण से मेदते।

२३४७ मिदेर्गुणः ७।३।८२।

मिदेरिको गुणः स्यादित्संज्ञकशकारादौ। एश आदिशित्त्वाभावान्नानेन गुणः। मिमिदे। अमिदत्। अमेदिष्ट।३।

इत्संज्ञकशकारादि प्रत्यय पर रहते मिद् धातु का अवयव इक् का गुण होता है। एश् में शकार इत्संज्ञक यद्यपि है किन्तु वह आदि में नहीं अतः 'मिमिदे' में गुणाभाव है। लुङ् में अङ् अमिदत्। पक्ष में अमेदिष्ट।

विमर्श—यहां 'मिदेः' अवयव षष्ठ्यन्त है। अतः अलोऽन्त्यस्य की अप्रवृत्ति है। यहां 'इको गुणवृद्धी' से इक् का लाभ हुआ है। इक् की उपस्थिति न करने पर भी दोष नही है। मिदः इः मिदिः तस्य मिदः मिद् का निर्दिश्यमान इकार को गुण होता है। यह तच्छेष पक्ष के समर्थन में कहा जाता है।

ञिष्विदा स्नेहनमोचनयोः। मोहन योरित्येके। स्वेदते। सिस्विदे। अस्विदत्। अस्वेदिष्ट। ४। रुच दीप्तावभिप्रीतौ च। रोचते सूर्यः। हरये रोचते भक्तिः। अरुचत्। अरोचिष्ट। ६। घुट परिवर्तने। घोटते। जुघुटे। अघुटत्। अघोतिष्ट। ७। रुट लुट लुठ प्रतिघाते। अरुटत्। अरोटिष्ट। १०। शुभ दीप्तौ। ११।

क्षुभ सञ्चलने। १२। णभ तुभ हिंसायाम्। आद्योऽभावेऽपि। 'नभन्तामन्यके समे। मा भूवन्नन्यके सर्वे' इति निरुक्तम्। अनभत्। अनभिष्ट। अतुभत्। अतोभिष्ट। इमौ दिवादिक्र्यादी च। १४। स्रंसु ध्वंसु भ्रंसु अवस्रंसने। ध्वंसु गतौ च। अङि नलोपः। अस्रसत्। अस्रंसिष्ट। "नास्रसत्करिणां ग्रैवम्" इति रघुकाव्ये।

भ्रंशु इत्यपि केचित्पेठुः। अत्र तृतीय एव तालव्यान्त इत्यन्ये। 'भ्रशु भ्रंशु अधः पतने' इति दिवादौ। १६। स्रम्भु विश्वासे। अस्रभत्। अस्रम्भिष्ट। दन्त्यादिरयम्। तालव्यादिस्तु प्रमादे गतः। २०। वृतु वर्तने। वर्तते। ववृते।

ञिष्विदा स्नेहन एवं मोचन में है। मोहन में भी है। रुच दिप्ति में एवं अभिप्रीति में है। प्रीतिजनकव्यापार अर्थ रुच् का है। 'रुच्यर्थानाम्' से प्रीत्याश्रय हरि की सम्प्रदान संज्ञा हुई, एवं चतुर्थी हरये रोचते भक्तिः। परिवर्तनमें घुट धातु है। रुट् आदि तीन धातु प्रतिघात में है दीप्ति में शुभ है। सञ्चलनमें भी है। णभ तुभ हिंसा में है। णभ अभाव में भी है। 'नभन्ताम्' यहां अभावार्थक भी णभ है। णभ तुभ दिवादि में एवं क्र्यादिगणपठित भी है।

स्रंसु ध्वंसु भ्रंसु अवस्रंसनार्थ में है। ध्वंसु गति में है। परस्मैपद लुङ् में अङ् एवं नलोप से अस्रसत्। इस का प्रयोग महाकाव्य रघुवंश में भी कालिदास ने किया है हाथियों का ग्रीवास्थ बन्धन चन्दन के पेड़ में सर्पों के रगड़ से चिह्नविशेष में रस्सी से बन्धन से वह बन्धन रस्सी इधर उधर सरक न सकी थी। "नास्रसत् करिणां ग्रैवम्"। कोई भ्रंशु को भी इस अर्थ में कहते हैं। यहां तृतीय तालव्यान्त है। ऐसा भी मत है। अधः पतन में भ्रशु भ्रंशु भी हैं वे दिवादि में हैं। स्रम्भु विश्वास में है। यह दन्त्यादि है तालव्यादि का प्रमाद अर्थ है वह प्रथम कह चुके हैं। वृतु धातु विद्यमान अर्थ में है। स वर्तते = सोऽस्ति। वह है। ववृते यहाँ कित्त्वप्रयुक्त गुणाभाव है।

२३४८ वृद्भ्यः स्यसनोः १।३।९२।

वृतादिभ्यः परस्मैपदं वा स्यात् स्ये सनि च।

स्य एवं सन् के विषय में वृतादि धातुसे पर लकार के स्थान में परस्मैपद संज्ञक प्रत्यय विकल्प से होते हैं।

२३४९ न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः ७।२।५९।

एभ्यः सकारादेरार्धधातुकस्येण्न स्यात् तङानयोरभावे। वर्त्स्यति—वर्तिष्यते। अवृतत्—अवर्तिष्ट। अवर्त्स्यत्। अवर्तिष्यत। २१।

वृतादि चार धातुओं से पर सकारादि आर्धधातुक को इट् नहीं होता है, तङ् एवं शानच् के अर्थात् परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय पर में रहते वलादिलक्षण इट् आगम नहीं होता है 'वृद्भ्यः स्यसनोः' एवं यह सूत्र दोनो गण कार्य है। अतः दो सूत्र यङ्लुक् में प्रवृत्त नहीं होते हैं। यहाँ चतुर्थग्रहण का फल अनुपद ही स्पष्ट होगा वर्त्स्यति यहाँ परस्मैपद एवं इट् का अभाव हुआ। आत्मनेपद पक्ष में है वहाँ इट् से वर्तिष्यते। लुङ् में विकल्प से परस्मैपद, वहाँ च्लि को अङ् अवृतत्। पक्ष में अवर्तिष्ट। लङ् में परस्मैपद, इट् का अभाव अवर्त्स्यत्। पक्ष में अवर्तिष्यत।

वृधु वृद्धौ। शृधु शब्दकुत्सायाम्। इमौ वृतिवत्। स्यन्दू प्रस्रवणे। स्यन्दते। सस्यन्दे। सस्यन्दिषे। सस्यन्त्से सस्यन्दिध्वे। सस्यन्ध्वे। स्यन्दिता। स्यन्ता। 'वृद्भ्यः स्यसनोः' इति परस्मैपदे कृते ऊगिल्लक्षणमपि विकल्पं बाधित्वा चतुर्ग्रहणसामर्थ्यान्न वृद्भ्य इति निषेधः। स्यन्त्स्यति। स्यन्दिष्यते। स्यन्त्स्यते। स्यन्दिषीष्ट। स्यन्त्सीष्ट। द्युद्भ्यो लुङीति परस्मैपदपक्षे अङ्'

नलोपः । अस्यदत् । अस्यन्दिष्ट । अस्यन्त । अस्यन्त्साताम् । अस्यन्त्सत । अस्यन्त्स्यत् । अस्यन्दिष्यत । अस्यन्त्स्यत् ।

वृधु धातु वृद्धिजनक व्यापार में है । शृधु शब्दगत निन्दार्थक है । यह दोनो धातु वृतादि हैं अतः वृत की तरह ही इन को कार्यकर तत्सदृश रूप होते हैं । अर्थात् 'वृद्भ्यः स्यसनोः' से परस्मैपद एवं 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' से इट् का अभाव होता है ।

स्यन्दू धातु प्रस्रवण में है । बहना चूना अर्थ में प्रयुक्त है । यहां दीर्घ ऊकार की इत्संज्ञा से ऊदित् धातु है लट् में स्यन्दते । लिट् में सस्यन्दे । सस्यन्दाते । सस्यन्दिरे । मध्यम पुरुष एक वचन में स्वरति से विकल्प वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् पक्ष में इट् का अभाव है 'स्वरति' सूत्र ने 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' का बाध किया यथा—सस्यन्दिषे । यहां वैकल्पिक इट् । पक्ष में इट् का अभाव से सस्यन्त्से ।

ध्वम् इट् पक्षमें सस्यन्दिध्वे । पक्ष में सस्यन्ध्वे । लुट् में इट् पक्ष में स्यन्दिता । पक्ष में स्यन्ता । लृट्में 'वृद्भ्यः स्यसनोः' से परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय लकार के स्थान में विधीयमान बोध न करने पर ऊदित् लक्षण 'स्वरति' सूत्र से अन्तरङ्ग वैकल्पिक इट् न हुआ । किन्तु बहिरङ्ग 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' ने वै० इट् का बाध किया । इसमें प्रमाण सूत्रस्थ चतुर्ग्रहण ही है । अन्यथा वैकल्पिक इट् बोधन करने पर उसका वैयर्थ्य स्पष्ट ही है । अतः इट् रहित केवल एक रूप स्यन्त्स्यति । आत्मनेपद में स्यन्दिष्यते । स्यन्त्स्यते । आशीर्लिङ् में स्यन्दिषीष्ट । स्यन्त्सीष्ट । लुङ् में परस्मैपद, अङ् नलोप, अस्यदत् । अस्यन्दिष्ट । अस्यन्त । लृङ् में परस्मैपद इट् का अभाव में अस्यन्त्स्यत् । पक्ष में आत्मनेपद में अस्यन्दिष्यत । अस्यन्त्स्यत ।

२३५० अनुविपर्यभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु ८।३।७२।

एभ्यः परस्याप्राणिकर्तृकस्य स्यन्दतेः सस्य षो वा स्यात् । अनुष्यन्दते अनुस्यन्दते वा जलम् । अप्राणिषु किम् । अनुस्यन्दते हस्ती । अप्राणिष्विति पर्युदासान्मत्स्योदके अनुष्यन्देते इत्यत्रापि पक्षे षत्वं भवत्येव । 'प्राणिषु न' इत्युक्तौ तु न स्यात् । २४ । कृपू सामर्थ्ये ।

अनु, वि, परि अभि नि इनके पूर्व मे रहते प्राणिभिन्नकर्तृक स्यन्द धातु के सकार के स्थान में विकल्प से षकारादेश होता है । जल बहता है यहां प्राणिभिन्न अचेतन जल कर्ता है यहां षकारादेश हुआ—अनुष्यन्दते जलम्—अनुस्यन्दते जलम् वा प्राणिकर्ता हस्ती है वहां षत्वाभाव है, यथा अनुस्यन्दते हस्ती । सूत्र में अप्राणिषु पद में पर्युदास समाश्रयण से मत्स्य यद्यपि प्राणी है किन्तु मत्स्योदक समुदाय जो कर्तृद्वय वह प्राणिभिन्न है अतः यहां विकल्प से षकारादेश होता है । यथा मत्स्योदके अनुष्यन्देते । पक्षमें षकाराभाव भी है । 'प्राणिषु न' ऐसा कहते तो यहां षकाराभाव रूप आपत्ति की प्रसक्ति होती ।

कृपू धातु सामर्थ्य अर्थ में है ।

२३५१ कृपो रो लः ८।२।१८।

'कृप उः' इति च्छेदः । कृपेति लुप्तषष्ठीकम् । तच्चावर्तते । कृपो यो रेफस्तस्य लः स्यात् । कृपेर्ऋकारस्यावयवो यो रः=रेफसदृशस्तस्य च लकारसदृशः स्यात् । कल्पते । चक्लृपे । क्लृपिषे । चक्लृप्से, इत्यादि स्यन्दिवत् ।

सूत्र में 'कृप उः' ऐसा पदच्छेद है। कृप यह 'सुपां सुलुक्' से लुप्तषष्ठीक पद है। कृप कृप ऐसी यहां आवृत्ति है।१—कृप धातु का जो रेफ उसको लकार आदेश होता है। २—कृप धातु का अवयव जो ऋकार उसका अवयव जो रेफसदृश उसको भी लकार सदृश आदेश होता है। अर्थात् जहां गुणादि से रेफ स्पष्ट भासमान है वहां रेफ को लत्व प्रथम अर्थ से होता है। एवं जहां ऋकार की सत्ता कृप अवयवत्वेन है वहां ऋकार रूप वर्ण का अवयवत्वेन भासमान रेफ सदृश अंश को लकार सदृश अर्थात् लकारादेश होता है। उदाहरणों में स्पष्ट यह क्रम है। 'कल्पते' में लघूपध गुण से अर् हुआ। उसका रेफ को लकारादेश है। लिट् में चक्लृपे यहां ऋकारावयव रेफसदृश को लकार सदृशलकार हुआ है। दीर्घऊकारेत्संज्ञक यह धातु है अतः वलादि आर्धधातुक में स्वरति से वैकल्पिक इट् एवं इट् का अभाव से स्यन्दू की तरह दो दो रूप होंगे।

२३५२ लुटि च क्लृपः १।३।९३।

लुटि स्यसनोश्च क्लृपः परस्मैपदं वा स्यात्।

लट् लकार में एवं स्य तथा सन् प्रत्यय के विषय में क्लृप् से पर लकार के स्थान में परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय आदेश विकल्प से होते हैं।

२३५३ तासि च क्लृपः ७।२।६७।

क्लृपेः परस्य तासेः सकारादेरार्धधातुकस्य चेण्न स्यात् तङानयोरभावे। कल्प्तासि। कल्प्तास्थः। कल्पितासे। कल्प्तासे। कल्प्स्यति। कल्पिष्यते। कल्प्स्यते। कल्पिषीष्ट। क्लृप्सीष्ट। अक्लृपत्। अकल्पिष्ट। अक्लृप्त। अकल्प्स्यत्–अकल्पिष्यत। अकल्प्स्यत। वृत्, वृत्तः=सम्पूर्णो द्युतादिर्वृतादिश्चेत्यर्थः। २५।

तङ् एवं शानच् कानच् इन के अभाव रहते कृप् धातु से पर तास् प्रत्यय सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् आगम नहीं होता है। 'लुटि च क्लृपः' से परस्मैपद इट् का अभाव गुण रपर लकारादेश कल्प्तासि। इसी प्रकार मूल में प्रदर्शित उदाहरणों में ज्ञान करना चाहिये। समाप्ति का चिह्न वृत् है। वृत्तः का अर्थ समाप्त है द्युतादि एवं वृतादि दोनों।

अथ त्वरत्यन्तास्त्रयोदशानुदात्तेतः षितश्च।

घट चेष्टायाम्। घटते। जघटे। घटादयो मित इति वक्ष्यमाणेन मित्संज्ञा। तत्फलन्तु णौ 'मितां ह्रस्वः' इति, 'चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्' इति च वक्ष्यते। घटयति। विघटयति।

कथं तर्हि "कमलवनोद्घाटनं कुर्वते ये" 'प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्वः कमलाकरानिवे'त्यादि। शृणु, 'घट सङ्घाते' चौरादिकस्येदम्। न च तस्यैवार्थविशेषे मित्त्वार्थमनुवादोऽयमिति वाच्यम्, 'नान्ये मितोऽहेताविति' निषेधात्। अहेतौ=स्वार्थे णिचि ज्ञपादिपञ्चकव्यरिक्ताश्चुरादयो मितो नेत्यर्थः। १।

व्यथ भयसंचलनयोः। व्यथते।

यहाँ से आरम्भ कर 'त्विरा संभ्रमे' तक १३ धातु अनुदात्तेत एवं षित् कहे जाते हैं। घट धातु चेष्टा में है। घटते लट् में। लिट् जघटे।

घट आदि गण पठित धातुओं की मित्संज्ञा होती है मित्संज्ञा का फल णिच् प्रत्यय पर में रहते उपधा वृद्धि के बाद ह्रस्व प्रयोजन है। एवं मित्संज्ञक धातुओं का चिण् या णमुल् पर रहते विकल्प से दीर्घ होता है यह भी मित्संज्ञा का प्रयोजन है। यथा—घट धातु से णिच् प्रत्यय घट की मित् संज्ञा है, 'अत उपधायाः' से णिच् निमित्तक उपधावृद्धि, 'मितां ह्रस्वः' से ह्रस्व 'घटयति' प्रयोग सिद्धि हुई। इसी प्रकार विघटयति हुआ। कमलवन को वे विकसित करते हैं इस अर्थ का बोधक वाक्य "कमलवनोद्घाटनं कुर्वते ये" यहाँ 'उद्घटनम्' होना चाहिये ह्रस्व विधान से, एवं सूर्य जिस प्रकार कमलसमूह को विकसित = प्रफुल्लित करता है उसी प्रकार इस का बोधक वाक्य "प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्वः कमलाकरानिव" यहाँ भी ह्रस्व से 'प्रविघटयिता' रूप होना चाहिये ? यह दो शङ्काएं यहाँ हुई।

पूर्वपक्षी से कहा जाता है कि अब समाधान सुनो, यह रूप 'घट संघाते' चुरादिगण पठित का है इस घट चेष्टायाम् जो मित्संज्ञक है उसका रूप नहीं है। इस पर पुनः पूर्वपक्षी कहता है कि चुरादि गण पठित घट धातु का ही अर्थविशेष अर्थात् चेष्टा में मित्वार्थ कथितकथनरूप अनुवाद मात्र है यहाँ वास्तविक में वह और यह एक ही है, अतः मित्त्वप्रयुक्त ह्रस्व क्यों नहीं हुआ ?, इस पर उत्तरपक्षी कहता है कि यह कथन पूर्वपक्षी का उचित नहीं है। स्वार्थिक णिच् में ज्ञप् आदि पाँच धातुओं से अतिरिक्त ण्यन्त धातु मित् नहीं ही है। "नान्ये मितोऽहेतौ" से मित्व का प्रतिषेध होता है।

व्यथ धातु भय एवं सञ्चलन में है। व्यथते = दुःखम्, कष्टं वा अनुभवति।

२३५४ व्यथो लिटि ७।४।६८।

व्यथोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं स्याल्लिटि। हलादिशेषापवादः। थस्य हलादिशेषेण निवृत्तिः। विव्यथे। २। प्रथ प्रख्याने। पप्रथे। ३। प्रस विस्तारे पप्रसे। ४। म्रद मर्दने। ५। स्खद स्खदने। स्खदनं विद्रावणम्। क्षजि गतिदानयोः। मित्त्वसामर्थ्यादनुपधात्वेऽपि चिण्णमुलोरिति दीर्घविकल्पः अक्षाञ्जि, अक्षञ्जि। क्षाञ्जं क्षाञ्जम्। क्षञ्जं क्षञ्जम्। ७। दक्ष गतिहिंसनयोः। योऽयं वृद्धिशैघ्र्ययोरनुदात्तेत्सु पठितस्तस्येहार्थविशेषे मित्त्वार्थोऽनुवादः। ८। क्रप कृपायां गतौ। ६ कदि क्रदि क्लदि वैक्लव्ये। वैकल्ये इत्येके। त्रयोऽप्यनिदितः इति नन्दी। इदित इति स्वामी। कदिक्रदी इदितौ। क्रद क्लदेति चानिदिताविति मैत्रेयः। कदि क्रदि क्लदीनामाह्वानरोदनयोः परस्मैपदिषूक्तानां पुनरिह पाठो मित्त्वार्थ आत्मनेपदार्थश्च। १२। ञित्वरा सम्भ्रमे। १३। घटादयः षितः। षित्वादङ् कृत्सु वक्ष्यते।

लिट् पर रहते व्यथ धातु के अभ्यास को हलादिशेषः को बाध कर सम्प्रसारण होता है थकार की हलादि शेष से निवृत्ति हुई। विव्यथे। प्रथ प्रख्यान = बोधन में है। विस्तार में 'प्रस' है। मर्दन अर्थ में म्रद है। स्खदनार्थ में स्खद है। स्खदन का अर्थ विद्रावण है। क्षजि गति एवं दान में है। मित्व करण सामर्थ्य से उपधा में अच् न रहते हुए भी यहाँ दीर्घ विकल्प से हुआ। अक्षाञ्जि। अक्षञ्जि। यहाँ चिण् भाव में णमुल् एवं 'नित्यवीप्सयोः' से द्वित्व जहाँ हुआ वहाँ भी विकल्प से दीर्घ क्षाञ्जं क्षाञ्जम् क्षञ्जम् क्षञ्जम्।

दक्ष गति एवं हिंसन में है। दक्ष धातु पूर्व में वृद्धि एवं शीघ्रता में अनुदात्त इत्संज्ञक पढ़ा था उसका यहां अर्थ विशेष में मित्त्वार्थ अनुवाद मात्र है, यह नवीन स्वतन्त्र नहीं है। क्रप कृपा एवं गति में है। कदि कुदि क्लदि वैक्लव्य में या वैकल्य में है। तीन अनिदित है यह नन्दी का मत है। तीनों धातु इदित है यह स्वामी का मत है। कदि, कुदि इदित है। कद, क्लद अनिदित है यह मैत्रेयमत है। आह्वान में एवं रोदन में पठित कुदि आदि परस्मैपद में जो कथित थे उन्हीं का यहां आत्मनेपदार्थ एवं मित्त्वार्थ अनुवाद है। संभ्रम अर्थ में त्वरा है। घटादिगणपठित सभी धातु षित है। अतः कृत् प्रत्यय अङ् 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' से होता है यह कहेंगे।

अथ फणान्ताः परस्मैपदिनः। ज्वर रोगे। ज्वरति। जज्वार।१। गड सेचने। गडति, जगाड।२। हेड वेष्टने। हेडृ अनादरे इत्यात्मनेपदिषु गतः स एवोत्सृष्टानुबन्धोऽनूद्यते अर्थविशेषे मित्त्वार्थम्। परस्मैपदिभ्यो ज्वरादिभ्यः प्रागेवानुवादे कर्तव्ये तन्मध्येऽनुवादसामर्थ्यात्परस्मैपदम्। हेडति। जिहेड। हिडयति। अहीडि। अहिडि। अनादरे तु हेडयति।३। वट भट परिभाषणे। वट वेष्टने भट भृताविति पठितयोः परिभाषणे मित्त्वार्थोऽनुवादः।५। नट नृत्तौ। इत्थमेव पूर्वमपि पठितं तत्रायं विवेकः। पूर्वं पठितस्य नाट्यमर्थः। यत्कारिषु नटव्यपदेशः। वाक्यार्थाभिनयो नाट्यम्। घटादौ तु नृत्तं नृत्यं चार्थः। यत्कारिषु नर्तकव्यपदेशः। पदार्थाभिनयो नृत्यम्। गात्रविक्षेपमात्रं नृत्तम्। केचित्तु घटादौ नट नताविति पठन्ति। गतावित्यन्ये। णोपदेशपर्युदासवाक्ये भाष्यकृता नाटीति दीर्घपाठाद् घटादिर्णोपदेश एव।६। ष्टक प्रतिघाते। स्तकति।७। चक तृप्तौ। तृप्तिप्रतिघातयोः पूर्वं पठितस्य तृप्तिमात्रे मित्त्वार्थोऽनुवादः। आत्मनेपदिनः परस्मैपदिष्वनुवादात् परस्मैपदम्।८। कखे हसने। एदित्त्वान्न वृद्धिः। अकखीत्।९। रगे शङ्कायाम्।१०। लगे सङ्गे।११। ह्रगे ह्लगे षगे ष्टगे संवरणे।१५। कगे नोच्यते, क्रियासामान्यार्थकत्वात्। अनेकार्थत्वादित्यन्ये।१६। अक अग कुटिलायां गतौ। कण रण गतौ। चकाण। रराण।२०। चण शण श्रण दाने च। शण गतावित्यन्ये।२३।

सम्प्रति फण धातु पर्यन्त परस्मैपदी धातु कहते हैं।

ज्वर रोग अर्थ में है। गड धातु सेचन में है। हेड धातु वेष्टन में है, अनादर अर्थ में ऋकारानुबन्धघटित आत्मनेपद में पूर्व पठित था उसका ऋकारअनुबन्धरहित वेष्टन अर्थ में मित्त्वार्थ अनुवाद यहां है। परस्मैपदी ज्वरादि के पूर्व में इसका अनुवाद करना था सो न करके मध्य में अनुवादकरण से परस्मैपदी है। हेडति। ण्यन्त में ह्रस्व हिडयति। चिण् में दीर्घ विकल्प से रूप द्वय। अनादर में मित्त्वाभाव से ह्रस्वाभाव है—हेडयति। नट एवं भट परिभाषण में है। वट वेष्टन मे एवं भट भरण में पूर्वपठित है उसी का परिभाषण में मित्त्वार्थ अनुवाद यहां है।

नट धातु नृत्य अर्थ में है। ऐसा ही पूर्व में भी पढ़ा है। पूर्वपठित नट का अर्थ नाट्य है। जिसके करने वाले को नट कहते है। वाक्यार्थकअभिनय को नाट्य कहते हैं। घटादि में तो नट धातु का नृत्त एवं नृत्य अर्थ है जिसको करने वाले में नर्तकव्यवहार होता है। पदार्थ के अभिनय को नृत्य कहते हैं। गात्रविक्षेप मात्र को नृत्त कहते हैं। किसी के मत से नति अर्थ में घटादि नट

धातु है। णोपदेशपर्युदास वाक्य में भाष्यकार के 'नाटि' ऐसा दीर्घ पाठ करने के कारण घटादि नट णोपदेश ही है।

ष्टक धातु प्रतिघात में है। षकार को सकारादेश, ष्टुत्व की निवृत्ति स्तकति। चक धातु तृप्ति में है। तृप्ति एवं प्रतिघात अर्थ में पूर्व में यह पठित है, उसी का यहां तृप्ति मात्र अर्थ में मित्त्वार्थ अनुवाद है। पूर्व में आत्मनेपदी धातुओं के मध्य में अनुवाद करण सामर्थ्य प्रयुक्त परस्मैपदी यह है। कखे हसन में है।

लुङ् में ह्म्यन्त से एकारेत्संज्ञक होने से वृद्धि का अभाव से 'अकखीत्'। रगे धातु शङ्का अर्थ में है। लगे धातु सङ्ग अर्थ में है। हगे, ह्लगे ष्टगे संवरण में है। सामान्यक्रियावाचक होने के कारण क्रियाविशेषार्थक न होने से 'कगे' का अर्थ यहां निर्दिष्ट नहीं किया। अथवा अनेकार्थक है, यह अन्यमत है। अक अग वक्र गति में है। कण एवं रण धातु गति में है। चण, शण, श्रण दान अर्थ में है। शण संयोगजनकव्यापारार्थक है यह अन्यमत है।

श्रथ श्लथ क्रथ क्लथ हिंसार्थाः। जासिनिप्रहणेति सूत्रे क्राथेति मित्त्वेऽपि वृद्धिर्निपात्यते। क्राथयति। मित्त्वन्तु निपातनात् परत्वाच्चिण्णमुलोरिति दीर्घे चरितार्थम्। अक्राथि। अक्रथि। क्राथं क्राथम्। क्रथं क्रथम्। २७। वन च। हिंसायामिति शेषः। २८। वनु च नोच्यते। 'वनु' इत्यपूर्व एवायं धातुर्नतु तानादिकस्यानुवादः, उदित्करणसामर्थ्यात्। तेन क्रियासामान्ये वनतीत्यादि। प्रवनयति। अनुपसृष्टस्य तु मित्त्वविकल्पो वक्ष्यते। २९।

ज्वल दीप्तौ। प्रत्ययार्थं पठिष्यमाण एवायं मित्त्वार्थमनूद्यते। प्रज्वलयति।३०। ह्वल ह्मल चलने। प्रह्वलयति। प्रह्मलयति। ३२। स्मृ आध्याने। चिन्तायां पठिष्यमाणस्य आध्याने मित्त्वार्थोऽनुवादः। अध्यानम् = उत्कण्ठापूर्वकं स्मरणम्। ३३। दॄ भये। दॄ विदारणे इति क्र्यादेरयं मित्त्वार्थोऽनुवादः। ह्यण्न्तं प्रेरयति दरयति। भयादन्यत्र दारयति। धात्वन्तरमेवेदमिति मते तु 'दरति' इत्यादि। केचिद् घटादौ अत्स्मृद्त्वरेति सूत्रे च 'दृ' इति दीर्घस्थाने ह्रस्वं पठन्ति, तन्नेति माधवः। ३४।

नॄ नये। क्र्यादिषु पठिष्यमाणस्यानुवादः। नयादन्यत्र नारयति। ३५। श्रा पाके। श्रै इति कृतात्वस्य 'श्रा' इत्यादादिकस्य च सामान्येनानुकरणम्, लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य, लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिति परिभाषाभ्याम्। श्रपयति = विक्लेदयतीत्यर्थः। पाकादन्यत्र श्रापयति = स्वेदयतीत्यर्थः। ३६।

श्रथ आदि चार धातु हिंसा अर्थ में है। 'जासिनिप्रहण' सूत्र में क्रथ धातु मित है, अतः ह्रस्व-घटित रहता है तो भी यहां 'क्राथ' इस निपातन करणसामर्थ्य से वृद्धि निपातित है।

अतः ण्यन्त में क्रथयति न होकर क्राथयति रूप हुआ। मित्त्व का फल यह है—मित्त्व तो निपातन से परत्व के कारण 'चिण् णमुलोः' इससे दीर्घ विषय में चरितार्थ है। यथा—अक्राथि, अक्रथि। णमुल् अन्त में क्राथं क्राथम्। क्रथं क्रथम्। वन हिंसा में है। यहां वनु ऐसा धातु नहीं

कहते क्योंकि वनु धातु अपूर्व है। उदित करण सामर्थ्य के कारण तनादि का अनुवाद नहीं है। यह क्रियासामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है और वनति आदि इसके रूप हैं। प्रवनयति। उपसर्गरहित इस वन का विकल्प से मित्त्व वक्ष्यमाण है।

ज्वल धातु दीप्ति में है। 'ज्वलतिकसन्तेभ्यः' में णप्रत्ययार्थ जो पढ़ा जायगा उसका यहां मित्त्वार्थ अनुवादमात्र है। प्रज्वलयति। ह्वल ह्मल चलन अर्थ में है। प्रह्वलयति, प्रह्मलयति। उत्कण्ठापूर्वकस्मरणरुप आध्यान अर्थ में स्मृ धातु है। चिन्ता अर्थ में पढ़ा जायगा इसका आध्यान में मित्त्वार्थ अनुवाद है। दॄ धातु भयार्थक है। विदारण अर्थ में क्र्यादि में पढ़ा जायगा उसी का मित्त्वार्थ अनुवाद है। दरयति। भयभिन्नार्थ में दारयति। यह स्वतन्त्र अपूर्व धातु ही है, इस मत में दरति रूप है।

किसी ने घटादि एवं 'अत्स्मृदॄत्वर' इसमें 'दॄ' दीर्घ के स्थान में ह्रस्वान्त 'दृ' ऐसा पाठ किया है वह माधवमत से असङ्गत है। नॄ धातु नय अर्थ में है। क्र्यादि में पढ़ा जायगा उसी का मित्त्वार्थ यहां अनुवाद मात्र है। नय से भिन्न में मित्त्वाभाव से ह्रस्वाभाव 'नारयति'।

श्रा धातु पाक में है—किञ्चिच्छित्तिजनकव्यापार पाकार्थ है। 'श्रा' रूप प्रतिपदोक्त है, अदादि गण में श्रा पाके पठित है वह रूप स्वाभाविक सूत्र प्रवृत्ति के विना ही निष्पन्न है। 'श्रै' धातु को 'आदेच उपदेशेऽशिति' से आत्व विधान कर 'श्रा' रूप लक्षणवश सम्पन्न है अर्थात् लाक्षणिक है। यहां स्वाभाविक आकारान्तत्व नहीं है।

यहां दो परिभाषायें हैं—१ लुक् विकरणक धातु एवं अलुक्विकरण धातु यदि एकानुपूर्वी से युक्त मिले तो वहां अलुक् विकरणक धातु का ही ग्रहण होता है। अदादि का 'श्रा पाके' से शप् विकरण कर 'अदिप्रभृतिभ्यः' से लुक् है। इस परिभाषा से यद्यपि अदादि का ग्रहण अप्राप्त है किन्तु लक्षण प्रतिपदोक्त' परिभाषा से अदादि का ग्रहण करना, एवं लुक् विकरण से कृतात्व श्रै का एवं श्रा का भी ग्रहण अर्थात् उभय का ग्रहण है। श्रपयति = श्रा णिच् पुक् आगम मित्वात् ह्रस्व। वह विक्लेद करता है। पाकभिन्नार्थ में मित्त्वाभाव से ह्रस्वाभाव श्रापयति = पसीना करता है। घर्म का अर्थ पसीना है।

मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा। निशामनं चाक्षुषज्ञानमिति माधवः। ज्ञापनमात्रमित्यन्ये। निशानेष्विति पाठान्तरम्। निशानं तीक्ष्णीकरणम्। एष्वेवार्थेषु जानातिर्मित्। ज्ञप मिच्चेति चुरादौ ज्ञापनं मारणादिकं च तस्यार्थः। कथं "विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति" इति, 'तज्ज्ञापयत्याचार्य' इति च? शृणु, माधवमतेऽचाक्षुषज्ञाने मित्त्वाभावात्। 'ज्ञापनमात्रे मित्त्वम्' इति मते तु ज्ञा नियोग इति चौरादिकस्य, धातूनामनेकार्थत्वात्। निशानेष्विति पठतां हरदत्तादीनां मते तु न काप्यनुपपत्तिः। ३७।

कम्पने चलिः। चल कम्पने इति ज्वलादिः। चलयति शाखाम्। कम्पनादन्यत्र तु शीलं चालयति = अन्यथा करोतीत्यर्थः। हरतीत्यर्थ इति स्वामी। सूत्रं चालयति = क्षिपतीत्यर्थः। ३८। छदिरूर्जने। छद अपवारणे इति चौरादिकस्य स्वार्थे णिजभावे मित्त्वार्थोऽयमनुवादः। अनेकार्थत्वादूर्जेरर्थे वृत्तिः। छदन्तं प्रयुङ्क्ते छदयति। बलवन्तं प्राणवन्तं वा करोतीत्यर्थः। अन्यत्र छादयति।

अपवारयन्तं प्रयुङ्क्ते इत्यर्थः। स्वार्थे णिचि तु छादयति, बलीभवति, प्राणीभवति, अपवारयति चेत्यर्थः।

जिह्वोन्मथने लडिः। लड विलासे इति पठितस्य मित्त्वार्थोऽनुवादः। उन्मथनम्=ज्ञापनम्। जिह्वाशब्देन षष्ठीतत्पुरुषः। लडयति जिह्वाम्। तृतीयातत्पुरुषो वा लडयति जिह्वया। अन्ये तु जिह्वाशब्देन तद्व्यापारो लक्ष्यते। समाहारद्वन्द्वोऽयम्। लडयति शत्रून्। लडयति दधि। अन्यत्र लाडयति पुत्रम्। ४०। मदी हर्षग्लेपनयोः। ग्लेपनं दैन्यम्। दैवादिकस्य मित्त्वार्थोऽयमनुवादः। मदयति=हर्षयति, ग्लेपयति वेत्यर्थः। अन्यत्र मादयति। चित्तविकारमुत्पादयतीत्यर्थः। ४१। ध्वन शब्दे। भाव्ययं मित्त्वार्थमनूद्यते। ध्वनयति घण्टाम्। अन्यत्र ध्वानयति। अस्पष्टाक्षरमुच्चारयतीत्यर्थः। ४२।

अत्र भोजः—दलि वलि स्खलि रणि ध्वनि त्रपि क्षपयश्चेति पपाठ। तत्र ध्वनिरणी उदाहृतौ। दल विशरणे। बल संवरणे। स्खल सञ्चलने। त्रपूष् लज्जायामिति गताः, तेषां णौ दलयति। बलयति। स्खलयति। त्रपयति। 'क्षै क्षये' इति वक्ष्यमाणस्य कृतात्वस्य पुका निर्देशः। क्षपयति। ४६। स्वन अवतंसने। 'शब्दे' इति पठिष्यमाणस्यानुवादः। स्वनयति। अन्यत्र स्वानयति। ५०।

ज्ञा धातु मारण, तोषण एवं निशामन अर्थ में मित्संज्ञायुक्त है। माधवाचार्य के मत से निशामन शब्द का अर्थ चक्षुरिन्द्रियजन्य ज्ञान है। अन्यमत में केवल ज्ञानार्थ है। 'निशानेषु' ऐसा भी पाठान्तर है। निशान का अर्थ धारयुक्त अस्त्र आदि का तीक्ष्णीकरण है। इन सम्पूर्ण अर्थों में ही ज्ञा धातु मित्संज्ञक है।

'ज्ञप मिच्च' से ज्ञप् धातु भी मित्संज्ञक है। यह चुरादि गण पठित है। उसका ज्ञापन एवं मारण अर्थ है। ज्ञा धातु एवं ज्ञप धातु मित् है अतः 'विज्ञपना' होना चाहिये विज्ञापना कैसे हुआ? एवं ज्ञापयति न होकर मित्त्व प्रयुक्त ह्रस्व से 'ज्ञपयति' ही होना चाहिये, कैसे ज्ञापयति हुआ? इस शङ्का के समाधानार्थ माधवमत में चक्षुरिन्द्रियजन्य ज्ञान से भिन्न अर्थ में मित्वाभाव है। इससे पूर्वोक्त 'विज्ञापना' आदि की सिद्धि अनायास हुई। ज्ञापन मात्र=ज्ञान मात्र में मित्त्व है इस मत में यहां 'ज्ञा नियोगे' चुरादि गण पठित से वे प्रयोग सिद्ध होंगे। "अनेकार्था अपि धातवः" इस भाष्योक्ति से नियोगार्थ भी ज्ञापनार्थक है। 'निशानेषु' पढने वाले हरदत्तादिक के मत में तो पूर्व प्रयोगों में किसी प्रकार की अनुपपत्ति ही नहीं है।

कम्पन अर्थ में चल धातु मित् है। कम्पन में चल धातु ज्वलादि है। मित्प्रयुक्त ह्रस्व—चलयति शाखाम्। कम्पनभिन्न अर्थ में शीलम्=स्वभावं चालयति। यहां चालन का अर्थ अन्यथा करण है। स्वामी के मत में यह धातु हरण में है। सूत्रं चालयति=यहां निक्षेप अर्थ है।

छदि धातु बल एवं प्राणन अर्थ में है। वह मित् है। अवधारणार्थ चुरादि छद से णिच् के अभाव में मित्संज्ञार्थ यहां अनुवाद मात्र है। अनेकार्थत्व के कारण ऊर्ज के अर्थ का भी बोधक है छदन्तं प्रयुङ्क्ते=छदयति। अर्थात् बलयुक्त एवं प्राणयुक्त वह करता है यह अर्थ हुआ। इससे भिन्न

अर्थ में छादयति यहां अपवारण में यह प्रयुक्त है। स्वार्थिक णिच् में छादयति-बलवान् एवं प्राणवान् भवति अर्थ है या अपवारण अर्थ भी है।

लड धातु जिह्वा के उन्मथन में मित् है। विलासार्थक लड का यहां मित्त्वार्थ अनुवाद मात्र है। उन्मथन का अर्थ शापन है। यहां जिह्वायाः उन्मथनम् षष्ठी-तत्पुरुष समास है। अथवा तृतीया तत्पुरुष है। जिह्वाम्, जिह्वया वा लडयति। कोई कहता है कि जिह्वा शब्द से तद् व्यापार लक्षणया प्रतीयमान है। 'जिह्वा च उन्मथनञ्च' ऐसा समाहार द्वन्द्व यहां है। शत्रुं लडयति। लडयति दधि। अन्यत्र 'लाडयति पुत्रम्'। हर्ष एवं दैन्य में 'मद' है। दिवादिपठित मद का मित्त्वार्थ यहां अनुवाद है। हर्षयति एवं ग्लेपयति के अर्थ में मदयति हुआ, अन्यत्र मादयति = चित्त को विकृत करना है। शब्दार्थक ध्वन है। फणादि गण में पढ़ा जायगा उसका यहां मित्त्वार्थ अनुवाद है। ध्वनयति घण्टाम्। अन्यत्र ध्वानयति = अस्पष्ट अक्षरों का वह उच्चारण करता है। यहां भोजराज दलि आदि धातुओं को भी मितसंज्ञक कहते हैं। इन भोजोक्त धातुओं में ध्वन रण उदाहृत है। दल धातु विशरणार्थ में बल संवरण में स्खल सञ्चलन में त्रपूष् लज्जा में उक्त है उससे णिच् दलयति, वलयति, स्खलयति, त्रपयति। क्षय अर्थ का बोधक 'क्षै' को आत्व कर एवं पुक् कर यहां निर्देश है – क्षपयति। स्वन अवस्रंसन में है। शब्दार्थ में पठिष्यमाण स्वन यहां अनुवादित है। स्वनयति। अन्यत्र स्वानयति।

घटादयो मितः। मित्संज्ञा इत्यर्थः।

जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च। मित इत्यनुवर्तते। जृषिति षत्वनिर्देशाज्जीर्यतेर्ग्रहणम्। जृणातेस्तु जारयति। केचित्तु जनीजृष्णसु इति पठित्वा 'ष्णसु निरसने' इति दैवादिकमुदाहरन्ति ५४। ज्वलह्वलह्मलनमामनुपसर्गाद् वा। एषां मित्त्वं वा। प्राप्तविभाषेयम्। ज्वलयति। ज्वालयति। उपसृष्टे तु नित्यं मित्त्वम्। प्रज्वलयति। कथं तर्हि प्रज्वालयति, उन्नामयतीति? घञन्तात् तत्करोतीति णौ। कथं संक्रामयतीति? 'मितां ह्रस्वः' इति सूत्रे वा चित्तविराग इत्यतो वेत्यनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणादिति वृत्तिकृत्। एतेन 'रजो विश्रामयन् राज्ञाम्', "धुर्यान् विश्रामयेति स" इत्यादि व्याख्यातम्। ५८। ग्लास्नावनुवमां च। अनुपसर्गादेषां मित्त्वं वा स्यात्। आद्ययोरप्राप्ते इतरयोः प्राप्ते विभाषा। ६२।

घटादिगणपठित धातुओं की मित् संज्ञा होती है। अर्थात् वे मित् संज्ञा के संज्ञी हैं। जनी, जृष्, क्नसु, रञ्ज, अमन्त धातु मित् संज्ञक है। जृष् में षकारघटित निर्देश करने के कारण यहां दिवादिगणपठित जृष् का ही ग्रहण है। क्र्यादि के जॄ की मित् संज्ञा नहीं अतः उसका 'जारयति' रूप होता है। कोई 'जनीजॄष्णसु' ऐसा पढकर ष्णसु निरसनार्थ जो दिवादिगण में पठित है उसका उदाहरण देते हैं।

ज्वल्, ह्वल्, ह्मल् नम इनकी मित्संज्ञा अनुपसर्गपूर्वक रहने पर विकल्प से होती है। उपसर्गपूर्वक इन धातुओं की नित्य मित् संज्ञा होती है। यह प्राप्त विभाषा है। ज्वलयति मितपक्ष में। मित्त्वाभाव में ज्वालयति। उपसर्गपूर्वक में प्रज्वलयति यही हुआ। प्रज्वालयति, उन्नामयति यहां घञ्प्रत्ययान्त ज्वाल एवं नाम बनाकर उससे 'तत्करोति' से णिच् प्रत्यय कर वे रूप बनाने चाहिये। 'संक्रमयति' होना चाहिये 'संक्रामयति' कैसे रूप हुआ?

'मितां ह्रस्वः' में 'वा' का सम्बन्धकर व्यवस्थितविभाषा मानकर क्वचित् ह्रस्वाभाव हुआ। अतः वृत्तिकार मत से 'विश्रामयन्' 'विश्रामय' की भी सिद्धि व्यवस्थित विभाषा प्रयुक्त हुई। अनुपसर्गक ग्ला, स्ना, वमु, वम् इनकी मित् संज्ञा विकल्प से होती है। इनमें आदि द्वय की मित् संज्ञा अप्राप्त थी, अन्य की प्राप्त थी अतः प्राप्ताप्राप्तविभाषा है।

न कम्यमिचमाम्। अमन्तत्वात्प्राप्तं मित्त्वमेषां न स्यात्। कामयते। आमयति। चामयति। ६६ शमो दर्शने। मिन्न स्यात्। निशामयति रूपम्। अन्यत्र तु "प्रणयिनो निशमय्य वधूः कथाः"। कथं तर्हि "निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद् गदतो मम" इति ?, शम आलोचने चौरादिकस्य धातूनामनेकार्थत्वाच्छ्रवणे वृत्तिः शाम्यतिवत्। ६६।

यमोऽपरिवेषणे। यच्छतिर्भोजनतोऽन्यत्र मिन्न स्यात्। आयामयति। द्राघयति। व्यापारयति वेत्यर्थः। परिवेषणे तु यमयति ब्राह्मणान्—भोजयतीत्यर्थः। पर्यवसितं नियमयन्नित्यादि तु नियमवच्छब्दात् तत्करोतीति णौ बोध्यम्। ६७। स्खदिर् अवपरिभ्यां च। मिन्नेत्येव। अवस्खादयति। परिस्खादयति। अपावपरिभ्य इति न्यासकारः।

स्वामी तु न कमीति नञमुत्तरत्रिसूत्र्यामननुवर्त्य 'शम अदर्शने' इति चिच्छेद। यमस्त्वपरिवेषणे मित्त्वमाह। तन्मते पर्यवसितं नियमयन्नित्यादि सम्यगेव। उपसृष्टस्य स्खदेश्चेदवादिपूर्वस्यैवेति नियमात् प्रस्खादयतीत्याह। तस्मात् सूत्रद्वये उदाहरणप्रत्युदाहरणयोर्व्यत्यासः फलितः। इदञ्च मतं वृत्तिन्यासादिविरोधादुपेक्ष्यम्। ६८।

फण गतौ। नेति निवृत्तम्, असम्भवात्। निषेधात्पूर्वमसौ न पठितः, फणादिकार्यानुरोधात्।

मान्तत्व के कारण प्राप्त मित्त्व कम्, अम्, चम् को नहीं होता है। अतः मित्त्वाभावप्रयुक्त ह्रस्वाभाव से 'कामयते' यही रूप हुआ। आमयति। चामयति। दर्शन अर्थ में विद्यमान शम् धातु की मित् संज्ञा नहीं होती है। रूपं निशामयति। श्रवणार्थ में मित्त्व से ह्रस्व हुआ 'निशमय्य'। श्रवण कराईये अर्थ में 'निशामय' कैसे रूप हुआ ? 'निशमय' होना चाहिये। धातु अनेकार्थक है इस पक्ष को स्वीकार कर चुरादिगण पठित 'शम आलोचने' का लोडन्त मध्यपुरुषैक वचन में रूप है। वह मित् नहीं है। यह वृत्ति मत है। "सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया" इस सिद्धान्त को स्वीकार कर उसकी उपपत्ति यथा कथञ्चित् की गई।

यम धातु भोजनभिन्न अर्थ में मित् संज्ञक नहीं है। 'यम उपरमे' का यहां ग्रहण है। भोजनशब्द युच् प्रत्ययान्त है, आयामयति = द्राघयति, व्यापारयति ये इसके पर्य्याय हैं। यहां मित्त्वाभावप्रयुक्त ह्रस्वाभाव है। परिवेषण अर्थ में यमयति ब्राह्मणान् = ब्राह्मणों को भोजन कराता है। भोजनानुकूल व्यापारार्थक परिवेषण शब्द है। परोस कर ब्राह्मणों को खिलाता है। परिवेषण = परोसने में प्रसिद्ध है "माठरपरिवेषण" न्याय में। 'नियामयन्' होना चाहिये 'नियमयन्' रूप किस प्रकार सिद्ध हुआ ?, नियम शब्द से मतुप् मकार को वकारादेश 'नियमवत्' शब्द से

'तव करोति' से णिच् तदन्त से क्विप् इष्ठवद्भाव मतुप् का लुक् निपूर्वक यमि से लट् शइशब्दादि से नियमयन् हुआ।

अव एवं परिपूर्वक स्खद् धातु मित् नहीं है। अवस्खादयति। परिस्खादयति। न्यासकार अप अव परिपूर्वक स्खद् का मित्वाभाव कहते हैं।

स्वामी आचार्य कहते हैं कि 'न कम्यमि'' सूत्र से उत्तर तीन गण सूत्रों में नञ् जो निषेधार्थक है उसकी अनुवृत्ति नहीं होती है, अतः 'शमः अदर्शने' ऐसा पदच्छेद करके उन्होंने व्याख्यान किया है। एवं अपरिवेषण रूप अर्थ में यम् धातु की मित् संज्ञा होती है ऐसा वे कहते हैं। उनके मत में 'पर्यवसितं नियमयन्' इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है मित्वप्रयुक्त ह्रस्व यहाँ हुआ ही है। एवं सोपसर्गक स्खद् की मित् संज्ञा हो तो अवादिपूर्वक स्खद् को हो, अन्योपसर्गपूर्वक स्खद् को नहीं, अतः 'प्रस्खादयति' प्रयोग की भी स्वामी के मत में सिद्धि हुई। इस मत के स्वीकार करने पर स्वामी के मत में दोनों गण सूत्रों के उदाहरण जो दिये गये प्रथम वे प्रत्युदाहरण हुए। एवं प्रत्युदाहरण जो प्रथम दिये गये वे इन दो गण सूत्रों के उदाहरण हुए। किन्तु स्वामी आचार्य का यह क्रान्तिकारी मत वृत्तिकार, न्यासकार को स्वीकार नहीं है अतः वे इस मत को असङ्गत मानकर इस कथन की उपेक्षा करते हैं।

फण धातु गति अर्थ में हैं, असम्भव के कारण यहाँ 'न' की अनुवृत्ति नहीं है। निषेध तो प्राप्तिमूलक होता है, जब मित् संज्ञा ही अप्राप्त स्वतः है तो उसका निषेध बोधन करना सर्वथा अनुचित एवं असम्भव है।

२३५५ फणां च सप्तानाम् ६।४।१२५।

एषां वा एत्वाभ्यासलोपौ स्तः किति लिटि सेटि थलि च। फेणतुः। फेणुः। फेणिथ। पफणतुः। पफणुः। फणयति। घृत्। घटादिः समाप्तः। फणेः प्रागेव वृद्धिरित्येके। तन्मते 'फाणयति' इत्येव। ७०। राजृ दीप्तौ। स्वरितेत्। राजति। राजते। रेजतुः। रराजतुः। रेजे। रराजे। अत इत्यनुवृत्तावपि विधानसामर्थ्यादात एत्वम्। ७१।

टुभ्राजृ टुभ्राशृ टुभ्लाशृ दीप्तौ। अनुदात्तेतः। भ्राजतेरिह पाठः फणादिकार्यार्थः। पूर्वं पाठस्तु व्रश्चादिषत्वाभावार्थः। तत्र हि राजिसाहचर्यात् फणादेरेव ग्रहणम्। भ्रेजे। बभ्राजे। वाभ्राशेति श्यन्वा। भ्राश्यते। भ्राशते। भ्रेशे। बभ्राशे। भ्लाश्यते। भ्लाशते। भ्लेशे। बभ्लाशे। द्वावपीमौ तालव्यान्तौ। ७४। स्यमु स्वन ध्वन शब्दे। स्यमादयः क्षरत्यन्ताः परस्मैपदिनः। स्येमतुः। सस्यमतुः। अस्यमीत्। स्वेनतुः। सस्वनतुः। सस्वनुः। अस्वानीत्। अस्वनीत्। विष्वणति। अवष्वणति। सशब्दं भुङ्क्ते इत्यर्थः। 'वेश्च स्वनः' इति षत्वम्। फणादयो गताः। दध्वनतुः। २। षम ष्टम अवैकल्ये। ससाम। तस्ताम। ५।

ज्वल दीप्तौ। अतो ल्रान्तस्य। अज्वालीत्। ६। चल कम्पने। ७। जल घातने। घातनं तैक्ष्ण्यम्। ८-९। टल ट्वल वैक्लव्ये। १०। ष्ठल स्थाने। ११।

हल विलेखने । १२ । णल गन्धे । बन्धन इत्येके । १३ । पल गतौ । पलति । १४ । बल प्राणने धान्यावरोधने च । बलति । बेलतुः । बेलुः । १५ । पुल महत्त्वे । पोलति । १६ । कुल संस्त्याने बन्धुषु च । संस्त्यानं संघातः । बन्धुशब्देन तद्व्यापारो गृह्यते । कोलति । चुकोल । १७ । शल हुल पत्लृ गतौ । शशाल । जुहोल । पपात । पेततुः । पतिता ।

क्वि लिट् एवं सेट् थल् पर रहते फण आदि सात धातुओं को विकल्प से एत्वाभ्यासलोप होता है । फेणतुः । पफणतुः आदि । वृत् = घटादि धातु समाप्त हुआ । कोई फणादि के पूर्व में ही घटादि समाप्त करने के लिए 'वृत्' कहता है । उसके मत से फाणयति रूप है । मित्वाभाव से ह्रस्व का अभाव है । राजृ दीप्ति में उभयपद है । राजृ का फणादित्वप्रयुक्त एत्वाभ्यासलोपविधान-सामर्थ्य से 'अत एकहल्मध्ये' से 'अतः' की 'फणाञ्च सप्तानाम्' में अनुवृत्ति है तो भी आकार राजृ में है एत्वाभ्यासलोप यहाँ हुआ । रेजतुः । रराजतुः । रेजुः । रराजुः । रेजिथ । रराजिथ ।

आत्मनेपदी भ्राजृ भ्राशृ भ्लाशृ दीप्ति अर्थ में है । गणादिकार्यार्थ भ्राज् का यहाँ पाठ है । एवं पूर्व में भ्राज् का पाठ 'व्रश्च' सूत्र से षकाराभाव के लिए है । 'व्रश्च में रज् साहचर्य से फणादिका ही भ्राज् का ग्रहण है । 'वा भ्राश' से विकल्प से लट् लोट् लङ् में श्यन् पक्ष में शप् रुपद्वय हुए । दोनो धातु तालव्यान्त है । स्यमु स्वन ध्वन शब्द में है । स्यमु से क्षर तक परस्मैपदी धातु है । 'विष्वणति' यहाँ 'वेश्च स्वनः' से षकारादेश हुआ है । फणादि धातु समाप्त हुए ।

षम ष्टम अविकलता में है । ज्वल् दीप्ति में है । अज्वालीत् में 'अतो ल्रान्तस्य' से वृद्धि हुई । चल कम्पन में, जल तीक्ष्णता मे, टल् ट्वल् वैक्लव्य मे, णल् गन्ध में, या बन्धन में है । बल प्राणन या धान्यावरोधन में है । पुल महत्त्व में है । कुल संस्त्यान एवं बन्धु मे है । संस्त्यान का अर्थ समूह है । बन्धुकृत व्यापार में बन्धु की लक्षणा है । शल, हुल् पत्लृ गति में है । पतति । पपात । पेततुः । पतिता ।

३३५६ पतः पुम् ७।४।१९

अङि परे । अपप्तत् । नेर्गदेति णत्वम्—प्रण्यपप्तत् २० । कथे निष्पाके । कथति । चकाथ । अकथीत् । २१ पथे गतौ । अपथीत् २२ । मथे विलोडने । मेथतुः । अमथीत् । २३ । टुवम उद्गिरणे । इहैव निपातनादृ ऋत इत्त्वमिति सुधाकरः । ववाम । ववमतुः । वादित्वादेत्वाभ्यासलोपौ न । भागवृत्तौ तु वेमतुरित्याद्य-प्युदाहृतं तद्भाष्यादौ न दृष्टम् । २४ भ्रमु चलने । वा भ्राशेति श्यन् वा । भ्रम्यति । भ्रमति । भ्राम्यतीति तु दिवादेर्वक्ष्यते ।

अङ् पर रहते पत को पुम् आगम होता है । अपप्तत् । 'प्रण्यपप्तत्' यहाँ 'नेर्गद' सूत्र से णत्व हुआ है । निष्पाक में 'कथे' धातु है । लुङ् में एदित्वप्रयुक्त वृद्धि का अभाव है । गति में पथे धातु है । विलोडन में 'मथे' धातु है । टुवम धातु उद्गिरण अर्थ में है । निपातन प्रयुक्त यहाँ गृ के ऋकार को इकारादेश हुआ है । यह सुधाकराचार्य का मत है । ववमतुः में वकारादित्व-प्रयुक्त एत्वाभ्यासलोप का 'न शस' ने निषेध किया । भागवृत्तिकार के मत से एत्वाभ्यास लोप से 'वेमतुः' है । यह मत भाष्यादिविरुद्ध होने से उपेक्ष्य है । चलने में भ्रमु धातु है । लट् लोट्

लङ् विधि लिङ् में 'वा भ्राश' सूत्र से श्यन् विकल्प से हुआ। भ्रम्यति। भ्रमति आदि। 'भ्राम्यति' रूप दिवादि का कहेगें।

२३५७ वा जॄभ्रमुत्रसाम् ६।४।१२४

एषामेत्वाभ्यासलोपौ वा स्तः किति लिटि सेटि थलि च। भ्रेमतुः। बभ्रमतुः। अभ्रमीत्। २५। क्षर सञ्चलने। अक्षरीत्। २६।

अथ द्वावनुदात्तेतौ। षह मर्षणे। परिनिविभ्य इति षत्वम्। परिषहते। सेहे। सहिता। तीषसहेति वा इट्। इडभावे ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपाः।

कित लिट् एवं सेट् थल् पर रहते जॄ, भ्रम्, त्रस् इनका एत्वाभ्यासलोप होता है विकल्प से। भ्रेमतुः। पक्ष में बभ्रमतुः। लुङ् में वृद्धि का भान्तत्वप्रयुक्त अभाव। सञ्चलन में क्षर धातु हैं।

अब दो धातु अनुदात्तेत है। षह धातु मर्षण में है = सहन करने में प्रयुक्त है। धातु के आदि षकार को सकारादेश 'धात्वादेः' सूत्र से होता है। परिपूर्वक सह में 'परिनिविभ्यः' से षकारादेश सह के सकार को हुआ। परिषेहे। लिट् में एत्वाभ्यास लोप से सेहे। लुट् में 'तीषसह' से विकल्प से इट्, पक्ष में सहिता। इट् के अभाव पक्ष में सह्‌ता 'हो ढः' से हकार को ढकारादेश, 'झषस्तथोः' से तकार को धत्व, ष्टुत्व से ढकार एवं 'ढो ढे लोपः' से ढकार का लोप कर वक्ष्यमाण सूत्र से अकार को ओकार सोढा।

२३५८ सहिवहोरोदवर्णस्य ६।३।११२।

अनयोरवर्णस्यौत् स्यात् ढलोपे सति।

ढकार का लोप होने पर सह् धातु का अवयव अवर्ण को ओत् आदेश होता है। सोढा।

२३५९ सोढः ८।३।११५।

सोढ् रूपस्य सहेः सस्य षत्वं न स्यात्। परिसोढा।

सोढ् रूप को प्राप्त जो सह धातु उसका जो सकार उसको षकारादेश नहीं होता है। परिसोढा।

२३६० सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि ८।३।७१।

परिनिविभ्यः परेषां सिवादीनां सस्य षो वा स्याद् अड्व्यवायेऽपि। पर्यषहत। पर्यसहत। १। रमु क्रीडायाम्। रेमे। रेमिषे। रन्ता। रंस्यते। रंसीष्ट। अरंस्त। २। अथ कसन्ताः परस्मैपदिनः। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु।

अट के व्यवधान रहते हुए भी परि, नि, वि से पर सिवादि धातु के अवयव सकार को षकार विकल्प से होता है। रमु धातु क्रीडार्थ में है। एत्वाभ्यासलोप से रेमे। अनुस्वार परसवर्ण से रन्ता।

यहां से लेकर कस् तक परस्मैपदी धातु है। षद्लृ विसरण में गति में अवसादन में है।

२३६१ पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः ।७।३।७८।

पादीनां पिबादयः स्युरित्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे। सीदति। ससाद। सेदतुः। सेदिथ। ससत्थ। सत्ता। सत्स्यति। लृदित्वादङ्। असदत्। सदिरप्रतेः। निषीदति। न्यषीदत्।

इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय पर रहते पा को पिब, घ्रा को जिघ्र, ध्मा को धम, स्था को तिष्ठ, म्ना को मन्, दाण् को यच्छ दृश् को पश्य, ऋ को ऋच्छ सृ को धौ, शद को शीय सद् को सीद आदेश होता है। 'षद्लृ' में लृकार की 'उपदेशे' से इत्संज्ञा आदि षकार को सकारादेश, लट् तिप् शप् सीद् आदेश सीदति। थल् में विकल्प से इट्, भारद्वाज एवं सूत्रकार के मतभेद-प्रयुक्त। लुङ् में च्लि को अङ् असदत्। निषीदति यहां 'सदिरप्रतेः' से षकारादेश हुआ। न्यषीदत् अट् व्यवधान में भी षकारादेश हुआ।

२३६२ सदेः परस्य लिटि ८।३।११८।

सदेरभ्यासात् परस्य षत्वं न स्यात् लिटि। निषसाद। निषेदतुः। १। शद्लृ शातने। विशीर्णतायामयम्। शातनन्तु विषयतया निर्दिश्यते।

सद् धातु के अभ्यास से पर स्थित सकार के स्थान में षकारादेश नहीं होता है लिट् पर रहते। "स्थादिष्वभ्यासेन" से प्राप्त षकारादेश का यह निषेधक है। सदिरप्रतेः से षत्व-निषसाद। प्रतिससाद। लिटि किम्-निषिषत्सति। यहां षत्व हुआ। निषेदतुः। शद्लृ शातन में हैं। शातन से विशीर्णता गृहीत यहां है। हेतुमत् णिच् से शातन की सिद्धि है। शत् धातु से ही णिच् ल्युट् तकारादेश। यहां प्रयोजक व्यापार के विना विशीर्णता प्रतीयमान नहीं हो सकती अतः विषयता = धात्वर्थं विशीर्णता जनकता द्वारा शातन यह पद निर्दिष्ट हुआ है। विशीर्णतायाम् = विशरणे इत्यर्थः। शातनं विशीर्णत्वानुकूलो व्यापारः। एवञ्च तेनार्थकथनमसङ्गतम्, सकर्मकत्वापत्तेः। अत आह—शातनन्त्विति—शातनपदजन्यो यो व्यापारस्तज्जन्यविशरणमात्रमर्थः।

२३६३ शदेः शितः १।३।६०।

शिद्भाविनोऽस्मादात्मनेपदं स्यात्। शीयते। शशाद। शेदतुः। शेदिथ। शशत्थ। शत्ता। अशदत्। क्रुश आह्वाने रोदने च। क्रोशति। क्रोष्टा। च्लेः क्सः, अक्रुक्षत्। ३। कुच सम्पर्चनकौटिल्यप्रतिष्टम्भविलेखनेषु। कोचति। चुकोच। ४। बुध अवगमने। बोधति। बोधिता। बोधिष्यति। ५। रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च। रोहति। रुरोह। रुरोहिथ। रोढा। रोक्ष्यति। अरुक्षत्। कस गतौ। अकासीत्। अकसीत्। ७। वृत्। ज्वलादिगणः समाप्तः।

शकारेत्संज्ञक प्रत्यय भविष्यत्काल में होने वाला है जिसको ऐसा जो शद् धातु उससे उत्तर जो लकार उसके स्थान में आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्यय आदेश होते है। लट् लोट् लङ् एवं विधि लिङ् में शप् विकरण होने वाला है अतः आत्मनेपद से शीयते। शीयताम्। अशीयत। शीयते। लिट्

में शशाद । लुट् में शत्ता । शद्यात् आशीर्लिङ् में । लुङ् में अशदत् । लृदित्प्रयुक्त अङ् आदेश च्लि के स्थान में हुआ ।

कुश आह्वान = पुकारना एवं अश्रुपात = रोदन में है । क्रोशति । क्रोष्टा । लुङ् में च्लि के स्थान क्स अक्रुक्षत् । कुच संपर्चन, कौटिल्य, प्रतिष्टम्भ विलेखन इन चार अर्थों में है । रुह का अर्थ बीजों की उत्पत्ति एवं प्रादुर्भाव है । रोहति । रुरोह । रुरोहिथ । रोढा । रोक्ष्यति । अरुक्षत् । कस धातु गति में है । लुङ् में वैकल्पिक वृद्धि से अकासीत् । अकसीत् । हलन्त लक्षण वृद्धि का 'नेटि' से निषेध उसको बाधकर 'अतो हलादेः' से वृद्धि हुई । ज्वलादि गण समाप्त हुआ ।

अथ गूहत्यन्ताः स्वरितेतः । हिक्क अव्यक्ते शब्दे । हिक्कति । हिक्कते । १ । अञ्चु गतौ याचने च । अञ्चति । अञ्चते । २ । अचु इत्यपरे । ४ । टुयाचृ याञ्चायाम् । याचति । याचते । रेटृ परिभाषणे । रेटति । रेटते । ६ । चते चदे याचने । चचात । चेते । अचतीत् । चचाद । चेदे । अचदीत् । ८ । प्रोथृ पर्य्याप्तौ । पुप्रोथ । पुप्रोथे । ९ । मिदृ मेदृ मेधाहिंसनयोः । मिमेद । मिमिदे । थकारान्ताविमाविति स्वामी । मिमेथ । धान्ताविति न्यासः । ११ ।

मेधृ संगमे च । मेधति । मिमिधे । १२ । णिदृ णेदृ कुत्सासन्निकर्षयोः । निनेद । निनिदतुः । निनिदे । १४ । शृधु मृधु उन्दने । उन्दनं क्लेदनम् । शर्धति । शर्धते । शर्धिता । मर्धति । मर्धते । बुधिर् बोधने । बोधति, बोधते । इरित्वादङ् वा । अबुधत् । अबोधीत् । अबोधिष्ट । दीपजनेति चिण् तु न भवति, पूर्वोत्तरसाहचर्येण दैवादिकस्यैव तत्र ग्रहणात् । १७ । उ बुन्दिर् निशामने । निशामनं ज्ञानम् । बुबुन्दे । अबुदत् । अबुन्दीत् । १८ । वेणृ गति-ज्ञानचिन्तानिशामनवादित्रग्रहणेषु । वेणति । वेणते । नान्तोऽप्ययम् । १९ । खनु अवदारणे । खनति । खनते ।

अब गूह तक उभयपदी कहते हैं । हिक्क अव्यक्त शब्द में है । अञ्ज् गति में, याचना में है । अचु धातु भी है । अचि भी गति में है । याचृ याचना में, रेटृ परिभाषण में है । चते एवं चदे याचना में । प्रोथृ पर्य्याप्ति में । मिदृ, मेदृ मेधा में हिंसा में है । वे थान्त स्वामी मत से है । न्यासमत में धान्त है । रेधृ संगम में । णिदृ णेदृ कुत्सा में एवं सन्निकर्ष में है । क्लेदन अर्थ में शृधु मृधु है । बुधिर् ज्ञान में है । इर् की इत्संज्ञा लुङ् में अबुधत् । अबोधीत् । अबोधिषृ । दीप जन में पूर्व एवं उत्तर साहचर्य से दैवादिक बुध का ही ग्रहण है, इसका नहीं है । ज्ञान में उबुन्दिर् है । वेणृ गति में, ज्ञान में, चिन्ता में, निशामन में, वादित्रग्रहण में है । खनु अवदारण = खोदने में है । खनति । खनते ।

२३६४ गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि ६।४।९८।

एषामुपधाया लोपः स्यात् अजादौ क्ङिति न त्वङि । चख्नतुः ।

अजादि कित् एवं ङित्प्रत्यय पर रहते गम् , हन् , जन् , खन् , घस् इन धातुओं की उपधा का लोप होता है । उपधासंज्ञकवर्णलोपविधायक यह है । चख्नतुः ।

ये विभाषा। खायात्, खन्यात्। २०। चीवृ आदानसंवरणयोः। चिचीव। चिचीवे। २१। चायृ पूजानिशामनयोः। २२। व्यय गतौ। अव्ययीत्। २३। दाशृ दाने। ददाश। ददाशे। २४। भेष भये। गतावित्येके। भेषति। भेषते। २५। भ्रेषृ भ्रेस्लृ गतौ। २६।

अस गतिदीप्त्यादानेषु। असति। असते। आस। आसे। अयं षान्तोऽपि। २७ स्पश बाधनस्पर्शनयोः। स्पर्शनं ग्रन्थनम्। स्पशति। स्पशते। २८। लष कान्तौ। वा भ्राशेति श्यन् वा। लष्यति। लषति। लेषे। २९। चष भक्षणे। ३०। छष हिंसायाम्। चच्छषतुः। चच्छषे। ३१। झष आदानसंवरणयोः। ३२। भ्रक्ष भ्लक्ष अदने। ३४। भक्ष इति मैत्रेयः। ३५। दासृ दाने। ३६। माहृ माने। गुहू संवरणे।

खायात में ये विभाषा से आकारादेश नकार को हुआ खायात। पक्ष में खन्यात। चीवृ आदान एवं संवरण में है। चायृ पूजा में निशामन में है। व्यय गति में। दाशृ दान में। भेषृ भय में। कोई गति में इसको कहते हैं। भ्रेषृ भ्रेस्लृ गति में है।

अस् गति में, दीप्ति में, आदान में है। स्पश बाधन में स्पर्शन में है। ग्रन्थन अर्थ स्पर्शन का है। लष धातु इच्छार्थक है। 'वा भ्राश' से श्यन् विकल्प से लट् लोट् लङ् एवं विधिलिङ् में होगा। रूपद्वय लष्यति। लषति। लष्यतु। लषतु। अलष्यत। अलषत। लष्येत। लषेत। चष भक्षण में है। छष हिंसा में है। झष आदान एवं संवरण में है। भ्रक्ष भ्लक्ष भोजन में है। मैत्रेयाचार्य भक्ष अदन में हैं ऐसा कहते हैं। दासृ दान में है। माहृ मान में है। गुहू संवरण में है।

२३६५ ऊदुपधाया गोहः ६।४।८९।

गूहृ उपधाया ऊत् स्यात् गुणहेतावजादौ प्रत्यये। गूहति। गूहते। ऊदित्वादिड् वा। गूहिता। गोढा। गूहिष्यते। घोक्ष्यते। गूहेत्। गुह्यात्। अगूहीत्। इडभावे क्सः। अघुक्षत।

गुण के कारण अजादि प्रत्यय पर रहते गुह धातु की उपधा को ऊकारादेश होता है। गूहति। गूहते। दीर्घ ऊकार की इत्संज्ञा होने से विकल्प से वलादि आर्धधातुक में इट् होता है। गूहिता। पक्ष में ढ ध ढ एवं ढकारलोप = ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोपाः। गूहिष्यते। पक्ष में ढत्व षत्व कत्व भष्भाव घोक्ष्यते। अगूहीत। इडभावे क्सः। अघुक्षत।

२३६६ लुग् वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये ७।३।७३।

एषां क्सस्य लुग् वा स्यात् दन्त्ये तङि। ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपदीर्घाः। अगूढ। अघुक्षत। क्सस्याचीत्यन्तलोपः। अघुक्षाताम्। अघुक्षन्त। अगुह्वहि। अघुक्षावहि। अघुक्षामहि। ३८।

दन्त्य तङ् = त थास् ध्वम्, वहि पर रहते दुह् दिह् लिह् गुह् इनसे पर स्थित क्स का विकल्प से लुक् होता है। अगूढ यहां हकार को 'हो ढः' से ढकार झषस्तथोः से धकार ष्टुत्व से ढकार

'ढो ढे लोपः' से ढ का लोप, दीर्घ हुआ। पक्ष में अघुक्षत। अघुक्षाताम्। यहां 'क्सस्याचि' से अन्त्य-लोप है।

अथाजन्ता उभयपदिनः। श्रिञ् सेवायाम्। श्रयति। श्रयते। शिश्रियतुः। श्रयिता। णिश्रीति चङ्। अशिश्रियत्। १। भृञ् भरणे। भरति। बभार। बभ्रतुः। बभर्थ। बभृव। बभृषे। भर्ता।

अब अजन्त उभयपदी धातु कहते हैं। सेवा में श्रिञ् धातु है। श्रयति। श्रयते। इयङ् शिश्रियतुः। लुङ् में च्लि को चङ् 'चङि' से द्वित्वादि अशिश्रियत इयङ् हुआ है। भरण में भृञ्। भरति। बभर्थ। भर्ता।

२३६७ ऋद्धनोः स्ये ७।२।७०।

ऋतो हन्तेश्च स्यस्य इट् स्यात्। भरिष्यति।

ऋकारान्त धातु से एवं हन् धातु से पर स्थित स्य को इट् होता है। भरिष्यति। अभरिष्यत।

२३६७ रिङ् शयग्लिङ्क्षु ७।४।२८।

रो यकि यादावार्धधातुके लिङि च ऋतो रिङादेशः स्यात्। रीङि प्रकृते रिङ्विधानसामर्थ्याद् दीर्घो न। भ्रियात।

श, यक् यकारादि आर्धधातुक एवं लिङ् प्रत्यय पर रहते ऋकारान्त धातु के ऋकार के स्थान में रिङ् आदेश होता है। भ्रियात। यहां 'रीङ् ऋतः' सूत्र से दीर्घ ईकारघटित रीङ् की अनुवृत्ति कर "शयग्लिङ्क्षु" इतना ही सूत्र कर अनुवृत्त रीङ् का विधान करते, इसमें प्रक्रिया एवं मात्रा-लाघव है पुनः इस सूत्र में ह्रस्व इकार घटित रिङ् ग्रहण क्यों किया ?, अतः यहां ज्ञापन होता है कि इस रिङादेश के इकार को 'अकृत् सार्वधातुकयोः' सूत्र से दीर्घ नहीं होता है।

२३६९ उश्च १।२।१२।

ऋवर्णात्परौ झलादी लिङ् तङ्परश्च सिच्चेत्येतौ कितौ स्तः। भृषीष्ट। भृषीयास्ताम्। अभार्षीत्। अभार्ष्टाम्। अभार्षुः।

ऋवर्ण से पर झलादि जो लिङ् एवं तङ् परक झलादि सिच् वे दोनों कित माने जाते हैं। भृषीष्ट यहां कित्व से गुणाभाव हुआ। सिच् का उदाहरण वक्ष्यमाण है।

२३७० ह्रस्वादङ्गात् ८।२।२७।

सिचो लोपः स्यात् झलि। अभृत। अभृषाताम्। अभरिष्यत्। २। हृञ् हरणे। हरणं प्रापणं स्वीकारः स्तेयं नाशनं च। जहर्थ। जह्रिव। जह्रिषे। हर्ता। हरिष्यति। ३। धृञ् धारणे। धरति। अधार्षीत्। अधृत। ४। णीञ् प्रापणे। निनयिथ। निनेथ। निन्यिषे। ५।

अथाजन्ताः परस्मैपदिनः। धेट् पाने। धयति।

ह्रस्वान्त जो अङ्ग उससे पर सिच् के सकार का लोप होता है झल् पर रहते। अभृत। यहां उश्च से कित्व है। अतः गुणाभाव हुआ। अभरिष्यत 'ऋद्धनोः' से इट् हुआ। हृञ् का अर्थ

प्रापण, स्वीकार, स्तेय = तस्कर वृत्ति, नाशन है। अनुदात्तोपदेश यह धातु है। जहर्थ। हरिष्यति में 'ऋद्धनोः' से इट् हुआ। धारण में धृञ् है। धरति। लुङ् में 'सिचि वृद्धिः' से रपर होकर आर् वृद्धि षत्व अधार्षीत। अधृत। उश्च से कित्त्व 'ह्रस्वादङ्गात्' से सिच् लोप हुआ। णीञ् प्रापण में है। णो नः से नकारादेश। लिट् म० ए० व० में भारद्वाज मत में निनयिथ। सूत्रकार मत में निनेथ।

अब अजन्त परस्मैपद धातु कहते हैं। धेट् धातु पान में है। शप् के अकारपरक एकार को अयादेश धयति।

२३७१ आदेच उपदेशेऽशिति ६।१।४५।

उपदेशे एजन्तस्य धातोरात्वं स्यान्न तु शिति।

यहां अशिति प्रसज्यप्रतिषेधीय नञ् है। उपदेश अवस्था में विद्यमान जो एजन्त धातु उसको आत्व होता है। शित्प्रत्यय पर में रहते आत्व नहीं होता है। यह आत्व अनैमित्तिक है। पर्युदास करते तो शिद्भिन्न प्रत्यय पर होकर परनिमित्तिक होता। प्रसज्य में सौत्रत्वात् असामर्थ्य में समास, वाक्यभेद, शाब्दबाध त्रिविध गौरव है वे सहन करने पड़ते हैं। 'अशिति' प्रसज्य-पर्युदास होते हुए भी हरिदीक्षित के मत से शित्प्रत्ययपरत्वयोग्यता जहां रहे वहां ही आत्व होता है। अर्थात् शित्प्रत्ययनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यता से आक्रान्त लक्ष्य में आत्व का विधान है। प्रातिपदिक में उद्देश्यता है, उपदेशता नहीं अतः गोभ्याम् इत्यादि में आत्व नहीं होगा। पुनः यहां धातु का असम्बद्ध पक्ष ही श्रेयान् है। धातुत्वनिमित्तक आत्व नहीं है।

२३७२ आत औ णलः ७।१।३४।

आदन्ताद् धातोर्णल औकारादेशः स्यात्। दधौ।

आकारान्त धातु से पर जो णल् उसको औकार आदेश होता है। वृद्धिरेचि दधौ।

२३७३ आतो लोप इटि च ६।४।६४।

अजाद्योरार्धधातुकयोः क्ङिदिटोः परयोरातो लोपः स्यात्। द्वित्वात्परत्वाल्लोपे प्राप्ते 'द्विर्वचनेऽचि' इति निषेधः। द्वित्वे कृते आलोपः। दधतुः। दधुः। दधिथ। दधाथ। दधिव। दधिम। धाता।

अजादि जो कित् या ङित् आर्धधातुक एवं इट् इनके पर रहते आकारान्त धातु का जो चरमावयव अर्थात् आकार उसका लोप होता है। द्वित्व एवं आकारलोप वे दोनों एक समय में प्राप्त हैं, परत्व के कारण द्वित्व को बाध कर आकारलोप प्राप्त है किन्तु 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र ने आकारलोप को बाध कर द्वित्व किया ततः आलोप से दधतुः। दधुः। थल् में इट् पक्ष में लोप दधिथ। पक्ष में दधाथ। धाता।

२३७४ दा धा घ्वदाप् १।१।२०।

दारूपा धारूपाश्च धातवो घुसंज्ञाः स्युर्दाप्दैपौ विना।

अर्थवान् दा एवं अर्थवान् धा की घुसंज्ञा होती है, दाप् एवं दैप् के दा की घुसंज्ञा नहीं होती है। 'प्रणिदापयति' में "यदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते" परिभाषा के सहयोग से घुसंज्ञा कर 'नेर्गद' से णत्व हुआ। आगमी में रहने वाला धर्म दात्व दाप् में आरोप किया आगमसमभि-

व्याहार में आगमविशिष्ट दाप् अर्थवान् है। 'णेरनिटि' में 'अनिटि'ग्रहण यदागम परिभाषा में प्रमाण है। 'आने मुक्' सूत्र से यदागमपरिभाषा अनित्य है। अतः 'पचमानः' में सवर्ण दीर्घ न हुआ।

२३७५ एर्लिङि ६।४।६७।

घुसंज्ञानां मास्थादीनां च एत्वं स्याद् आर्धधातुके किति लिङि। धेयात्। धेयास्ताम्। धेयासुः।

आर्द्धधातुक कित लिङ् पर रहते घुसंज्ञक, मा, स्था आदि धातु के अन्त्य अल् को एकार आदेश होता है। धेयात्।

२३७६ विभाषा धेट्श्व्योः ३।१।४९।

आभ्यां च्लेश्चङ् वा स्यात् कर्तृवाचिनि लुङि परे। 'चङि' इति द्वित्वम्। अदधत्। अदधताम्।

कर्तृवाचक लुङ् पर में रहते धेट् एवं श्वि से पर च्लि को चङ् होता है। चङ् के परे 'चङि' सूत्र से द्वित्वादिकार्य आकार लोप अदधत्।

२३७७ विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः २।४।७८।

एभ्यः सिचो लुग्वा स्यात् परस्मैपदे परे। अधात्। अधाताम्। अधुः।

परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय पर रहते घ्रा, धेट्, शो, छो, सो, इनसे पर सिच् के सकार का विकल्प से लोप होता है। अधात्। अधाताम्। अधुः। 'अधुः' में 'आतः' सूत्र से जुसादेश हुआ है। उस्यपदान्तात् से पररूप है।

२३७८ यमरमनमातां सक् च ७।२।७३।

एषां सक् स्याद् एभ्यः सिच इट् स्यात् परस्मैपदेषु। अधासीत्। अधासिष्टाम्। अधासिषुः १। ग्लै म्लै हर्षक्षये। हर्षक्षयो धातुक्षयः। ग्लायति। जग्लौ। जग्लिथ। जग्लाथ।

परस्मैपद में यम्, रम्, नम्, आकारान्त धातु को सक् (स्) आगम होता है एवं सिच् को इट् आगम होता है। अधास् इस् ईत् इट ईटि से सकारलोप कर सिच्लोप दीर्घविधान से सिद्ध है ऐसा बोधन कर दीर्घ अधासीत्।

धातुक्षय अर्थ में 'ग्लै' 'म्लै' धातुद्वय है। ऐ को आय् ग्लायति। जग्लौ। इट् पक्ष में आकार लोप जग्लिथ। पक्ष में जग्लाथ।

२३७९ वान्यस्य संयोगादेः ६।४।६८।

घुमास्थादेरन्यस्य संयोगादेर्धातोरात एत्वं वा स्यादार्धधातुके किति लिङि। ग्लेयात्। ग्लायात्। अग्लासीत्। म्लायति। २। द्यै न्यक्करणे। न्यक्करणं तिरस्कारः। ४। द्रै स्वप्ने। ५। ध्रै तृप्तौ। ६। ध्यै चिन्तायाम्। ७। रै

शब्दे । ८ । स्त्यै ष्ट्यै शब्दसङ्घातयोः । स्त्यायति । षोपदेशस्यापि सत्वे कृते रूपं तुल्यम् । षोपदेशफलन्तु तिष्ट्यासति, अतिष्ट्यपदित्यत्र षत्वम् । १० ।

खै खदने । ११ । क्षै जै षै क्षये । क्षायति । जजौ । ससौ । साता । घुमास्थेत्यत्र विभाषा घ्राधेडित्यत्र च स्यतेरेव ग्रहणं न त्वस्य । तेन एत्वसिज्लुकौ न । सायात् । असासीत् । १४ । कै गै शब्दे । गेयात् । अगासीत् । १६ ।

आर्धधातुक कित् लिङ् पर रहते घुसंज्ञक धातु, मा, स्था आदि धातुभिन्न संयोगादि धातु के आकार को एत्व विकल्प से होता है । ग्लेयात् । पक्ष में ग्लायात् । लुङ् में आत्व सक् इट् आदि से अग्लासीत् । थै धातु तिरस्कार में है । द्रै स्वप्न में है । ध्रै तृप्ति में है । ध्यै चिन्ता में है । रै शब्दार्थक है । शब्द एवं संघात में स्त्यै एवं ष्ट्यै है ।

षोपदेश में आदि को सकारादेश से षोपदेश अषोपदेश में यद्यपि समान ही रूप है तथापि 'तिष्ट्यासति', 'अतिष्ट्यपत्' यहां षत्व की प्रवृत्ति रूप फल षोपदेश का है । खै खदन में है । क्षै, जै, षै क्षय में है । 'घुमास्था' एवं 'विभाषा घ्राधेट्' इन दो सूत्रों में 'षोऽन्तकर्मणि' के 'सो' का ग्रहण है इसका नहीं है । इस कारण एकारादेश एवं सिच् का लुक् इसका नहीं होता है । कै एवं गै शब्द में है । गेयात् यहां एकारादेश । अगासीत् में आत्व सिच् इट् दीर्घादि कार्य हुए ।

शै श्रै पाके । १८ । पै ओवै शोषणे । पायात् । अपासीत् । घुमास्थेतीत्वं तदपवाद 'एर्लिङि' इत्येत्वं गातिस्थेति सिज् लुक् च न, पारूपस्य लाक्षणिकत्वात् । २० । ष्टै वेष्टने । स्तायति । २१ । ष्णै वेष्टने । शोभायां चेत्येके । स्नायति । २२ । दैप् शोधने । दायति । अघुत्वादेत्वसिज्लुकौ न । दायात् । अदासीत् । २३ ।

पा पाने । पाघ्राध्मेति पिबादेशस्तस्यादन्तत्वान्नोपधागुणः । पिबति । पेयात् । अपात् । २४ । घ्रा गन्धोपादाने । जिघ्रति । घ्रायात् । घ्रेयात् । अघ्रासीत् । अघ्रात् । २५ । ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः । धमति । २६ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ । तिष्ठति । स्थादिष्वभ्यासेनेति षत्वम् । अधितष्ठौ । उपसर्गादिति षत्वम् । अधिष्ठाता । स्थेयात् । २७ । म्ना अभ्यासे । मनति । २८ । दाण् दाने । प्रणियच्छति । देयात् । अदात् । ह्वृ कौटिल्ये । ह्वरति ।

शै एवं श्रै पाक में है । पै एवं ओवै शोषण में है । 'आदेश उपदेशे' से आत्वकर आशी लिङ् में पायात् । लुङ् में अपासीत् । इस 'पै' का आकारादेश होकर 'पा' रूप जो बना है उसमें ईत्व, एकारादेश तथा सिज्लुक् कार्य लाक्षणिक होने से प्रवृत्त नहीं होते हैं । लक्षण = सूत्र, तद्वशसम्पन्न को लाक्षणिक कहते हैं । प्रतिपदोक्त में ही पूर्व विधियाँ होंगी । लपेटना = वेष्टन में ष्टै धातु है । आदि षकार को सकार होने से ष्टुत्व की निवृत्ति हुई । 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' । ष्णै वेष्टन एवं शोभा में भी है ऐसा मत है । दैप् धातु शोधन में है । घुसंज्ञाविधायक में 'अदाप्' कहने से इसकी घुसंज्ञा न हुई अतः एत्व एवं सिच् का लुक् न हुआ अर्थात् 'एर्लिङि', 'घुमास्था' की प्रवृत्ति न हुई । दायात् । अदासीत् ।

पा धातु पान अर्थ में है। लट् लोट् लङ् विधिलिङ् में 'पा' के स्थान में 'पाघ्राध्मा' से पिब आदेश अकारान्त होता है शप् का अकार एवं बकारोत्तर अकार दोनों का पररूप होता है। आदेश पिब को अकारान्त इसलिए माना है कि लघूपध गुण न हो जाय। 'अङ्गकार्ये' परिभाषा है ही नहीं या अनित्य है। उससे लघूपध गुण की व्यावृत्ति नहीं हो सकती है।

पिबति। पिबतः। पिबन्ति। पपौ। पाता। पास्यति। पिबतु। अपिबत्। पिबेत्। पेयात्। अपात्। अपास्यत्। गन्ध के ग्रहण में घ्रा धातु है। 'पाघ्राध्मा' से लट् लोट् लङ् विधिलिङ् में जिघ्र आदेश से जिघ्रति। जिघ्रतु। अजिघ्रत्। जिघ्रेत्। जघ्रौ। घ्राता। घ्रास्यति। घ्रेयात्। अघ्रासीत्। अघ्रात्। ध्मा शब्द एवं अग्निसंयोग में है। 'पाघ्राध्मा' से धम आदेश हुआ। ष्ठा गति का अभाव = संयोगजनकव्यापाराभावानुकूलव्यापारार्थक है।

'धात्वादेः' से सकारादेश, ष्टुत्व की निवृत्ति स्था को 'पाघ्राध्मा' से लट्, लोट्, लिङ् विधि लिङ् में तिष्ठ आदेश हुआ है। तिष्ठति। तिष्ठतु। अतिष्ठत्। तिष्ठेत्। तस्थौ। 'अधितष्ठौ' यहां 'स्थादिषु' सूत्र से अभ्यासोत्तर सकार को षकारादेश होता है। 'अधिष्ठाता' यहाँ 'उपसर्गात् सुनोति' से षत्व हुआ। स्थेयात्। 'वाऽन्यस्य' से एकारादेश हुआ। म्ना अभ्यास में है। म्ना को मन आदेश। दाण् धातु दान में है। प्रणियच्छति में दाण् को यच्छादेश 'पाघ्राध्मा' से हुआ 'नेर्गद' से णत्व हुआ। ऐलिंङि—देयात्। गातिस्था से सिच् का लोप—अदात्। हृ धातु कुटिलताजनकव्यापारार्थक है। गुण से अर्—हरति।

२३८० ऋतश्च संयोगादेर्गुणः ७।४।१०।

ऋदन्तस्य संयोगादेरङ्गस्य गुणः स्याल्लिटि। क्दिर्थमपीदं परत्वाण्णल्यपि भवति। रपरत्वम् उपधावृद्धिः। जह्वार। जह्वरतुः। जह्वरुः। जहर्थ। ह्वर्ता। ऋद्धनोः स्ये। ह्वरिष्यति।

संयोग है आदि में जिसके ऐसा जो ऋकारान्त धातु तदन्त अङ्गावयव जो इक् उसको लिट् पर रहते गुण होता है। यह गुणविधायक सूत्र 'क्ङिति' को बाधकर कित् प्रत्यय पर रहते अप्राप्त जो गुण उसके विधानार्थ ही है। किन्तु जब इस सूत्र का निर्माण किया गया तब तो णित् प्रत्यय णल् 'में अचो ञ्णिति' से प्राप्त वृद्धि को बाधकर परत्व के कारण गुण होगा तब 'अत उपधायाः' से गुणोत्तर अकार की आकार रूप वृद्धि यहां हुई है। जह्वार। गुण जह्वरतुः। उभयमत से जहर्थ। ह्वरिष्यति में 'ऋद्धनोः' से इट् आगम हुआ।

२३८१ गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः ७।४।२९।

अर्तेः संयोगादेर्ऋदन्तस्य च गुणः स्याद् यकि यादावार्धधातुके लिङि च। ह्वर्यात्। अह्वार्षीत्। अह्वार्ष्टाम्। ३०।

स्वृ शब्दोपतापयोः। स्वरतिसूतीति वेट्। सस्वरिथ। सस्वर्थ। वमयोस्तु—

यक् या यकारादि आर्धधातुक लिङ् पर रहते ऋ धातु एवं ऋकारान्त धातु के अवयव इक् को गुणादेश होता है। यथा—ह्वर्यात्। लुङ् में 'सिचि वृद्धिः' से वृद्धि अह्वार्षीत्। स्वृ शब्द में एवं उपताप में है। वलादि आर्धधातुक का 'स्वरति' सूत्र से विकल्प इडागम होता है। यथा सस्वरिथ। पक्ष में सस्वर्थ। व एवं म में तो—

२३८२ श्र्युकः किति ७।२।११।

श्रिञ एकाच उगन्ताच्च परयोर्गित्कितोरिण्न स्यात्।

परमपि स्वरत्यादिविकल्पं बाधित्वा पुरस्तात् प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्यादनेन निषेधे प्राप्ते क्रादिनियमान्नित्यमिट्। सस्वरिव। सस्वरिम। परत्वाद् ऋद्धनोरिति नित्यमिट्। स्वरिष्यति। स्वर्यात्। अस्वारीत्। अस्वारिष्टाम्। अस्वार्षीत्। अस्वार्ष्टाम्। ३१। स्मृ चिन्तायाम्। ३२। ह्वृ संवरणे। ३३। स्तृ गतौ। क्रादित्वान्नेट्। ससर्थ। सस्तृव। रिङ्। स्त्रियात्। असार्षीत्। असार्ष्टाम्।

श्रि धातु एवं एकाच् उक् है अन्त में जिसका ऐसा जो धातु उससे पर गित् एवं कित् जो वलादि आर्धधातुक उसको इट् का आगम नहीं होता है। यहां उक् प्रत्याहार है अतः तद्बोध्य, ऋल्द का ग्रहण है। सस्वरिव। सस्वरिम। यहां स्वरति सूत्र से विकल्प से इट् का आगम प्राप्त है एवं 'श्र्युकः किति' से निषेध प्राप्त है, परत्व के कारण 'स्वरति' सूत्र यद्यपि प्राप्त था किन्तु नित्य इट्विधायक सूत्र जितने हैं वे सब प्रथम विधान करते उनके बाद विकल्प इट् विधायक सूत्रों का निर्देश करते उनके बाद इट् निषेधक का आरम्भ करते यही क्रम उचित था। किन्तु ऐसा न करके कुछ सूत्र इट् विधायक कर 'श्र्युकः किति' आदि इट् निषेधक अपवाद सूत्रों का निर्देश करने से यह ज्ञापित होता है कि यहां पर 'स्वरति' सूत्र को बाधकर इट् का निषेध ही इससे प्राप्त है। किन्तु क्रयादि नियम 'न' शब्द 'वा' शब्द से प्रकृत्याश्रय या प्रत्ययाश्रय सभी का नियमन करता है अतः यहां क्रयादि नियम से नित्य ही इट् आगम हुआ। मूलोक्त पङ्क्ति का शब्दार्थ—पर भी 'स्वरति' सूत्र को प्रतिषेध के प्रथमकरण के सामर्थ्य से बाधकर निषेध 'श्र्युकः' सूत्र से प्राप्त हुआ इस निषेध को बाधकर क्रयादि नियम से नित्य इट् हुआ। 'स्वरिष्यति' में परत्वात् 'ऋद्धनोः स्ये' से नित्य इट् हुआ। इट् पक्ष में अस्वरीत्। पक्ष में अस्वार्षीत्। इट्। स्मृ धातु चिन्ता में है। ह्वृ संवरण में है। स्तृ गति में है। ससर्थ। यहां क्रयादि नियम से इट् का अभाव है। आशीर्लिङ् में रिङादेश हुआ एवं दीर्घाभाव स्त्रियात्। लुङ् में सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु से वृद्धि षत्व अस्वार्षीत्।

२३८३ सतिशास्यर्तिभ्यश्च ३।१।५६।

तौदादिकऋच्छेर्ऋधातोर्ऋतां च गुणः स्याल्लिटि। णलि प्राग्वदुपधावृद्धिः। आर। आरतुः। आरुः।

लिट् पर में रहते तुदादि गण में पठित ऋच्छ धातु, एवं ऋ धातु तथा ऋकारान्त धातु को गुण होता है। णल् में परत्वात् गुण कर के उपधा वृद्धि करना आर। आरतुः। आरुः।

२३८५ इडत्यर्त्तिव्ययतीनाम् ७।२।६६।

अद् ऋ व्येञ् एभ्यस्थलो नित्यमिट् स्यात्। आरिथ। अर्ता। अरिष्यति। अर्यात्। आर्षीत्। आर्ष्टाम्। ३५। गृ घृ सेचने। गरति। जगार। जगर्थ। जघ्रिव। रिङ् घ्रियात्। अगार्षीत्। ३७। ध्वृ हूर्छने। ३८। स्रु गतौ। सुस्रोथ।

सुस्रुव। स्रूयात्। णिश्रीति चङ्। लघूपधगुणादन्तरङ्गत्वादुवङ्। असुस्रुवत्। ३९।

षु प्रसवैश्वर्ययोः। प्रसवोऽभ्यनुज्ञानम्। सुषोथ। सुषविथ। सुषुविव। सोता।

अद्, ऋ, व्येञ् इनसे पर थल् को नित्य इट् का आगम होता है। आरिथ। लुट् में अर्ता। लट् में 'ऋद्धनोः' से इट् अरिष्यति। अर्थात् गुण। गृ घृ सेचने में है। गरति। ध्वृ कुटिलता में है। स्रु गति में है। लुङ् में च्लि को चङादेश चङि से द्वित्व कर लघूपपधगुण को बाधकर अन्तरङ्गत्व के कारण उवङ् हुआ। असुस्रुवत्। षु धातु प्रसव एवं ऐश्वर्य में है। प्रसवशब्दार्थ यहां अभ्यनुज्ञान है। भारद्वाजमत में सुषविथ। सूत्रकार मत में सुषोथ। क्रयादि नियम से व एवं म प्रत्यय में नित्य इट् से सुषुविव। सुषुविम। सोता।

२३८६ स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु ७।२।७२।

एभ्यः सिच इट् स्यात् परस्मैपदेषु। असावीत्। पूर्वोत्तराभ्यां ञिद्भ्यां साहचर्यात् सुनोतेरेव ग्रहणमिति पक्षे—असौषीत्। ४०।

श्रु श्रवणे।

स्तु, सु, धूञ् इनसे पर जो सिच् उसको इट् आगम होता है परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय पर में रहते। असावीत्। सूत्र में सहचरित परिभाषा से स्तुञ् एवं धूञ् ये दोनों ञकार की इत्संज्ञा वाले हैं। अतः मध्यस्थित 'सुनोति' वाला सुञ् का ग्रहण होता है इसका नहीं इस पक्ष में असौषीत्।

श्रु धातु श्रवणेन्द्रियजन्यव्यापारार्थक है अर्थात् श्रवणक्रियार्थक है।

२३८७ श्रुवः शृ च ३।१।७४।

श्रुवः शृ इत्यादेशः स्यात् श्नुप्रत्ययश्च। शपोऽपवादः। श्नोर्ङित्त्वाद् धातोर्गुणो न। शृणुतः।

श्रु धातु के स्थान में 'शृ' आदेश होता है, एवं शप् विकरण को बाधकर श्नु विकरण होता है कर्तृ अर्थ बोधक सार्वधातुक पर में रहते। श्नु विकरण में शकार की इत्संज्ञा 'तिङ् शित्' सूत्र से इस 'नु' की सार्वधातुक संज्ञा कर 'सार्वधातुकमपित्' से ङित् कर 'क्ङिति' से धातु के स्थान में शृ के ऋकार का गुणाभाव हुआ तिप् निमित्त विकरण उकार को गुण से शृणोति यहां ऋवर्ण पर नकार को णकारादेश हुआ है 'ऋवर्णात्' वा० से या 'वर्णैकदेशाः' परिभाषा से। सार्वधातुकमपित् से ङिद्वद्भाव, गुणाभाव से शृणुतः।

२३८८ हुश्नुवोः सार्वधातुके ६।४।८७।

जुहोतेः श्नुप्रत्ययान्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य चासंयोगपूर्वोवर्णस्य यण् स्यादजादौ सार्वधातुके। उवङोऽपवादः। शृण्वन्ति। शृणोमि। शृण्वः। शृण्मः। शुश्रोथ। शुश्रुव। शृणु। शृणवानि। शृणुयात्। श्रूयात्। अश्रौषीत्। ४१। ध्रु स्थैर्ये। ध्रुवति। अयं कुटादौ गत्यर्थोऽपि। ४२। दु द्रु गतौ। दुदोथ। दुदविथ।

दुद्रुविव। दुद्रोथ। दुद्रुव। श्रिणीति चङ्। अदुद्रुवत्। ४३। जि त्रि अभिभवे। अभिभवो न्यूनीकरणं न्यूनीभवनं च। आद्ये सकर्मकः। शत्रून् जयति। द्वितीये त्वकर्मकः। अध्ययनात् पराजयते। अध्येतुं ग्लायतीत्यर्थः। विपराभ्यां जेरिति तङ्। पराजेरसोढ इत्यपादानत्वम्। ४५।

अजादि सार्वधातुकसंज्ञक प्रत्यय पर में रहते हु धातु एवं श्नुप्रत्ययान्त अनेकाच् अङ्गसंज्ञक के असंयोगपूर्वक उकार के स्थान में यणादेश होता है। 'अचि श्नु' इस सूत्र से प्राप्त उवङादेश का यह सूत्र निषेधक है। शृणु अन्ति = शृण्वन्ति। वस् मस् प्रत्यय पर रहते 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्'से उकार का वैकल्पिक लोप होता है। शृणोसि। शृणुथः। शृणुथ। शृणोमि। शृणुवः। शृण्वः। शृणुमः। शृण्मः। शुश्राव। शुश्रुवतुः। शुश्रुवुः। शुश्रोथ। शुश्रुवथुः। शुश्रुव। शुश्राव। शुश्रव। शुश्रुविव। शुश्रुविम। श्रोता। श्रोतारौ। श्रोतारः। श्रोष्यति। श्रोष्यतः। श्रोष्यन्ति। शृणोतु। शृणुतात्। शृणुताम्। शृण्वन्तु। शृणु। शृणुतात्। शृणुतम्। शृणुत। शृणवानि। शृणवाव। शृणवाम। अशृणोत्। शृणुयात्। श्रूयात्। अश्रौषीत्। अश्रोष्यत्।

स्थिरता अर्थ में ध्रु धातु का प्रयोग है। ध्रुवति। यह कुटादिगणपठित गति अर्थ में भी है। दु एवं द्रु गति अर्थ में है। दुदाव। ददविथ। दुदोथ। लुङ् में। च्लि को अङ् द्वित्व उवङ् अदुद्रुवत्। जि एवं त्रि न्यूनीकरण या न्यून स्वयं होना अर्थ में है। आदि अर्थ में यह सकर्मक है। द्वितीयार्थ में यह अकर्मक है। प्रथम अर्थ में उदाहरण—स शत्रून् जयति। द्वितीयार्थ में उदाहरण—अध्ययनात् पराजयते। अध्ययन करने में कष्ट का अनुभव वह करता है। 'पराजेः' सूत्र से यहाँ अध्ययन की अपादान संज्ञा हुई है। एवं 'विपराभ्याम्' सूत्र से आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्यय जि धातु से पर लकार के स्थान में हुआ।

अथ डीङन्ता ङितः। ष्मिङ् ईषद्धसने। स्मयते। सिष्मिये। सिष्मियिढ्वे। सिष्मियिध्वे १। गुङ् अव्यक्ते शब्दे। गवते। जुगुवे २। गाङ् गतौ। गाते। गाते। गाते। इट एत्वे कृते वृद्धिः। गै। लङ इटि—अगे। गेत। गेयाताम्। गेरन्। गासीष्ट। गाङ्कुटादिसूत्रे इङादेशस्यैव गाङो ग्रहणं न त्वस्य। तेनाङित्त्वाद् घुमास्थेतीत्त्वं न। अगास्त। आदादिकोऽयमिति हरदत्तादयः। फले तु न भेदः ३।

कुङ् घुङ् उङ् ङुङ् शब्दे। अन्ये तु उङ् कुङ् खुङ् गुङ् घुङ् ङुङ् इत्याहुः। कवते। चुकुवे। घवते। अवते। ऊवे। वार्णादाङ्गं बलीय इत्युवङ्। ततः सवर्णदीर्घः। ओता। ओष्यते। ओषीष्ट। औष्ट। ङवते। ञुङुवे। ङोता। ७। च्युङ् प्रुङ् प्लुङ् गतौ। ११। क्लुङ् इत्येके।१२। रुङ् गतिरेषणयोः। रेषणं हिंसा। रुरुवे। रवितासे।१३। धृङ् अवध्वंसने। प्रणिधरते। दध्रे।१४। मेङ् प्रणिदाने। प्रणिदानम् = विनिमयः, प्रत्यर्पणं च। प्रणिमयते। नेर्गदेति णत्वम्, तत्र घुप्रकृतिमाङ् इति पठित्वा ङितो माप्रकृतेरपि ग्रहणस्येष्टत्वात्। १५। देङ् रक्षणे। दयते।

डीङ् धातु तक ङकार की इत्संज्ञक धातुओं को कहते हैं।

ष्मिङ् धातु स्वल्प हसन में है। धातु के आदि षकार को सकारादेश होता है। लट् में स्मयते। लिट् में इयङादेश सिस्मिये। 'इणः' सूत्र से विकल्प कर के ध्वम् के धकार को ढत्व हुआ। अव्यक्त शब्द में गुङ् धातु है। जुगुवे में उवङादेश। गाङ् धातु गति में है। एकवचन में गाते। द्विवचन में गाते। ब० वच० में भी गाते। उत्तम पु० एक० व० में इट् प्रत्यय के इकार को 'टितः' सूत्र से एकार वृद्धि गे। अगे। गेत। गासीष्ट। लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से इङादेश। गाङ् का ही 'गाङ्कुटादि' में ग्रहण है, इस लाक्षणिक का नहीं। अतः यहां ङित्वाभाव से 'घुमास्था' से इत्वाभाव हुआ—अगास्त।

हरदत्तादि मत में यह अदादिगणस्थ है। फल में कोई भेद नहीं है। कुङ् आदि शब्दार्थक हैं। कोई उङ् आदि शब्दार्थ हैं ऐसा कहते हैं।

'ऊवे' यहां वार्ण परिभाषा से प्रथम उवङ् पश्चात दीर्घ हुआ। च्युङ् आदि गति में है। क्लुङ् भी गति में है। रुङ् गति में एवं हिंसा में है। धृङ् अवध्वंसन में है। मेङ् विनिमय में है एवं प्रत्यर्पण में है। प्रणिमयते। 'नेर्गद' से णकारादेश हुआ है। नेर्गद सूत्र में घुमास्यति के स्थान में 'घुप्रकृतिमाङ्' ऐसा पढ़कर ङकार की इत्संज्ञायुक्त प्रकृति में भी ग्रहण का इष्टत्व मान कर इसका भी ग्रहण इष्ट है।

विमर्श—'प्रणिमयते' यहां नेर्गद से णकारादेश नहीं होना चाहिये क्योंकि शिद्विषय में आत्व का अभाव से मारूप नहीं है, अशिद्विषय में आत्व करने पर भी इसमें णत्व दुर्लभ है। प्रतिपदोक्त मा धातु का ही ग्रहण उचित है इस लाक्षणिक का नहीं। "गामादाग्रहणेष्वविशेषः" परिभाषा स्वीकार करने पर तो 'मीनाति' एवं 'मिनोति' वालों को भी आत्व करने पर प्रनिमाता, प्रनिमास्यति यहां णत्वापत्ति रूप अतिप्रसङ्ग होगा।

वहां घुप्रतिमाङ् पढ़कर घुश्च प्रकृतिश्च माङ् च इस अर्थ में द्वन्द्व समास करना चाहिए। किस की प्रकृति यह आकाङ्क्षा हृदय में उत्थित होती है; उसके निरासार्थ संनिधान = समीपवर्ती होने से पूर्व एवं उत्तर की ही कहने पर कहीं भी अव्याप्ति दोष नहीं है।

मा माने एवं मीनाति मिनोति आदि में अतिव्याप्ति भी नहीं है, माङ् ङकारानुबन्धक का ही ग्रहण है। देङ् धातु रक्षण अर्थ में है = रक्षाजनकव्यापारवाचक यह है। दयते लट् मे।

२३८९ दयतेर्दिगि लिटि ७।४।९।

दिग्यादेशेन द्वित्वबाधनमिष्यते इति वृत्तिः। दिग्ये।

लिट् पर में रहते देङ् धातु को दिगि आदेश होता है। दिगि आदेश से द्वित्व का बाध होता है यह वृत्तिकार का मत है। दिगि आदेश से बाधित द्वित्व सदा बाधित ही रहता है, "सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद्बाधितमेव" इस परिभाषा से। अतः दिगि 'एरनेकाचः' से यण् दिग्ये।

२३९० स्थाघ्वोरिच्च १।२।१७।

अनयोरिदादेशः स्यात् सिच्च कित् स्यात्। अदित। अदिथाः। अदिषि। १६। श्यैङ् गतौ। श्यायते। शश्ये। १७ प्यैङ् वृद्धौ। प्यायते। १८। त्रैङ् पालने। त्रायते। तत्रे। १९। पूङ् पवने। पुपुवे। पविता। २०। मूङ् बन्धने।

भवते। २१। डीङ् विहायसागतौ। डयते। डिड्ये। डयिता। २२। तॄ प्लवनतरणयोः।

स्था धातु एवं घुसंज्ञक धातुओं को इकारादेश होता है एवं सिच् कित् होता है। अदित अदि स् त अदित। यहाँ ह्रस्वादङ्गात् से सिच् से सकार का लोप, कित्त्वप्रयुक्त गुणाभाव अदित। इयैङ् गति में है। वृद्धि में प्यैङ् है। पालन में त्रैङ् है। पवन में पूङ् है। बन्धन में मूङ् है। आकाशगमन में डीङ् है। तॄ प्लवन एवं तरण में है।

२३९१ ऋत इद्धातोः ७।१।१००।

ॠदन्तस्य धातोरङ्गस्य इत् स्यात्। ❀ इत्त्वोत्त्वाभ्यां गुणवृद्धी विप्रतिषेधेन ❀। तरति। ऋच्छत्यॄतामिति गुणः। तॄफलेत्येत्त्वम्। तेरतुः। तेरुः।

ॠदन्त अङ्गसंज्ञक धातु के ॠकार को इत् आदेश होता है। पूर्वविप्रतिषेध से इत्त्व एवं उत्त्व को बाधकर क्रमशः गुण एवं वृद्धि होती है। लट् में तरति। तरति शोकम् आत्मवित्। लिट् से ततार। तेरतुः। तेरुः। 'ऋच्छत्यॄताम्' से गुण, 'तॄफल' से एत्वाभ्यासलोप हुआ।

२३९२ वॄतो वा ।७।२।३८ः

वृङ्वृञ्भ्याम् ॠदन्ताच्चेतो दीर्घो वा स्यान्न तु लिटि। तरीता। तरिता। अलिटीति किम् ? तेरिथ। हलि चेति दीर्घः। तीर्यात्।

वृङ् वृञ् एवं ॠकारान्त धातु से परवर्ती इट् आगम को विकल्प से दीर्घादेश होता है, किन्तु लिट् में यह सूत्र इट् को दीर्घविधान नहीं करता है। अतः तेरिथ यहाँ दीर्घ नहीं हुआ। आशीर् लिङ् में इत्व एवं 'हलि च' से दीर्घ तीर्यात्।

२३९३ सिचि च परस्मैपदेषु ७।२।४०।

अन्ते वॄत इटो दीर्घो न। अतारिष्टाम्। २४। तिज निशाने। २। मान पूजायाम्। ३। बध बन्धने।

परस्मैपदसंज्ञक प्रत्ययपरक सिच् पर रहते 'वॄतो वा' से इट् के स्थान में दीर्घादेश नहीं होता है। तिज धातु तीक्ष्णीकरणरूप निशान अर्थ में है। मान धातु पूजा में है। बध धातु बन्धन में है।

२३९४ गुप्तिज्किद्भ्यः सन् ३।१।५।

२३९५ मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य ३।१।६।

सूत्रद्वयोक्तेभ्यः सन् स्यात् मानादीनामभ्यासस्येकारस्य दीर्घश्च। ❀ गुपेर्निन्दायाम् ❀। ❀ तिजेः क्षमायाम् ❀। ❀ कितेर्व्याधिप्रतीकारे निग्रहे अपनयने नाशने संशये च ❀। ❀ मानेर्जिज्ञासायाम् ❀। ❀ बधेश्चित्तविकारे ❀। ❀ दानेरार्जवे ❀। ❀ शानेर्निशाने ❀। सनाद्यन्ता इति धातुत्वम्।

दोनों सूत्रों में पठित—गुप्, तिज्, कित, मान, बध, दान, शान इन धातुओं से पर सन् प्रत्यय होता है, एवं मान आदि धातुओं के अभ्यास में स्थित इकार का दीर्घ होता है। गुप् धातु से

निन्दा में सन् होता है। तिज् से क्षमा में सन् होता है। कित धातु से व्याधि के निवारण में, निग्रह में, दूरीकरण में, नाशन में एवं संशय में सन् होता है। मान से ज्ञानविषयक इच्छा में सन् होता है। बध से चित्त के विकार में सन् होता है। सरलता में दान से सन् होता है। निशान में शान से सन् होता है। सन् कर सन्नन्ततदादि शब्दस्वरूप की धातुसंज्ञा 'सनाद्यन्ताः' से होती है।

२३९६ सन्यङोः ६।१।९।

सन्नन्तस्य यङन्तस्य च प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य। अभ्यासकार्यम्। गुपिप्रभृतयः किद्भिन्ना निन्दाद्यर्थका एवानुदात्तेतः। दानशानौ च स्वरितेतौ। एते नित्यं सन्नन्ताः। अर्थान्तरे त्वननुबन्धकाश्चुरादयः। अनुबन्धस्य केवलेऽचरितार्थत्वात्सन्नन्तात् तङ्। धातोरित्यविहितत्वात् सनोऽत्र नार्धधातुकत्वम्। तेनेड्गुणौ न–जुगुप्सते। जुगुप्साञ्चक्रे। तितिक्षते। मीमांसते। भष्भावः। चर्त्वम्। बीभत्सते। रभ राभस्ये। आरभते। आरेभे। रब्धा। रप्स्यते। ५। डुलभष् प्राप्तौ। लभते। ६। ष्वञ्ज परिष्वङ्गे।

सन्नन्ततदादि एवं यङन्ततदादि के प्रथम एकाच् का द्वित्व होता है। अजादि यदि सन्नन्त तदादि एवं यङन्ततदादि रहे तो द्वितीय एकाच् का द्वित्व होता है। द्वित्व कर अभ्यास को उद्देश्य कर विधीयमान कार्य 'हलादिः शेषः' 'ह्रस्वः' 'कुहोश्चुः' आदि होगें।

कित से भिन्न गुप् धातु निन्दादिअर्थ प्रत्यायक होने पर ही अनुदात्तेत है। दान एवं शान स्वरितेत हैं। ये नित्यसन्प्रत्ययान्त ही है। इससे भिन्नार्थबोधक अनुबन्ध रहित चुरादिगण पठित है। अनुबन्ध जो निर्दिष्ट इन धातुओं से है वह केवल सन्रहित में अकृतार्थ है अतः "अवयवे अचरितार्थोऽनुबन्धः समुदायस्योपकारको भवति" से सन्नन्त से आत्मनेपद होगा।

यह सन् धातु के अधिकार करके विहित नहीं है अतः इस सन् प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा नहीं है। अतः इडागम एवं गुणाभाव यहाँ होता है। जुगुप्सते। जुगुप्साञ्चक्रे। तितिक्षते। मीमांसते। बध से सन् द्वित्वादि भष्भाव चर्त्व सन्यतः से इकार 'दीर्घो लघोः' से दीर्घ बीभत्सते। आरम्भ करने में रभ धातु है। प्राप्ति में लभ है। आलिङ्गन में ष्वञ्ज धातु है।

२३९७ दंशसञ्जस्वञ्जां शपि ७।४।२५।

शप् पर रहते दंश, सञ्ज, स्वञ्ज इन धातुओं के नकार का लोप होता है।

२३९८ रञ्जेश्च ६।४।२६।

एषां शपि नलोपः। स्वजते। परिष्वजते। श्रन्थिग्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनां लिटः कित्त्वं वेति व्याकरणान्तरम् देभतुः, सस्वजे इति भाष्योदाहरणाद् एकदेशानुमत्या इहाप्याश्रीयते। ❀ सदेः परस्य लिटीति सूत्रे स्वञ्जेरुपसंख्यानम् ❀। अतोऽभ्यासात्परस्य षत्वं न। परिषस्वजे। परिषस्वञ्जे। सस्वजिषे। सस्वञ्जिषे। स्वङ्क्ता। स्वङ्क्ष्यते। स्वजेत। स्वङ्क्षीष्ट। प्रत्यष्वङ्क्त।

प्राक्सितादिति षत्वम्। परिनिविभ्यस्तु सिवादीनां वेति विकल्पः। एतदर्थमेवोपसर्गात् सुनोतीत्येव सिद्धे स्तुस्वञ्ज्योः परिनिवि इत्यत्र पुनरुपादानम्। पर्यष्वङ्क्त। पर्यस्वङ्क्त। ७। हद पुरीषोत्सर्गे। हदते। जहदे। हत्ता। हत्स्यते। हदेत। हत्सीष्ट। अहत्त।

शप् पर रहते रञ्ज के नकार का लोप होता है।

श्रन्थ, ग्रन्थ, दम्भ और स्वञ्ज धातु से पर जो लिट् उसको व्याकरणान्तर से कित्वबोधन होता है विकल्प से। भाष्य में 'देभतुः' 'सस्वजे' ऐसे प्रयोग मिलते हैं अतः भिन्न व्याकरण मत से कित्व का आश्रयण कर नलोप एवं कित् प्रत्यय में एत्वाभ्यास लोप होता है। "सदेः परस्य लिटि" सूत्र में स्वञ्ज का भी बोधन किया है, अतः अभ्यास से पर स्थित सकार को षकार का निषेध हुआ। 'पर्यष्वङ्क्त' यहाँ प्राक् सितात् से षत्व हुआ। परि, नि, वि, से पर सिवादि को विकल्प से 'सिवादीनाम्' से षकारादेश। इसी कारण 'उपसर्गात्' से षकारादेश सिद्ध होने पर भी 'परिनिविभ्यः' सूत्र में दुवारा इनका ग्रहण किया है। पर्यष्वङ्क्त। पर्यस्वङ्क्त। हद मलत्याग में है। अहत्त में स् का लोप हुआ।

अथ परस्मैपदिनः। ञिष्विदा अव्यक्ते शब्दे। १। स्कन्दिर् गतिशोषणयोः। चस्कन्दिथ। चस्कन्थ। स्कन्ता। स्कन्त्स्यति। नलोपः—स्कद्यात्। इरित्वादङ् वा—अस्कदत्, अस्कान्त्सीत्। अस्कान्ताम्। अस्कान्त्सुः।

सम्प्रति परस्मैपद धातुओं को कहते हैं—ञिष्विदा अव्यक्तशब्द में है। स्कन्दिर् धातु गति में, शोषण में है। भारद्वाजमत में इट्, सूत्रकार के मत में थल् में इट् का अभाव है। आशीर्लिङ् में कित्वप्रयुक्त नलोप है।

लुङ् में 'इरितो वा' से च्लि को अङ् विकल्प से अस्कदत्। पक्ष में अस्कान्त्सीत्।

२३९९ वेः स्कन्देरनिष्ठायाम् ८।३।७३।

षत्वं वा स्यात्। कृत्येवेदम्, अनिष्ठायामिति पर्युदासात्। विष्कन्ता। निष्ठायान्तु—विस्कन्नः।

निष्ठाभिन्न प्रत्यय पर रहते अर्थात् कृत्प्रत्यय पर में रहते विपूर्वक स्कन्द धातु के सकार को विकल्प से षकारादेश होता है। अनिष्ठायाम् में नञर्थ पर्युदास है वह सदृशग्राही है। निष्ठा कृत् प्रत्यय है अतः तद्भिन्न भी कृत्प्रत्यय ही षत्वप्रवृत्ति में निमित्त होगें। 'विस्कन्नः' में धातु एवं त दोनों को 'रदाभ्याम्' से नकारादेश हुआ है।

२४०० परेश्च ८।३।७४।

अस्मात् परस्य स्कन्देः सस्य षो वा। योगविभागाद् अनिष्ठायामिति न सम्बध्यते। परिष्कन्दति। परिस्कन्दति। परिष्कण्णः। परिस्कन्नः। षत्वपक्षे तु णत्वम्। न च पदद्वयाश्रयतया बहिरङ्गत्वात् षत्वस्यासिद्धत्वम्, धातूपसर्गयोः कार्य्यमन्तरङ्गमित्यभ्युपगमात्। पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते ततः साधनेनेतिभाष्यम्। 'पूर्वं साधनेन' इति मतान्तरे तु न णत्वम्। यभ मैथुने।

येभिथ । ययब्ध । यब्धा । यप्स्यति । अयाप्सीत् । णम प्रह्वत्वे शब्दे च । नेमिथ । ननन्थ । नन्ता । अनंसीत् । अनंसिष्टाम् । गम्लृ सृप्लृ गतौ ।

परिपूर्वक स्कन्द के सकार के स्थान में षकारादेश विकल्प से होता है। योगविभागसामर्थ्य से यहां 'अनिष्ठायाम्' का पूर्व सूत्र से सम्बन्ध नहीं है। अतः कृत्प्रत्यय भिन्न लिङ् में एवं निष्ठा में भी इसकी प्रवृत्ति होती ही है। यथा परिष्कन्दति। पक्ष में परिस्कन्दति। परिष्कण्णः। पक्ष में षकाराभाव में णत्वाभाव से परिस्कन्नः।

षत्व होने पर ही णत्व होता है। अन्यथा नहीं। पदद्वय सम्बन्धी जो वर्णद्वय तन्निमित्तक षत्व बहिरङ्ग है, अतः अन्तरङ्ग णत्व करने में वह अन्तरङ्ग परिभाषा से अनित्य होगा यह शङ्का यहां नहीं करनी चाहिये क्योंकि धातु एवं उपसर्गनिमित्तक कार्य अन्तरङ्ग ही होता है, इसमें ओमाङोश्च सूत्रस्थ आङ्ग्रहण ज्ञापक है। भाष्यकार ने भी कहा है कि पूर्वं धातु = धात्वर्थ एवं उपसर्ग = उपसर्गार्थ का योग = सम्बन्ध होता है, तन्निमित्तक कार्य शीघ्रोपस्थितिकत्वरूप अन्तरङ्गत्वप्रयुक्त होता है। तदनन्तर साधन = कारक तन्निमित्तक कर्तृत्व या कर्मत्वादि कारकप्रयुक्त प्रत्ययोत्पत्ति रूप कार्य होता है, प्रथम नहीं। अतः पश्चात् प्रवर्तमान लक्षण बहिरङ्गत्व साधननिमित्तक कार्य का है।

पूर्वं धातु कारकनिमित्तककार्यान्वयी होता है यह भी गौण पक्ष है उसका आश्रयण करने पर तो यहां णत्व नहीं ही होता है। व्याख्यान भेद से प्रयोगद्वय इष्ट ही है।

वस्तुतस्तु एक ही प्रयोग के व्याख्यानद्वयप्रयुक्त साधुत्व एवं असाधुत्व का अन्वाख्यान करना अनुचित है अतः 'पूर्वं धातुः उपसर्गेण युज्यते' यही पक्ष ज्यायान् है। यभ मैथुन में है। णम प्रह्वत्व में एवं शब्द में है।

गम्लृ एवं सृप्लृ ये दोनों धातु संयोगजनकव्यापार में है, अर्थात् गमनार्थक हैं।

२४०१ इषुगमियमां छः ७।३।७७।

एषां छः स्याच्छिति परे । गच्छति । जगाम । जग्मतुः । जग्मुः । जगमिथ । जगन्थ । गन्ता ।

शकारेत्संज्ञक प्रत्यय पर में रहते इषु, गम्, यम् इन धातुओं के अन्त्यवर्ण को छकारादेश होता है। गम् लट् तिप् शप् गम् अति छकारादेश कर छे च से तुक् गत् छति अवशेष रहा जश्त्व से दकार श्चुत्व से जकार चर्त्व से चकार 'गच्छति' हुआ। चैत्रो ग्रामं गच्छति 'चैत्राभिन्नैकत्वविशिष्टकर्तृवृत्तिग्रामाभिन्नकर्मनिष्ठसंयोगजनकवर्तमानकालिको व्यापारः' यह संक्षिप्त शाब्दबोध हुआ। विशद बोधप्रकार वैयाकरणभूषण की मेरी व्याख्या प्रभा में हैं। गच्छति । गच्छतः । गच्छन्ति । गच्छसि । गच्छथः । गच्छथ । गच्छामि । गच्छावः । गच्छामः । जगाम । जग्मतुः । जग्मुः । 'गमहन' से उपधाभूत अकार का लोप हुआ। भारद्वाज मत में इट् विकल्प से जगमिथ, जगन्थ । जग्मथुः । जग्म । जगाम, जगम । जग्मिव । जग्मिम । गन्ता । गन्तारौ । गन्तारः । गन्तासि । गन्तास्थः । गन्तास्थ । गन्तास्मि । गन्तास्वः । गन्तास्मः ।

२४०२ गमेरिट् परस्मैपदेषु ७।२।५८।

गमेः परस्य सकारादेरिट् स्यात् । गमिष्यति । लृदित्वादङ् । अनङीति पर्युदासान्नोपधालोपः । अगमत् । सर्पति । ससर्प ।

गम् धातु से पर सकारादि प्रत्यय को इट् आगम होता है परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय पर में रहते। यथा—गमिष्यति। आदेशप्रत्यययोः से षत्व यहां हुआ है। गमिष्यतः। गमिष्यन्ति। गमिष्यसि। गमिष्यथः। गमिष्यथ। गमिष्यामि। गमिष्यावः। गमिष्यामः। गच्छतु। गच्छतात्। गच्छताम्। गच्छन्तु। गच्छ। गच्छतात्। गच्छतम्। गच्छत। गच्छानि। गच्छाव। गच्छाम। अगच्छत्। अगच्छताम्। अगच्छन्। अगच्छः। अगच्छतम्। अगच्छत। अगच्छम्। अगच्छाव। अगच्छाम। गच्छेत्। गच्छेताम्। गच्छेयुः। गच्छेः। गच्छेतम्। गच्छेत। गच्छेयम्। गच्छेव। गच्छेम। गम्यात्। गम्याताम्। गम्युः। गम्याः। गम्यातम्। गम्यात। गम्याम्। गम्याव। गम्याम। लुङ् में च्लि को लृदित् होने से 'पुषादि' सूत्र से अङ् आदेश हुआ अङ् में उपधालोप गम् का न हुआ, उसमें 'अनङि' कहा है। अतः यहां 'गमहन्' सूत्र की अप्रवृत्ति से, अगमत्। अगमताम्। अगमन्। अगमः। अगमतम्। अगमत। अगमम्। अगमाव। अगमाव। लृङ् में अगमिष्यत्। अगमिष्यताम्। अगमिष्यन्। अगमिष्यः। अगमिष्यतम्। अगमिष्यत। अगमिष्यम्। अगमिष्याव। अगमिष्याम। यह प्रसिद्ध धातु है इसके रूप कण्ठ करें।

सृप्लृ भी गत्यर्थक है। लघूपध गुण रपरत्व से सर्पति। ससर्प।

२४०३ अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् ६।१।५९।

उपदेशेऽनुदात्तो य ऋदुपधस्तस्याम्वा स्याज्झलादावकिति परे। स्रप्ता। सर्प्ता। स्रप्स्यति। सर्प्स्यति। असृपत्। यम उपरमे। यच्छति। येमिथ। ययन्थ। यन्ता। अयंसीत्। अयंसिष्टाम्। ७। तप सन्तापे। तप्ता। अताप्सीत्।

झलादि कित् भिन्न प्रत्यय पर रहते उपदेश अवस्था में अनुदात्त जो ऋकारोपध धातु उसको अम् आगम विकल्प से होता है। सृप् के ऋकार के बाद पकार के पूर्व में अम् 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से होकर सृ के ऋकार को रेफरूप यणादेश। पक्ष में लघूपधगुण से रूपद्वय होगें। यथा स्रप्ता, सर्प्ता। स्रप्स्यति, सर्प्स्यति। लृदित् प्रयुक्त लुङ् में च्लि को अङ्, गुणनिषेध से 'असृपत्' हुआ।

यम धातु उपरमार्थक है। जहाँ शित् प्रत्यय पर में रहे वहां इसके मकार के स्थान में छकारादेश "इषुगमियमां छः" से होता है। तकार, दकार, जकार, चकार, तुक् जश्त्व श्चुत्व चर्त्व से हुआ—यच्छति। एत्वाभ्यासलोप येमिथ। पक्ष में मकार का अनुस्वार परसवर्ण ययन्थ। 'अयंसीत्' यहां 'यमरम' सूत्र से सक् आगम एवं सिच् को इट् आगम, मकार का 'नश्चापदान्तस्य' से अनुस्वार, सकारलोप दीर्घ अयंसीत् हुआ।

तप धातु सन्ताप में है। तप्ता। अताप्सीत्। हलन्त लक्षण वृद्धि हुई।

२४०४ निसस्तपतावनासेवने ८।३।१०२।

षः स्यात्। आसेवनं पौनःपुन्यं ततोऽन्यस्मिन् विषये। निष्टपति। ८ त्यज हानौ। तत्यजिथ। तत्यक्थ। त्यक्ता। अत्याक्षीत्। ६। षञ्ज सङ्गे। दंशसञ्जस्वञ्जां शपीति नलोपः। सजति। सङ्क्ता। १०। दृशिर् प्रेक्षणे। पश्यति।

आसेवन शब्दार्थ है किसी कार्य को बार-बार करना इससे भिन्नार्थक तप् धातु पर में रहते निस् के सकार के स्थान में षकारादेश होता है। षकारोत्तर तप् के तकार को ष्टुत्व से टकारा-

देश हुआ। निष्टपति। त्यज धातु हानि में है। लुङ् में हलन्तलक्षणा वृद्धि हुई है। षञ्ज धातु सङ्ग में है। शप् में 'दंशसञ्ज' सूत्र से नकार का लोप हुआ। सजति। दृशिर् धातु चक्षुरिन्द्रियजन्य-ज्ञानानुकूल व्यापार रूप देखना अर्थ में है। इर् की इत्संज्ञा होती है। दृश् को लट् लोट् लङ् विधिलिङ् में शप् पर में रहते 'पाघ्राध्मा' से पश्य आदेश होता है। पश्यति। पश्यतु। अपश्यत्। पश्येत्। अन्यत्र ददर्श आदि रूप।

२४०५ विभाषा सृजिदृशोः ७।२।६५।

आभ्यां थल इड् वा।

सृज् एवं दृश् धातु से पर थल् को इट् आगम विकल्प से होता है।

२४०६ सृजिदृशोर्झल्यमकिति ६।१।५८

अनयोः अमागमः स्याज्झलादावकिति। दद्रष्ठ। ददर्शिथ। द्रष्टा। द्रक्ष्यति। दृश्यात्। इरित्वादङ् वा।

कित भिन्न झलादि प्रत्यय पर रहते सृज् एवं दृश् धातु को अम् आगम होता है। ददृश् थ यहाँ इडागम 'विभाषा सृजि'से विकल्प से हुआ, इडागमाभाव में अम् आगम रेफरूपयणादेश व्रश्च से षकारादेश, ष्टुत्व से दद्रष्ठ। पक्ष में ददर्शिथ। दृअष्ता = द्रष्टा। षढोः कः सि। द्रक्ष्यति। दृश्यात् में कित होने से अम् न हुआ। लुङ् में अङ् विकल्प से हुआ है। गुण करने के लिए वक्ष्यमाण सूत्र है।

२४०७ ऋदृशोऽङि गुणः ७।४।१६।

ऋवर्णान्तानां दृशेश्च गुणः स्यादङि। अदर्शत्। अङभावे।

अङ् पर रहते ऋकारान्त जो धातु एवं दृश् धातु के ऋकार को गुण होता है। इक्परिभाषा की उपस्थिति से यहाँ इक् ऋकार ही है अन्य नहीं। अतः फलितार्थ कथन ऋकार गुण हुआ। रपर होकर 'नलतुम्बिका' न्याय से उसका ऊर्ध्वगमन हुआ है। अदर्शत्। अङ् के अभाव में वक्ष्यमाण सूत्र क्सादेश-निषेधक है।

२४०८ न दृशः ३।१।४७।

दृशश्च्लेः क्सो न। अद्राक्षीत्। ११। दंश दशने। दशनं दंष्ट्राव्यापारः। पृषोदरादित्वादनुनासिकलोपः। अत एव निपातनादित्येके। तेषामप्यत्रैव तात्पर्य्यम्। अर्थनिर्देशस्याधुनिकत्वात्। दंशसञ्जेति नलोपः। दशति। ददंशिथ। ददंष्ठ। दंष्टा। दङ्क्ष्यति। दश्यात्। अदाङ्क्षीत्।

कृष विलेखने। विलेखनम् = आकर्षणम्। क्रष्टा। कर्ष्टा। क्रक्ष्यति। कर्क्ष्यति। ॐ स्पृशमृषकृषतृपदृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः ॐ। अक्राक्षीत्। अक्राष्टाम्। अकार्क्षीत्। अकार्ष्टाम्। अकार्क्षुः। पक्षे क्सः, अकृक्षत्। अकृक्षाताम्। अकृक्षन्। १३। दह भस्मीकरणे। देहिथ। ददग्ध। दग्धा। धक्ष्यति। अधाक्षीत्। अदाग्धाम्। अधाक्षुः। १४। मिह सेचने। मिमेह। मिमेहिथ। मेढा।

मेढ्यति । अमिक्षत् । १५ । कित निवासे रोगापनयने च । चिकित्सति । संशये प्रायेण विपूर्वः । "विचिकित्सा तु संशयः" इत्यमरः । अस्यानुदात्तेत्त्वमाश्रित्य 'चिकित्सते' इत्यादि केचिदुदाजहार । निवासे तु केतयति । १६ ।

दृश् धातु से परवर्ती च्लि को क्सादेश नहीं होता है। यह 'शल इगुपधात्' का निषेधक है। अ दृश् स ईत् अमागम यण् वृद्धि षत्वादि अद्राक्षीत् । दंश धातु दशन अर्थ में है। दशन = काटना अर्थ में है। दशन में 'दंशन' होना चाहिये उस शङ्का का निरासार्थ पृषादेरादित्व के कारण नकार का यहां लोप हुआ है। 'दशने' इस निपातन से कोई नकारलोप कहते हैं उनका भी पृषोदरादित्व की कल्पना में ही तात्पर्य है। निपातन से इष्ट रूप सिद्धि के लिये कल्पना करनी है वह कल्पना पृषादेरादित्व रूप ही उचित है। धातुओं का अर्थ निर्देश सर्वथा आधुनिक है, अनादि नहीं है। 'दंशसञ्ज' से नलोप कर, दशति रूप हुआ। इट् अभाव में षत्व ष्टुत्व से ददंष्ठ।

कृष धातु विलेखन = खोदना अर्थ है। कर्षति । चकर्ष । क्रष्टा में 'अनुदात्तस्य' से अम् विकल्प कर हुआ, अम् पक्ष में यण एवं ष्टुत्व। पक्ष में कर्ष्टा गुण ष्टुत्व। क्रक्ष्यति, अम् "षढोः कः सि" क मूर्धन्य = क्षकार। पक्ष में गुण् रपर कर्क्ष्यति । कर्षतु । अकर्षत् । कर्षेत् । कृष्यात् । लुङ् में च्लि को सिच् विकल्प। स्पृश, मृष, कृष, तृप, दृप् इनसे पर च्लि को सिच् विकल्प से होता है। सिच् पक्ष में 'अकृ अप् स् ईत्' यणादेश वृद्धि कादेश मूर्धन्य अक्राक्षीत् । पक्ष में च्लि को क्सादेश अकृक्षत् ।

दह धातु भस्मीकरण में है। दहति । ददाह । देहिथ । पक्ष में 'ददह्थ' घत्व धत्व जश्त्व ददग्ध । दग्धा । दादेर्धातोर्घः । यहां प्राप्त ढकारादेश को बाधकर हकार को घकारादेश करता है, 'झलाम्' सूत्र से जश्त्व से गकारादेश होता है।

मिह धातु सेचन में है। मेहति । मिमेह । मिमेहिथ । मेढा यहां ढत्व धत्व ष्टुत्व ढलोप हुआ है। लुङ् में च्लि को क्सादेश अमिक्षत् । कित धातु निवास में, रोग के दूरीकरण में है। "गुप्तिज्किद्भ्यः" से सन् द्वित्वादि, चिकित्सति । संशय अर्थ में यह धातु प्रायः करके वि उपसर्गपूर्वक है। अ प्रत्ययात् से सन्नन्त में अकार प्रत्यय टाप् स्त्रीलिङ्ग में दीर्घ विचिकित्सा = संशय अर्थ है। यह अमरकोषकार भी कहते हैं।

कित धातु अनुदात्तेत् है अतः आत्मनेपदी है। अतः 'चिकित्सते' रूप होता है, ऐसा कोई कहते हैं। निवास में तो सन् नहीं 'केतयति' ही रूप हुआ।

दान खण्डने । शान तेजने । इतो वहत्यन्ताः स्वरितेतः । दीदांसति । दीदांसते । शीशांसति । शीशांसते । अर्थविशेषे सन्, अन्यत्र-दानयति, शानयति ।

डुपचष् पाके । पचति । पचते । पेचिथ । पपक्थ । पेचे । पक्ता । पक्षीष्ट । । ३ । षच समवाये । सचति । सचते । ३ भज सेवायाम् । बभाज । भेजतुः । भेजुः । भेजिथ । बभक्थ । भक्ता । भक्ष्यति । भक्ष्यते । अभाक्षीत् । अभक्त ५ । रञ्ज रागे । नलोपः । रजति । रजते । रज्यात् । रङ्क्षीष्ट । अराङ्क्षीत् । अरङ्क्त । ६ । शप आक्रोशे । आक्रोशो विरुद्धानुष्ठानम् । शशाप । शेपे । अशाप्सीत् । अशप्त । । ७ । त्विष दीप्तौ । त्वेषति । त्वेषते । तित्विषे । त्वेष्टा । त्वेक्ष्यति । त्वेक्ष्यते । त्विष्यात् । त्विक्षीष्ट । अत्विक्षत् । अत्विक्षाताम् । अत्विक्षन्त ।

यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु। यजति। यजते।

दान धातु खण्डन में है। शान तेजन में है। यहां से लेकर वह धातु तक स्वरितेत् धातु हैं। दान से सन् द्वित्व अभ्यासादि कार्य 'सन्यतः' से इकारादेश दीर्घो लघोः से दीर्घ नकार का नश्चापदान्तस्य से अनुस्वार दीदांसति। दीदांसते। शान् का शीशांसति। शीशांसते। अर्थविशेषाभाव में सन् का अभाव होता है। दानयति। शानयति। डुपचष् धातु पाक अर्थ में है। फूत्कारत्व-अधः सन्तापनत्व—चुल्ल्युपरिधारणत्व—अधिश्रयणत्व आदि क्रियाकलाप का पच् धातु बोधन करता है, विक्लित्यनुकूलव्यापारार्थक है।

जहाँ क्रियाजन्यफल कर्तृगामी रहे वहां आत्मनेपद होता है। अन्यत्र परस्मैपद। पचति। पचतः पचन्ति। पपाच। पेचतुः। पेचुः। पेचिथ। पक्ष में पपक्थ। पक्ता। पक्ष्यति। पचतु। अपचत्। पचेत्। पच्यात्। अपाक्षीत्। अपक्ष्यत्। पचसे। पेचे। पक्ता। पक्ष्यते। पचताम्। अपचत। पचेत। पक्षीष्ट। अपक्त। अपक्ष्यत। षच समवाय = सम्बन्ध अर्थ में है। आदि षकार को सकारादेश। भज सेवा में है। भजति। भजते। बभाज। भेजे। भक्ता आदि। राग में रञ्ज धातु है। नलोप से रजति। शप् धातु विपरीत कार्य करने में, विरुद्धानुष्ठान करने में, शाप देने में हैं। त्विष् दीप्ति में है। लुङ् में क्सादेश होता है।

यज धातु देवताओं को उद्देश्य कर द्रव्यत्याग अर्थ में, सङ्गति करण एवं दान अर्थ में है। स्वं यजते। अन्यार्थं यजति।

२४०९ लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ६।१।१७।

वच्यादीनां ग्रह्यादीनाञ्च चाभ्यासस्य सम्प्रसारणं स्याल्लिटि। इयाज।

लिट् पर रहते वच् आदि धातुओं के अभ्यास के एवं ग्रह आदि धातुओं के अभ्यास के के अवयव यण् के स्थान में सम्प्रसारण संज्ञक वर्ण अर्थात् इक् होते हैं।

विमर्श—यहां 'वचिस्वपि' से वच्यादि की अनुवृत्ति करेगें। एवं 'ग्रहिज्या' से ग्रह्यादि की अनुवृत्ति करके उभयविध धातुओं का लाभ होता ही है, पुनः उभयविध धातुओं के संग्रह करने के लिए इस सूत्र में 'उभयेषाम्' का ग्रहण क्यों किया? इस शङ्का के निरासनार्थ समाधान क्या है? शङ्का उचित है, उभयविध संग्रह के लिए वह नहीं है, शब्दाधिक्य से अर्थाधिक्य की प्रतीति होकर 'अधिकम् अधिकार्थम्' से यह ज्ञापन करता है कि "सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्" यज् लिट् तिप् णल् अ द्वित्व, सम्प्रसारण पूर्वरूप 'अत उपधायाः' वृद्धि कर "इयाज" रुप हुआ।

२४१० वचिस्वपियजादीनां किति ६।१।१५।

वचिस्वप्योर्यजादीनाञ्च सम्प्रसारणं स्यात् किति। पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् द्वित्वम्। ईजतुः। ईजुः। इयजिथ। इयष्ठ। ईजे। यष्टा। यक्ष्यति। यक्ष्यते। इज्यात्। यक्षीष्ट। अयाक्षीत्। अयष्ट। ६। डुवप् बीजसन्ताने। बीजसन्तानम् = क्षेत्रे विकिरणं गर्भाधानञ्च। अयं छेदनेऽपि। केशान् वपति। उवाप। ऊपे। वप्ता। उप्यात्। वप्सीष्ट। प्रण्यवाप्सीत्। अवप्त। १०। वह प्रापणे। उवाह। उवहिथ। सहिवहोरोदवर्णस्य। उवोढ। ऊहे। वोढा। वक्ष्यति। वक्ष्यते। अवाक्षीत्। अवोढाम्। अवाक्षुः। अवोढ। अवक्षाताम्। अवक्षत। अवोढाः। अवोढ्वम्।

वस निवासे। परस्मैपदी। वसति। उवास।

कित् प्रत्यय पर में रहते वच् धातु स्वप् धातु एवं यजादि धातु का अवयव यण् वर्ण के स्थान में इक् रूप सम्प्रसारण संज्ञक वर्ण होता है। यज् लिट् तस् अतुस् यहां 'असंयोगात्' से प्रत्यय में कित्व बोधित है वह स्थानिवद्भाव से आदेश में भी अतिदिष्ट होकर कित् निमित्त संप्रसारण की प्राप्ति है एवं द्वित्व की भी एककालावच्छेद से प्राप्ति है, प्रथम कह चुके हैं कि सम्प्रसारण एवं तदाश्रित पूर्वरूपादि बलवान् है। अतः दुर्बल द्वित्व को बाधकर सम्प्रसारण पूर्वरूप से इज् अतुस्।

यहां "पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्" परिभाषा से बाधक की प्रवृत्ति के बाद भी यदि बाध्य शास्त्र की प्राप्ति है तो प्रवृत्ति होती है। इस नियमानुसार द्वित्व से इज् इज् हुवा एवं दीर्घ से ईजतुः ईजुः आदि की सिद्धि हुई है। थल् में अकारवान् विकल्प से इट् युक्त हुआ—इयजिथ। पक्ष में व्रश्च से षकार ष्टुत्व इयष्ठ। यष्टा। यक्ष्यति।

डुवप् धातु बीजसन्तान में है। खेत में अन्नादिक को बोना अर्थ में या गर्भाधान में है। यह धातु छेदन में भी है। बालों को नापित काटता है अर्थ में भी प्रयुक्त है—केशान् वपति नापितः। लिट् में उवाप। ऊपे। वप्ता। उप्यात् आदि। प्रण्यवाप्सीत् 'नेगर्द' से णत्व।

वह प्रापण में है, स्कन्धादि द्वारा ढोकर वस्तुओं के दूसरे स्थान पर पहुँचाने में इसका प्रयोग होता है, या बैल गाड़ी या शकट आदि द्वारा वहन में प्रयुक्त है। वहति। वहतः। वहन्ति। लिट् में द्वित्वादि एवं सम्प्रसारण पूर्वरूप उपधा वृद्धि, उवाह। ऊहतुः। ऊहुः। उवहिथ। पक्ष में उवह् थ यहां अकार को ओकार आदेश, ढत्व, धत्व ष्टुत्व, ढलोप उवोढ। ऊहे। वोढा। लघूपधगुण ढत्व धत्व ष्टुत्व ढलोप हुआ। वक्ष्यति। षढोः कःसि। अवह् स् ईत् वृद्धि ढत्वादि अवाक्षीत्। आत्मनेपद में सिच् का लोप ढत्वादि अवोढ।

वस् धातु निवास में है। स्वयं निवास कार्य करे वहां प्रयुक्त है—यत्र स्वयं वसति स निवासः। वसति कमलेशः काश्याम् अध्ययनाय। लिट् में उवास।

२४११ शासिवसिघसीनाञ्च ८।३।६०।

इण् कुभ्यां परस्यैषां सस्य षः स्यात्। ऊषतुः। ऊषुः। उवसिथ। उवस्थ। वस्ता। सः स्यार्धधातुके। वत्स्यति। उष्यात्। अवात्सीन्। अवात्ताम्। १२। वेञ् तन्तुसन्ताने। वयति। वयते।

इण् या कवर्ग से पर शास् वस् घस् इनके सकार के स्थान में षकार आदेश होता है। यथा ऊषतुः, ऊषुः। अकारवान् को थल् में इट् विकल्प से रूप द्वय हुए। वत्स्यति में सकार को तकारादेश हुआ है। वेञ् धातु बीनना अर्थ में है। वयति। वयते। तन्तुवायो वस्त्रं वयति।

२४१२ वेञो वयिः २।४।४१।

वा स्याल्लिटि। इकार उच्चारणार्थः। उवाय।

लिट् पर रहते वेञ् के स्थान में वयि आदेश होता है। वयि जो आदेश है उसमें इकार केवल उच्चारणमात्रफलक है। वेञ् को वय् से द्वित्वकर सम्प्रसारण पूर्वरूप उपधा वृद्धि से 'उवाय' रूप हुआ।

२४१३ ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च ६।१।१६।

एषां किति ङिति च सम्प्रसारणं स्यात् । यकारस्य प्राप्ते—

कित् एवं ङित् प्रत्यय पर में रहते ग्रह्, ज्या, वय व्यध, विच् वृश्च, प्रच्छ, भ्रस्ज, इन धातुओं के अवयव यण् वर्ण को संम्प्रसारण संज्ञक इक् होता है। इस सूत्र से यकार के स्थान में इकाररूप सम्प्रसारणसंज्ञा भावी वर्ण प्राप्त हुआ किन्तु न हुआ।

२४१४ लिटि वयो यः ६।१।३८।

वयो यस्य सम्प्रसारणं न स्यात् लिटि । ऊयतुः । ऊयुः ।

वय के यकार को सम्प्रसारण नहीं होता है। अतः पूर्वसूत्र से प्राप्त सम्प्रसारण का इसने अपवाद किया।

२४१५ वश्चान्यतरस्यां किति ६।१।३९।

वयो यस्य वो वा स्यात् किति लिटि । ऊवतुः । ऊवुः । वयस्तासावभावात् थलि नित्यमिट् । उवयिथ । स्थानिवद्भावेन ञित्त्वात् तङ् । ऊये । ऊवे । वयादेशाभावे ।

कित् लिट् पर रहते वय् का अवयव यकार के स्थान में व आदेश विकल्प से होता है। ऊवतुः । वय् आदेश वेञ् को केवल लिट् में ही होता है, लुट् में नहीं। अतः तास् में नित्य यह अनिट् न होने से 'उपदेशेऽत्वतः' की अप्रवृत्ति से थल् में नित्य इट् आगम हुआ। उवयिथ। वेञ् वृत्ति ञित्व स्थानिवद्भाव से वयादेश में अतिदिष्ट करके आत्मनेपदित्व, वय् के यकार को व आदेश विकल्प से ऊये, ऊवे रूपद्वय लिट् आत्मनेपद मे हुए। वय आदेश वैकल्पिक है। उसके अभाव में रूपसिद्धि के लिए सूत्र कहते हैं—

२४१६ वेञः ६।१।४०।

वेञो न सम्प्रसारणं स्याल्लिटि । ववौ । ववतुः । ववुः । वविथ । ववाथ । ववे । वाता । ऊयात् । वासीष्ट । अवासीत् । १३ । व्येञ् संवरणे । व्ययति । व्ययते ।

लिट् पर रहते वेञ् के वकार को सम्प्रसारण नहीं होता है। ववौ । वादित्वप्रयुक्त एत्वाभ्यास-लोप न हुआ ववतुः । व्येञ संवरण में है। व्ययति । आत्मनेपद में व्ययते ।

२४१७ न व्यो लिटि ६।१।४६।

व्येञ आत्वं न स्यात् लिटि । वृद्धिः । परमपि हलादिशेषं बाधित्वा यस्य सम्प्रसारणम्, उभयेषां ग्रहणसामर्थ्यात् । अन्यथा वच्यादीनां ग्रह्यादीनां चानुवृत्यैव सिद्धे किन्तेन ? विव्याय । विव्यतुः । विव्युः । इडत्त्यर्तीति नित्य-मिट् । विव्ययिथ । विव्याय । विव्यय । विव्ये । व्याता । वीयात् । व्यासीष्ट । अव्यासीत् । अव्यास्त । १४ । ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च ।

लिट् पर रहते व्येञ् को आकारादेश नहीं होता है। द्वित्वोत्तर अभ्याससंज्ञा के अनन्तर सम्प्रसारण एवं हलादिशेष दोनों की एक समय प्राप्ति है, परत्व के कारण हलादिशेष की प्राप्ति है, किन्तु "सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्" यह 'उभयेषाम्' से ज्ञापन कर चुके हैं, अन्यथा, 'लिट्यभ्यासस्य' इतना ही सूत्र कर उसमें वच्यादि एवं ग्रह्यादि की अनुवृत्ति ही करते उभयेषां ग्रहण व्यर्थ ही है। विव्याय। थल् में इट् हुआ। ह्वेञ् धातु स्पर्धा एवं शब्द में है।

२४१८ अभ्यस्तस्य च ६।१।३३।

अभ्यस्तीभविष्यतो ह्वेञः सम्प्रसारणं स्यात्। ततो द्वित्वम्। जुहाव। जुहुवतुः। जुहुवुः। जुहविथ। जुहुवे। ह्वाता। हूयात्। ह्वासीष्ट।

जिसकी अभ्यस्त संज्ञा भाविनी है ऐसा जो ह्वेञ् उसका अवयव जो यणप्रत्याहारबोध्य वर्ण उसके स्थान में इक्पदबोध्य वर्ण भविष्यत् सम्प्रसारणसंज्ञक होता है। अतः द्वित्व के प्रथम सम्प्रसारण, पूर्वरूप कर 'हु' का लिट् में द्वित्व से जुहाव।

२४१९ लिपिसिचिह्वश्च ३।१।५३।

एभ्यश्च्लेरङ् स्यात्।

लिप्, सिच् एवं ह्वेञ् से पर च्लि को अङ् आदेश होता है।

२४२० आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ३।१।५४।

आतो लोपः। अह्वत। अह्वताम्। अह्वन्। अह्वत। अह्वास्त। १५।

अथ द्वौ परस्मैपदिनौ। वद व्यक्तायां वाचि। अच्छं वदति। उवाद। ऊदतुः। उवदिथ। वदिता। उद्यात्। वदव्रजेति वृद्धिः। अवादीत्। १।

टुओश्वि गतिवृद्ध्योः। श्वयति।

आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्यय पर में रहते लिप्, सिच्, ह्वेञ् इनसे पर च्लि को अङ् विकल्प से होता है। अङ् पर रहते 'आतो लोपः' से आकार का लोप हुआ। अब परस्मैपदी दो धातु हैं। स्पष्टशब्दजनकव्यापार अर्थ में वद धातु है। टुओश्वि धातु गति में एवं वृद्धि में अर्थात् उनके जनक व्यापार में है। 'श्वि' मात्र अवशिष्ट रहता है।

२४२१ विभाषा श्वेः ६।१।३०।

श्वयतेः सम्प्रसारणं वा स्याल्लिटि यङि च। शुशाव। शुशुवतुः। श्वयते। लिट्यभ्यासलक्षणप्रतिषेधः। तेन लिट्यभ्यासस्येति सम्प्रसारणं न। शिश्वाय। शिश्वियतुः। श्वयिता। श्वयेत्। शूयात्। जृस्तम्भ्वित्यङ् वा।

लिट् एवं यङ् प्रत्यय पर में रहते श्वि धातु को विकल्प से सम्प्रसारण होता है। तदवयव यण् को इक् सम्प्रसारण विकल्प से हुआ। प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। लिट् में अभ्यास को पूर्व सूत्र से प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध कर पित् लिट् एवं कित् लिट् उभयत्र अप्राप्त सम्प्रसारण को विकल्प से यह करता है। 'नवेति विभाषा' से 'विभाषा' संज्ञा को यहां दिखाकर निषेध एवं विकल्प की उपस्थिति हुई है। कित् लिट् में तो अप्राप्त प्रथम सम्प्रसारण था। वहां

९ वै० सि० तृ०

निषेध का अन्वय व्यर्थ है, पित् लिट् में ही निषेध का सम्बन्ध है। 'वा' के अर्थ विकल्प का उभयत्र सम्बन्ध है। लुङ् में 'जॄस्तम्भु' से च्लि को अङ् विकल्प करके हुआ।

२४२२ श्वयतेरः ७।४।१८।

श्वयतेरिकारस्य अकारः स्यादङि। पररूपम्। अश्वत्। अश्वताम्। अश्वन्। विभाषा धेट्श्व्योरिति चङ्। इयङ्, अशिश्वियत्। ह्म्यन्तेति न वृद्धिः। अश्वयीत्। २ वृत्। यजादयो वृत्ताः। भ्वादिराकृतिगणः। तेन चुलुम्पतीत्यादिसंग्रहः।

इति भ्वादयः।

अङ् पर रहते श्वि धातु के अवयव इकार के स्थान में आकार आदेश होता है। पररूप 'अतो गुणे' से करके 'अश्वत्'। पक्ष में विकल्प से च्लि को चङ् आदेश हुआ। चङि से द्वित्व। अशिश्वियत्। पक्ष में वृद्धि का अभाव यकारान्तत्वप्रयुक्त हुआ। अश्वयीत्। यजादि समाप्त हैं। भ्वादि तो आकृति गण है। इस कारण 'चुलुम्प' लोप 'चुलुम्पति' इस कविकल्पद्रुम में उक्त प्रयोग की सिद्धि हुई।

पं० श्री बालकृष्ण पञ्चोलि विरचित सविमर्शा रत्नप्रभा में भ्वादि प्रकरण समाप्त।



अथादादिप्रकरणम्

२४२३ ऋतेरीयङ् ३।१।२९।

ऋतिः सौत्रस्तस्मादीयङ् स्यात् स्वार्थे। जुगुप्सायामयं धातुरिति बहवः। कृपायां चेत्येके। सनाद्यन्ता इति धातुत्वम्। ऋतीयते। ऋतीयाञ्चक्रे। आर्धधातुकविवक्षायाम् तु 'आयादय आर्धधातुके वा' इतीयङभावे शेषात् कर्तरीति परस्मैपदम्। आनर्त। अर्तिष्यति। आर्तीत्। १।

'ऋति' यह सूत्र में पठित धातु है, धातुपाठ में इसका प्राचीन समय में पाठ था। किन्तु लेखक की असावधानी से वह छूट गया है धातुपाठ में—ऐसा सौत्र धातुओं के विषय में अनुमान करना चाहिये।

ऋति धातु से स्वार्थ में ईयङ् होता है। "अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति" न्याय से ऋतीय की 'सनाद्यन्ताः' से धातुसंज्ञा हुई। कोई इस धातु का निन्दा में प्रयोग करते है। कोई कृपा में। आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में ईयङ् विकल्प से होता है। जहां ईयङ् नहीं वहाँ परस्मैपद से लिट् में आनर्त। लुङ् में आर्तीत्।

अद भक्षणे। द्वौ परस्मैपदिनौ।

अद धातु भक्षण में है। दो धातु परस्मैपदी हैं। गले में जो दो बिल है उसके नीचे खाद्य पदार्थ को ले जाने के व्यापार को भक्षण कहते है—गलबिलाधःसंयोगानुकूलो व्यापारो भक्षणम्।

२४२४ अदिप्रभृतिभ्यः शपः।२।४।७२।

लुक् स्यात्। अत्ति। अत्तः। अदन्ति।

अदादिगण में पठित धातुओं के उत्तर शप् विकरण का लुक् = अदर्शन होता है। 'खरि च' से चर्व से दकार का तकारादेश हुआ। अत्ति। अत्तः। झि के झ को अन्त आदेश अदन्ति। कर्तरि शप् से विहित शप् का लुक् विधायक यह सूत्र है। इस प्रकरण के धातु लुग्विकरणी कहे जाते हैं। अत्सि। अत्थः। अत्थ। अद्मि। अद्वः। अद्मः।

२४२५ लिट्यन्यतरस्याम् २।४।४०।

अदो घस्लृ वा स्याल्लिटि। जघास। गमहनेत्युपधालोपः। तस्य चर्विधिं प्रति स्थानिवद्भावनिषेधाद् घस्य चर्त्वम्। शासिवसीति षत्वम्। जक्षतुः। जक्षुः। घसेस्तासावभावात् थलि नित्यमिट्। जघसिथ। आद। आदतुः। इडत्यर्तीति नित्यमिट्। आदिथ। अत्ता। अत्स्यति।

लिट् पर रहते अद् के स्थान में विकल्प से घस्लृ आदेश होता है। अद् लिट् घस्लृ आदेश, तिप् णल् (अ) द्वित्वादि 'अत उपधायाः' से वृद्धि जघास। जघस् अतुस् यहां उपधास्थ अकार का लोप चर्व में स्थानिवद्भावनिषेध 'न पदान्त' से हुआ, सकार को 'शासि' सूत्र से षकार जक्षतुः।

घस् का लुट् में तास् पूर्वक प्रयोगाभाव से 'उपदेशे त्वतः' की अप्रवृत्ति से थल् में नित्य इट् आगम हुआ—जघसिथ। थल्विकल्प पक्ष में आद, आदिथ आदि रूप हुए।

२४२६ हुझल्भ्यो हेर्धिः ६।४।१०१।

होर्झलन्तेभ्यश्च हेर्धिः स्यात्। अद्धि। अत्तात्। अदानि।

हु धातु एवं झलन्त धातु से पर हि के स्थान में धि आदेश होता है। अद् हि-अद्धि। तातङ् पक्ष में अत्तात्।

२४२७ अदः सर्वेषाम् ७।३।१००।

अदः परस्यापृक्तसार्वधातुकस्याडागमः स्यात् सर्वमतेन। आदत्। आत्ताम्। आदन्। आदः। आत्तम्। आत्त। आदम्। आद्व। आद्म। अद्यात्। अद्याताम्। अद्युः। अद्यात्। अद्यास्ताम्। अद्यासुः।

अद् धातु से पर अपृक्तसंज्ञक सार्वधातुक प्रत्यय को अट् आगम होता है सभी आचार्यों के मत से। 'आद्यन्तौ' सूत्र के सहकार से तकार के पूर्व अट् आगम हुआ। 'आ अद् अत्' 'आटश्च' से वृद्धि, सम्मेलन, आदत्।

२४२८ लुङ्सनोर्घस्लृ २।४।३७।

अदो घस्लृ आदेशः स्यात् लुङि सनि च। लृदित्त्वादङ्। अघसत्॥ २॥

हन हिंसागत्योः। प्रणिहन्ति।

अद के स्थान में घस्लृ आदेश होता है लुङ् में या सन में। 'लृ' की इत्संज्ञा से लुङ् में च्लि को पुषादि सूत्र से अङ् अघसत्। हन् धातु हिंसा में एवं गति में है। प्राणवियोगानुकूलो व्यापारो हिंसा। संयोगजनकव्यापारो गतिः। प्रणिहन्ति में 'नेर्गद' से णकारादेश नकार के स्थान में हुआ।

२४२९ अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ६।४।३७।

अनुनासिकेति लुप्तषष्ठीकं वनतीतरेषां विशेषणम्। अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्याज्झलादौ क्ङिति परे।

यमि-रमि-नमि-गमि-मन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः। तनु-क्षणु-क्षिणु-ऋणु-तृणु-घृणु-मनु-तनोत्यादयः। हतः। घ्नन्ति।

झलादि कित या ङित प्रत्यय पर रहते अनुनासिकान्त तनु आदि धातुओं के एवं वन के अन्त वर्ण का लोप होता है। सूत्र में 'अनुनासिक' शब्द से षष्ठी विभक्ति थी उसका लोप "सुपां सुलुक्" से हुआ है। समास षष्ठ्यन्त अनुनासिक शब्द का प्रथमान्त लोप-शब्द से नहीं है क्योंकि अनुनासिक पदार्थ धातुओं में सापेक्ष है, "सापेक्षम् असमर्थवत्" यहां एकार्थीभावलक्षण सामर्थ्याभावप्रयुक्त समास की अप्राप्ति है। 'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणम् अर्थवत्' इस न्याय से अनुनासिक 'वन्' से इतर तन् आदि धातुओं का ही विशेषण है।

यहां अनुनासिकान्तत्व का सम्भव एवं उसका अभाव भी है। वन् में तो सम्भव ही सम्भव है। अतः उसका विशेषण नहीं है। 'शीतं जलम्' 'उष्णम् अग्निरुआनय' यहां जल में शीतविशेषण व्यर्थ है। स्वभावतः शीतस्पर्शयुक्त जल है। एवं अग्नि में उष्ण विशेषण व्यर्थ है। उसमें प्राकृतिक उष्णत्व गुण विद्यमान ही है। तथैव यहां भी समझना चाहिये।

धातुनिर्देश में इक् या श्तिप् का निर्देश करना आचार्यशैली है। अतः यमि आदि कहा है। यम् रम् नम् गम् तथा मन् ये धातुगण अनुदात्तोपदेश हैं। तनु, क्षणु, क्षिणु, ऋणु, तृणु, घृणु, वनु, मनु ये तनोत्यादि हैं।

हन्, लट्, तस्, शप्, लुक्, नकार का लोप हतः। हन् झि अन्तादेश कर 'गमहन' से उपधालोप कर अकार का लोप का यद्यपि स्थानिवद्भाव से कुत्वाभाव प्राप्त था, किन्तु 'हो हन्तेः' से नकार पर रहते हन् के हकार के कुत्वविधान सामर्थ्य से अकारलोप का स्थानिवद्भाव न हुआ, कुत्व कर घ्नन्ति। हंसि यहां 'नश्चापदान्तस्य'से अनुस्वार। हथः। हथ। हन्मि। हन्वः। हन्मः।

२४३० वमोर्वा ८।४।२३।

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य हन्तेर्नस्य णो वा स्याद् वमयोः परयोः। प्रहण्मि। प्रहन्मि। प्रहण्वः। प्रहन्वः। हो हन्तेरिति कुत्वम्। जघान। जघ्नतुः। जघ्नुः।

उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर (रेफ के बाद) हन् के नकार को णकारादेश व एवं म पर रहते विकल्प से होता है। लिट् में णित् प्रत्यय णल् के अकार के परे कुत्व होता है हकार को घकार जघान। जघन् अतुस् अकार का 'गमहन' से लोप जघ्नतुः। जघ्नुः।

२४३१ अभ्यासाच्च ७।३।५५।

अभ्यासात् परस्य हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात्। जघनिथ। जघन्थ। हन्ता। ऋद्धनोरितीट्, हनिष्यति। हन्तु, हतात्। घ्नन्तु।

अभ्याससंज्ञक शब्द स्वरूप से पर हन् धातु के हकार के स्थान में कुत्व होता है। अर्थात् हकार को घकारादेश हुआ। भारद्वाजमुनिमत में इट् जघनिथ। 'उपदशे त्वतः' के मत में जघन्थ। लृट् में 'ऋद्धनोः' से 'स्य' को इट् आगम से हनिष्यति। लोट् में 'एरुः' हन्तु, तातङ् पक्ष में नकार-लोप से हतात्। बहुवचन में उपधास्थ अकारलोप, कुत्व घ्नन्तु।

२४३२ हन्तेर्जः ६।४।३६।

हौ परे। आभीयतया जस्यासिद्धत्वाद्धेर्न लुक्। जहि। हनानि। हनाव। हनाम। अहन्। अहताम्। अघ्नन्। अहनम्।

हन् धातु के स्थान में हि पर रहते ज आदेश होता है। 'असिद्धवदत्राभात्' से 'अतो हेः' सूत्र से हि का लुक् करने पर जात आभीय ज आदेश असिद्ध है। जहि। वस्तुतस्तु 'असिद्धवदत्राभात्' सूत्र का खण्डन हीं है, उस पक्ष में समाधान यहां यह है—'अतो हेः' सूत्र में "प्रत्ययाप्रत्ययग्रोर्मध्ये प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्" परिभाषा से अकार प्रत्यय का ही ग्रहण करना चाहिये, यथा 'मत' यहां शप् के अकारोत्तर हि का लुक् हुआ। इस पक्ष में यहीं लोप प्राप्त हो नहीं है। जहि। लङ् में 'अनुट्'

यहां अधातुनिषेधप्रयुक्त प्रातिपदिकत्व का अभाव से स्वादि प्रत्यय की अनुत्पत्ति से पदत्वाभाव-प्रयुक्त नलोप का अभाव हुआ ।

२४३३ आर्धधातुके २।४।३५।

इत्यधिकृत्य ।

यह अधिकार सूत्र है । उत्तर सूत्र में यह बोधन करेगा कि वक्ष्यमाण कार्य आर्धधातुक के विषय में करना । 'अधिकृत्य आचार्य आह—'हनो' इति' । अतः क्रियाद्वय का एक कर्ता है एवं अधिकाररूपा क्रिया में पूर्वकालोद्भवत्व है क्त्वा, गतिसमास ल्यप् तुक् 'अधिकृत्य' हुआ ।

२४३४ हनो वध लिङि २।४।४२।

आर्धधातुक लिङ् पर रहते हन् के स्थान में वध आदेश होता है ।

२४३५ लुङि च २।४।४३।

वधादेशोऽदन्तः । 'आर्धधातुके' इति विषयसप्तमी । तेनार्धधातुकोपदेशे अकारान्तत्वादतो लोपः । वध्यात् । वध्यास्ताम् । आर्धधातुके किम् ? विध्यादौ हन्यात् । हन्तेरिति णत्वम्-प्रहण्यात् । अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वादतो हलादेरिति न वृद्धिः । अवधीत् । २ ।

अथ चत्वारः स्वरितेतः । द्विष अप्रीतौ । द्वेष्टि । द्विष्टे । द्वेष्टा । द्वेक्ष्यति । द्वेक्ष्यते । द्वेष्टु । द्विष्टाम् । द्विड्ढि । द्वेषाणि । द्वेषै । द्वेषावहै । अद्वेट् ।

लुङ् में हन् को वध अकारान्त आदेश होता है । अधिकारतः प्राप्त 'आर्धधातुके' में विषयस्वरूप आधार में सप्तमी है, औपश्लेषिक आधार में नहीं, अतः 'तस्मिन्' परिभाषा का यहां अविषय है । अतः प्रकृत में वध आदेश अनैमित्तक होने से आर्धधातुक् प्रत्यय की उत्पत्ति के पूर्व ही होता है । अतः आशीर्लिङ् में वधादेश कर अतो लोपः से लोप होकर वध्यात् रूप हुआ । विधिलिङ् में आर्धधातुकप्रत्यय का विषय भविष्यत्काल में भी सम्भव नहीं है अतः वहां वधादेशाभाव से 'हन्यात्'। 'प्रहण्यात्' यहां 'हन्तेः' सूत्र से नकार को णकारादेश हुआ । अवधीत् यहां अकार के लोप को स्थानिवद्भाव से 'अतो हलादेः' से वृद्धि की अप्राप्ति हुई ।

अब चार वक्ष्यमाण धातु स्वर की इत्संज्ञा से युक्त हैं, उभयपद होंगे । द्विष धातु प्रीतिजनक-व्यापार के अभाव में है । प्रीति नैयायिक मत में समवाय सम्बन्ध से आत्मनिष्ठ है, अन्य दार्शनिक-मत से अन्तःकरणनिष्ठ है । षत्व से द्वेष्टि । द्विष्टे । दिद्वेष । दिद्विषे । द्वेष्टा । द्वेक्ष्यति—यहां 'षढोः कः सि' । द्विष् हि, धत्व जश्त्व, ष्टुत्व से द्विड्ढि' ।

२४३६ द्विषश्च ३।४।११२।

लङो झेर्जुस् वा स्यात् । अद्विषुः । अद्विषन् । अद्वेषम् । द्विष्यात् । द्विषीत । द्विक्षीष्ट । अद्विक्षत् । १ ।

द्विष् धातु से पर लङ् के स्थान में जायमान जो झि उसके स्थान में जुस् आदेश विकल्प से होता है । यथा—अद्विषुः । पक्ष में संयोगान्तलोप अद्विषन् । लुङ् में च्लि को क्सादेश हुआ है ।

दुह प्रपूरणे। दोग्धि। दुग्धः। धोक्षि। दुग्धे। धुक्षे। धुग्ध्वे। दोग्धु। दुग्धि। दोहानि। धुक्ष्व। दुग्ध्वम्। दोहै। अधोक्। अदोहम्। अदुग्ध। अधुग्ध्वम्। अधुक्षत्। अधुक्षत। लुग्वा दुहेति लुक्पक्षे तथास्ध्वंवहिषु लङ्वदपि। २। दिह उपचये। प्रणिदेग्धि। ३।

लिह आस्वादने। लेढि। लीढः। लिहन्ति। लेक्षि। लीढे। लिक्षे। लीढ्ढ्वे। लेढु। लीढि। लेहानि। अलेट्। अलीढ। अलिक्षत्। अलिक्षाताम्। अलिक्षत। अलीढ। अलिक्षत्। अलिक्षाताम्। अलिक्षत। अलीढ। अलिक्षावहि। अलिह्वहि। ४।

चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि। अयं दर्शनेऽपि। इकारोऽनुदात्तो युजर्थः। "विचक्षणः प्रथयन्"। नुम् तु न, अन्तेदित् इति व्याख्यानात्। ङकारस्तु अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तमात्मनेपदमनित्यमिति ज्ञापनार्थः। तेन 'स्फायन् निर्मोकसन्धि' इत्यादि सिध्यति। चष्टे। चक्षाते। 'आर्धधातुके' इत्यधिकृत्य।

दुह धातु प्रपूरण अर्थ में है, अन्तःस्थित द्रव द्रव्य विभाग जनक व्यापार रूपार्थक है। गौ आदि के भीतर में वहनशील दुग्धपदार्थ है उसको उससे अलग कर हस्त चालनरूप व्यापार दुह् का अर्थ है। गोपो गां पयो दोग्धि। यहां दुह् धातु द्विकर्मक है, 'पयः' मुख्यकर्म 'कर्तुरीप्सिततमम्' से है, 'अकथितञ्च' से अपादानत्वेन अविवक्षित गोरूपकारक गौणकर्म है। कोई यहां यह भी अर्थ करता है कि गाय दूध को अपने से अलग करती है, गाय से भीतर पृथक् किया हुआ दूध को ग्वाला बाहर निकालता है।

गौः पयः त्यजति, गोपस्त्याजयति।

"द्रवद्द्रव्यविभागानुकूलव्यापारानुकूलव्यापारार्थकोऽत्र दुह्"।

'दुह्' से लट् तिप्, शप्, लुक् सार्वधातुकसंज्ञा, लघूपधगुण कर "दादेर्धातोर्घः' से घकार आदेश हकार को हुआ है। 'झषः' से तकार को धकारादेश, जश्त्व से घकार को गकारादेश दोग्धि। 'धोक्षि' में षत्व भष्भाव जश्त्व चर्त्व। आत्मनेपद में दुग्धे। दुग्धि में 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से धि आदेश है। 'अधुक्षत्' यहां 'शल इगुपधात्' से क्सादेश हुआ। अधुक्षत। आत्मनेपद लुङ् में त थास् ध्वं वहि में क्स का विकल्प से लोप 'लुग्वा' सूत्र से हुआ है। अदुग्ध, अधोक्षत आदि।

दिह उपचय में है। वृद्धि को उपचय कहते है। 'प्रणिदेग्धि' यहां 'नेर्गद' से णकार हुआ। दुह के समान प्रायः इसके रुप हैं। देग्धि। दिग्धे। दिदेह। दिदिहे। देग्धा। देग्धा। धेक्ष्यति। धेक्ष्यते। देग्धु। दिग्धाम्। अधेक्। अदिग्ध। लुङ् में अधिक्षत्। अधिक्षत।

लिह् धातु आस्वादन अर्थ में है। लट् में लघूपधगुण ढत्व धत्व ष्टुत्व ढलोप से लेढि। लीढः, यहां ढ्लोपे से इकार को दीर्घ हुआ है। लेक्षि में ढकार को ककारादेश। 'अलिक्षत' लुङ् में च्लि को क्सादेश हुआ है। आत्मनेपद में त थास् ध्वं वहि में क्स का विकल्प से लोप हुआ।

चक्षिङ् व्यक्त वचन में है। यह धातु दर्शन में भी है। धातुघटक इकार अनुदात्त है। इसका प्रयोजन 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' से युच् प्रत्यय है। उदाहरण—'विचक्षणः प्रथयन्' है। प्रथयन् का अर्थ विस्तारकर्ता है। स्पष्टशब्दकर्मक विस्तारकर्ता वाक्यार्थ है। यहां इकार इत्संज्ञक धातु होने से भी नुम् 'इदितो नुम् धातोः' से न हुआ। क्योंकि उस सूत्र के व्याख्यान के

समय यह कहा जा चुका है कि जहाँ ह्रस्व इकार अन्त में इत्संज्ञा युक्त रहे वहां ही नुम् आगम धातु को होता है, वह अन्त्याच् से पर एवं धात्ववयव होता है। प्रकृत में अन्त्येत् इकार नहीं है। ङकार की इत् संज्ञा यहां है। वह ङित्त्व प्रयुक्त आत्मनेपद विधानार्थ है।

यहां अनुदात्त इकार लक्षण आत्मनेपद होता पुनः ङकार यहां क्यों किया, वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अनुदात्तेत्वलक्षण आत्मनेपद अनित्य है, यदि ङकार अन्त्य इदित् की व्यावृत्ति के लिए ही होता तो अनुदात्त इकारानुबन्ध घटित धातु चक्षङ् करते या 'चक्ष' करते। अतः नुम् की अप्रवृत्ति के लिए ङकार है यह कथन असङ्गत है।

ज्ञापकफल लट् को शानच् न होकर शतृ हुआ—स्फायन् यहां स्फायी धातु वृद्धि अर्थ-बोधक अनुदात्तेत है, तो भी लट् को शानच् न होकर शतृ हुआ। चष्टे यहां संयोगादि ककार का 'स्कोः' से लोप हुआ। चष्टे।

'आर्धधातुके' का अधिकार करके—

२४३७ चक्षिङः ख्याञ् २।४।५४।

आर्धधातुक के विषय में चक्ष के स्थान में ख्याञ् आदेश होता है।

२४३८ वा लिटि २।४।५५।

लिट् परमें रहते चक्ष धातु के स्थान में ख्याञ् आदेश विकल्प से होता है।

अत्र भाष्ये ख्शादिरयमादेशः। असिद्धकाण्डे शस्य यो वेति स्थितम्। ञित्त्वात् पदद्वयम्। चख्यौ। चख्ये। चक्शौ। चक्शे। 'चयो द्वितीया' इति तु न, चर्त्वस्यासिद्धत्वात्। चचक्षे। ख्याता। क्शाता। ख्यास्यति। ख्यास्यते। क्शास्यति। क्शास्यते। अचष्ट। चक्षीत। ख्यायात्। ख्येयात्। क्शायात्। क्शेयात्।

'ख्याञ्' आदेश को भाष्य में 'ख्शाञ्' माना है। एवं असिद्धकाण्ड में स्थित 'शस्य यो वा' वचन से शकार को यकारादेश विकल्प से होता है। ञकार की इत्संज्ञा प्रयुक्त 'स्वरित' सूत्र से उभयपद होता है, क्रियाजन्य फल कर्तृगामि रहे तो आत्मनेपद। परगामि फल रहे वहां परस्मैपद होता है। चख्यौ। चख्ये। पक्ष में चक्शौ। चक्शे। चर्त्व के असिद्धत्व के कारण यहां 'चयो द्वितीया' की प्रवृत्ति न हुई। 'अचष्ट' 'स्कोः' से कलोप। ष्टुत्व। वान्यस्य से विकल्प से एत्व से ख्येयात्। ख्यायात्। क्शायात्। क्शेयात्।

विमर्श—ख्शादि का प्रयोजन—पुंख्यानम् यहां रुत्वाभाव। 'पुमः खय्यम्परे' न हुआ। 'पर्याख्यानम्' में शकारव्यवधानप्रयुक्त 'कृत्यचः' से णत्वाभाव हुआ। 'सौपुंख्यीयः' यहां यकार के असिद्ध होने से 'धन्वयोपधात्' से वुञ् न हुआ, किन्तु छप्रत्यय ही हुआ। असिद्धकाण्ड में णत्व-प्रकरण में 'शस्य यो वा' पठित है।

२४३९ अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् ३।१।५२।

एभ्यश्च्लेरङ्। अख्यत्। अख्यत। अक्शासीत्। अक्शास्त। ॐ वर्जने ख्शाञ् नेष्टः ॐ। समचक्षिष्ट इत्यादि। ५।

अस् धातु वच् धातु एवं ख्याधातु से पर स्थित च्लि को अङ् आदेश होता है। आकारलोप से अख्यत। अख्यत। अक्शासीत्।

अङ् विधायक सूत्र में 'ख्या' ग्रहण से अङ् विधान में शकार को विधीयमान यकारादेश असिद्ध नहीं होता। अन्यथा अङ् विधान में कृत 'ख्या' ग्रहण व्यर्थ होता। स्वतन्त्र 'ख्या प्रकथने' के लिए ख्याग्रहण अङ् विधायक में नहीं है। वह तो सार्वधातुकमात्रविषयक ही है। आर्धधातुक में प्रकथनार्थ 'ख्या' का प्रयोग ही नहीं होता है। आत्मनेपद में पुषादित्व प्रयुक्त ख्या को अङ् नहीं होता है अतः तङ् के लिए च्लि को यह अङ् विधान 'ख्या' ग्रहण से है यह बाद में कहा जायगा।

यहां वचि में वच पद से 'ब्रुवो वचिः' एवं 'वच परिभाषणे' उभय का ग्रहण है।

वर्जन अर्थ में ख्शाञ् इष्ट इसको नहीं हैं। समवचख्शिष्ट = वह भूतकाल में वर्जन कर चुका था यह अर्थ है।

अथ पृच्यन्ता अनुदात्तेतः। ईर गतौ कम्पने च। ईर्ते। ईराञ्चक्रे। ईर्ताम्। ईर्ष्व। ईर्ध्वम्। ऐरिष्ट। १। ईड स्तुतौ। ईट्टे।

अब पृच् है अन्त में जिनके ऐसे धातुओं का कथन है।

ईर गति में एवं कम्पन मे है। ईड स्तुति में है। उत्कर्षगुणबोधनम् = स्तुतिः।

२४४० ईशः से ७।२।७७।

२४४१ ईडजनोर्ध्वे च ७।२।७८।

ईशीड्जनां सेध्वेशब्दयोः सार्वधातुकयोरिट् स्यात्। योगविभागो वैचित्र्यार्थः। ईडिषे। ईडिध्वे। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्। ईडिष्व। ईडिध्वम्। विकृतिग्रहणेन प्रकृतेरग्रहणात् ऐड्ढ्वम्। ईश ऐश्वर्ये। ईष्टे। ईशिषे। ईशिध्वे।

ईश ईड जन इन धातुओं से उत्तर सार्वधातुक 'से' एवं 'ध्वे' इनको इट् का आगम होता है। यहां योगविभाग अर्थात् भिन्नसूत्रकरण विचित्रतारूप अर्थबोधक है। विचित्रता यह है कि पूर्व सूत्र से 'से' की अनुवृत्ति उत्तर सूत्र में है। एवं उत्तर सूत्र से 'ध्वे' की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र में है। यद्यपि पूर्व से उत्तर में अनुवृत्ति तो न्यायतः होती है, उसमें विचित्रता नहीं है, किन्तु उत्तर से पूर्व में अनुवृत्ति करना यही विलक्षणता प्रकृत में है। 'ईडिष्व' में 'से' नहीं है किन्तु एकदेशविकृत अन्यप्रतियोगिक सादृश्यवत् जब नहीं है तो अन्य होना यह तो नहीं हो सकता है अर्थात् अनन्यवत् = स्ववत् ही है अतः यहां भी 'से' मानकर इट् आगम हुआ। 'ऐड्ढ्वम्' यहां विकृति ग्रहण से प्रकृति का ग्रहण न हुआ अतः 'ध्वे' नहीं इट् का अभाव ही हुआ।

ईश धातु स्वामिस्वरूप अर्थप्रत्यायक है। ईशिषे। ईशिध्वे। यहां उभयत्र इडागम हुआ।

आस उपवेशने। आस्ते। दयायासश्च-आसांचक्रे। आस्स्व। आध्वम्। आसिष्ट। ४। आङः शासु इच्छायाम्। आशास्ते। आशासाते। आङ्पूर्वत्वं प्रायिकम्। तेन "नमोवाकं प्रशास्महे" इति सिद्धम्। ५। वस आच्छादने। वस्ते। वस्से। वध्वे। ववसे। वसिता। ६।

कसि गतिशासनयोः। कंस्ते। कंसाते। कंसते। अयमनिदिदित्येके। कस्ते। तालव्यान्तोऽनिदित्। कष्टे। कशाते। कड्ढ्वे। ७। णिसि चुम्बने। निंस्ते। दन्त्यान्तोऽयम्। आभरणकारस्तु तालव्यान्त इति बभ्राम। ८। णिजि शुद्धौ। निङ्क्ते। निङ्क्ते। निञ्जिता। ९। शिजि अव्यक्ते शब्दे। शिंक्ते। १०। पिजि वर्णे। सम्पर्चने इत्येके। उभयत्रेत्यन्ये। अवयवे इत्यपरे। अव्यक्ते शब्दे इतीतरे। पिङ्क्ते। ११।

पृजीत्येके। पृङ्क्ते। १२। वृजी वर्जने। दन्त्योष्ठ्यादिः। ईदित्। वृक्ते। वृजाते। वृक्ते। इदिदित्यन्ये। वृङ्क्ते। १३। पृची सम्पर्चने। पृक्ते। १४। षूङ् प्राणिगर्भविमोचने। सूते। सुषुवे। सविता। सोता। भूसुवोरिति गुणनिषेधः। सुवै। सविषीष्ट। सोषीष्ट। असविष्ट। असोष्ट। १५।

शीङ् स्वप्ने।

आस् धातु उपवेशन = बैठना अर्थ में है। आस्ते = तिष्ठति। लिट् में 'दयायासश्च' से आम् प्रत्यय तदन्त से लिट्परक कृञ् का अनुप्रयोग है। आसाञ्चक्रे। आङ्पूर्वक शासु इच्छाजनक व्यापार में है। आङ्पूर्वक यह धातु प्रायः है। नमस्कार हमलोग करते हैं इस अर्थ में 'नमोवाकं प्रशास्महे' यहां प्रपूर्वक शास् है। आच्छादन में वस् धातु है। कसि धातु गति में, शासन में है। नुम् अनुस्वार परसवर्ण। कोई यह इदित् नहीं ऐसा कहते हैं। तालव्य शकारान्त भी यह है।

चुम्बन अर्थ में णिसि धातु है। 'णो नः' नुन् अनुस्वार। दन्त्यसकारान्त यह है। आभरणकार शकारान्त मानते हैं। यह उनकी भ्रान्ति ही है। निजि शुद्धि में है। नुम्, अनुस्वार परसवर्ण होता है। अव्यक्त शब्द में शिजि है। पिजि वर्ण में। सम्पर्चन में भी है। दोनों अर्थों में यह है। अवयवार्थक यह है। अव्यक्त शब्द में यह है। वृजी वर्जन में है। ह्रस्व इकारेत् से नुम् भी होता है ऐसा भी मत है। पृची सम्पर्चन में है। षूङ् प्रसवार्थक है। सूते = प्रसवं करोति सा। सुषुवे यहां उवङ् हुआ। स्वरति से विकल्प इट् सविता। सोता। 'सुवै' में गुणनिषेध हुआ। असविष्ट। पक्ष में असोष्ट।

शीङ् धातु स्वप्न में है।

२४४२ शीङः सार्वधातुके गुणः ७।४।२१।

क्ङिति चेत्यस्यापवादः। शेते। शयाते।

सार्वधातुक संज्ञक प्रत्यय पर रहते शीङ् का जो ईकार है उसको गुण होता है। यह 'क्ङिति' का निषेधक है। शेते। आताम् के टि आम् को एकार अयादेश शयाते।

२४४३ शीङो रुट् ७।१।६।

शीङः परस्य झादेशस्यातो रुडागमः स्यात्। शेरते। शेषे। शेध्वे। शये। शेवहे। शिश्ये। शयिता। अशयिष्ट। १६।

अथ स्तौत्यन्ताः परस्मैपदिनः। ऊर्णुस्तूभयपदी। यु मिश्रणामिश्रणयोः।

शीङ् धातु से पर झ के स्थान में आदेश जो अत उसको रुट् आगम होता है। यथा शरीर का अवयव कर = हाथ उसका अङ्गुलियाँ वे शरीर के भी अवयव हैं। यहाँ झ वृत्ति सार्वधातुकत्व अत में है अत का अवयव अत है उसका अवयव रुट् है वह समुदाय का अवयव से सार्वधातुक है अतः गुण करके 'शेते' हुआ। शेषे 'एरनेकाचः' से यण्। शयिता। शयिष्यते। शेताम्। अशेत। शयीत। शयिषीष्ट। अशयिष्ट। अशयिष्यत।

स्तु धातु तक परस्मैपदी धातुओं का निर्देश करते हैं। उनमें ऊर्णु उभयपदी है। यु धातु मिश्रण एवं अमिश्रण में है।

२४४४ उतो वृद्धिर्लुकि हलि ७।३।८९।

लुग्विषये उकारस्य वृद्धिः स्यात् पिति हलादौ सार्वधातुके न त्वभ्यस्तस्य। यौति। युतः। युवन्ति। युयाव। यविता। युयात्। इह उतो वृद्धिर्न, भाष्ये पिच्च ङिन्न, ङिच्च पिन्नेति व्याख्यानात्। विशेषविहितेन ङित्त्वेन पित्त्वस्य बाधात्। यूयात्। अयावीत्। रु शब्दे।

पकारेत्संज्ञक हल् है आदि में जिसके ऐसा सार्वधातुक प्रत्यय पर में रहते लुप्तविकरणक उकारान्त धातु के अन्त्य अच् की वृद्धि होती है। यौति। यौषि। यौमि। युतः यहाँ सार्वधातुक मपित। एवं क्ङिति से गुणाभाव। युवन्ति, उवङ्। युथः। युथ। युवः। युमः। युयाव, अचो ञ्णिति से वृद्धि आय् आदेश। यविता। यविष्यति। यौतु से युतात्। युताम्। युवन्तु। युहि। युतात्। युतम्। युत। यवानि। यवाव। यवाम। अयौत्। युयात्। यूयात्। अयावीत। अयविष्यत।

'युयात्' विधिलिङ् में शङ्का करते हैं कि यहाँ हलादि पित् सार्वधातुक तिप् है, अतः वृद्धि क्यों नहीं हुई ? उसका समाधान प्रकार है—

'सार्वधातुकमपित्' सूत्र में सार्वधातुकम् एक योग है, अपित् पृथक् योगकरण है एवं भिन्नक्रम है, प्रथम 'अपित्' योग है पश्चात् 'सार्वधातुकम्' है। प्रथम योग जो 'अपित्' है उसमें 'यासुट् परस्मैपदेषु' सूत्र से 'ङित्' का सम्बन्धकर, अपित् का नञ् अर्थ अभाव बोधन कर परस्पर ङित् पित् का अन्वय कर पित् को उद्देश्य कर ङित्त्व का अभाव बोधन, एवं ङित् को उद्देश्य कर पित्त्वाभाव बोधन कर फलितार्थ कथन यह हुआ कि भाष्य में पित् ङित् नहीं होता है, एवं ङित् पित् नहीं होता है। 'युयात्' यहाँ विशेषविहित यासुट् को ङित्त्व से प्रकृत में सामान्य पित्त्व का बाध कर ङितनिमित्तक वृद्धि का अभाव हुआ। तिप् के पित्त्व, यौति, अयौत् आदि में वृद्धिबोधनार्थ चरितार्थ है।

रु धातु शब्द अर्थ में है।

२४४५ तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके ७।३।९५।

एभ्यः परस्य सार्वधातुकस्य हलादेस्तिङ ईड् वा स्यात्। नाभ्यस्तस्येत्यतोऽनुवृत्तिसम्भवे पुनः सार्वधातुकग्रहणम् अपिदर्थम्। रवीति। रौति। रवीतः। रुतः। हलादेः किम्? रुवन्ति। तिङः किम्? शाम्यति। सार्वधातुके किम्? आशिषि रूयात्। विध्यादौ तु रवीयात्, रूयात्। अरावीत्। अरविष्यत्। १।

तु इति सौत्रो धातुर्गतिवृद्धिहिंसासु। अयञ्च लुग्विकरण इति स्मरन्ति। तवीति, तौति। तवीतः, तुतः। तोता। तोष्यति। ३। णु स्तुतौ। नौति। नविता। ४। टुक्षु शब्दे। क्षौति। क्षविता। ५। क्ष्णु तेजने। क्ष्णौति। क्ष्णविता। ६। ष्णु प्रस्रवणे। स्नौति। सुष्णाव। स्नविता। स्नूयात्। ७।

ऊर्णुञ् आच्छादने।

तु, रु, स्तु, शम्, यम् इन धातुओं से पर हलादि तिङ् सार्वधातुक को ईट् विकल्प से होता है। यहां 'नाभ्यस्तस्य' सूत्र से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति कर अर्थवश से षष्ठ्यन्तत्व से विपरिणाम कर 'सार्वधातुकस्य' एतदर्थ परक होकर कार्य निर्वाह होता अनुवृत्ति पक्ष में लाघव भी है। यहां 'सार्वधातुके' ग्रहण नहीं करना पड़ता अतः ऐसा क्यों नहीं किया?' वह अनुवृत्त सार्वधातुक पित् सम्बद्ध यहां आता तब अपित् तिङ् को ईट् विकल्प से जो इष्ट है वह न होता, एतदर्थं यहां 'अपिदर्थसार्वधातुके' किया है। पञ्चम्यन्त से पर वह 'उभयनिर्देश' परिभाषा से षष्ठ्यन्त आगमी होता है।

रूप इसके मूल में स्पष्ट है, प्रत्युदाहरण भी ईट् के स्पष्ट ही हैं।

'तु' धातु सौत्र अर्थात् केवल सूत्र में पठित गति में, वृद्धि में, एवं हिंसा में है। आचार्यगण यह धातु लुक् विकरणक है—ऐसा स्मरण करते हैं। तवीति, तौति विकल्प ईट्। उत्कर्ष गुण बाधेन रूप स्तुति में 'णु' धातु है। 'णो नः' से नकारादेश 'उतो वृद्धिः। नौति। शब्द में टुक्षु धातु है। क्षौति यहां वृद्धिः। क्ष्णु तेजन में है तीक्ष्णीकरण = तेजनार्थ है। ष्णु का प्रस्रवण अर्थ है। ऊर्णुञ् का आच्छादन अर्थ है। यह उभयपदी है।

२४४६ ऊर्णोतेर्विभाषा ७।३।९०।

वा वृद्धिः स्याद्धलादौ पिति सार्वधातुके। ऊर्णौति। ऊर्णोति। ऊर्णुतः। ऊर्णुवन्ति। ऊर्णुते। ऊर्णुवाते। ऊर्णुवते। ❀ ऊर्णोतेराम् नेति वाच्यम् ❀।

हलादि पित् सार्वधातुक के पर रहते ऊर्णु धातु के अन्त्य वर्ण को विकल्प से वृद्धि होती है। वृद्धि के अभाव में गुणादेश—ऊर्णौति, ऊर्णोति। बहुवचन में उवङ् ऊर्णुवन्ति। 'इजादेः' सूत्र से लिट् में ऊर्णु धातु को आम् प्रत्यय नहीं होता है।

२४४७ नन्द्राः संयोगादयः ६।१।३।

अचः पराः संयोगादयो नदरा द्विर्न भवन्ति। नुशब्दस्य द्वित्वम्, णत्वस्यासिद्धत्वात्। 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इति त्वनित्यम्, उभौ साभ्यासस्येति लिङ्गात्। ऊर्णुनाव। ऊर्णुनुवतुः। ऊर्णुनुवुः।

अच् से पर संयोग के आदि जो न द र इनका द्वित्व नहीं होता है। ऊर्णु लिट् तिप् णल् अ यहां 'अजादेर्द्वितीयस्य' इस अधिकार सूत्र के सहकार से 'लिटि धातोः' सूत्र से वृक्षप्रचलन न्याय से एवं 'नटभार्यावत् व्यञ्जनानि भवन्ति' इससे 'र्णु' का द्वित्व प्राप्त हुआ किन्तु रेफ णकार की संयोग संज्ञा है, आदि रेफ का इसने द्वित्वनिषेध बोधन किया, एवं 'नु' को णत्व विधान 'पूर्वत्रासिद्धम्' से द्वित्व की दृष्टि में असिद्ध है, अतः 'नु' मात्र का द्वित्व अचो ञ्णिति से वृद्धि, आव् आदेश रूर् के रेफ निमित्तक 'रषाभ्याम्' से णत्व ऊर्णुनाव। यहां 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र का बाधक

वचन 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' की प्रवृत्ति होनी चाहिये—द्वित्व कार्य करने में 'पूर्वत्रासिद्धम्' की प्रवृत्ति नहीं होती है। वह वचन अनित्य होने से यहां अप्रवृत्त है। अनित्य में प्रमाण 'उभौ साभ्यासस्य' सूत्र ही है। तथाहि प्र उपसर्ग पूर्वक अण प्राणने से णिच् लुङ् में प्र आ अण् इ अ त् यहां 'प्राणिणत्' रूप होता है, 'अनितेः' सूत्र से 'चङि' से द्वित्व प्रथम उक्त परिभाषा से णत्व कर 'णि' शब्द के द्वित्व से इष्टरूपसिद्धि होती पुनः उभौ साभ्यासस्य (२६०७) सूत्र क्यों किया वह व्यर्थ पड़ कर ज्ञापन करता है कि 'पूर्वत्रासिद्धीये' वचन अनित्य है। अतः 'पूर्वत्रासिद्धम्' से 'अनितेः' असिद्ध होकर 'नि' का ही द्वित्व होगा वहां अभ्यासस्थ एवं तदुत्तरखण्डवृत्तिअंशावयव उभय नकार को णत्वार्थ वह स्वांश में कृतार्थ हुआ। ऊर्णुनाव। ऊर्णुनुवतुः, यहां उवङादेश हुआ। ऊर्णुनुवुः।

२४४८ विभाषोर्णोः १।२।३।

इडादिप्रत्ययो वा ङित् स्यात्। ऊर्णुनुविथ। ऊर्णुनविथ। ऊर्णुविता। ऊर्णविता। ऊर्णौतु। ऊर्णोतु। ऊर्णवानि। ऊर्णवै।

ङित् पक्ष में गुणाभाव कर उवङादेश। ङित्त्वाभाव पक्ष में लिट् आदि में गुण, रूपद्वय यथा—ऊर्णुनुविथ। ऊर्णुनविथ। लुट् में ऊर्णुविता, ऊर्णविता। ऊर्णौतु। पक्ष में ऊर्णोतु। ऊर्णवानि। ऊर्णवै।

२४४९ गुणोऽपृक्ते ७।३।९१।

ऊर्णोतेर्गुणः स्यादपृक्ते हलादौ पिति सार्वधातुके। वृद्ध्यपवादः। और्णोत्। और्णोः। ऊर्णुयात्। ऊर्णुयाः। इह वृद्धिर्न, ङिच्च पिन्नेति भाष्यात्। ऊर्णूयात्। ऊर्णुविषीष्ट, ऊर्णविषीष्ट। और्णुवीत्। और्णुविष्टाम्।

अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक पर रहते ऊर्णु के अन्त्य वर्ण को गुण होता है। यह सूत्र 'उतो वृद्धिः' से प्राप्त वृद्धि का बाधक है।

लङ् में वृद्धि को बाधकर गुणादेश से और्णोत्। 'ऊर्णुयात्' यहां ङित्त्व विशेषविहित से पित्त्व का बाध हुआ अतः वृद्धि न हुई। आशीर्लिङ् में 'अकृत्' से दीर्घ ऊर्णूयात्। आत्मनेपद में विकल्प से इडादि प्रत्यय ङित् हैं, उवङ् पक्ष में गुण—ऊर्णुविषीष्ट। ऊर्णविषीष्ट। लुङ् मे परस्मैपद में आ ऊर्णु इ स् ईत् आटश्च वृद्धि, ङित्वविकल्प से उवङादेश सलोप दीर्घ और्णुवीत्।

२४५० ऊर्णोतेर्विभाषा ७।२।६।

इडादौ सिचि परस्मैपदे परे वा वृद्धिः स्यात्। पक्षे गुणः। और्णावीत्। और्णाविष्टाम्। और्णाविषुः। और्णवीत्।

परस्मैपदसंज्ञक प्रत्ययपरक इडादि सिच् पर में रहते ऊर्णु के अन्त्येक् की विकल्प से वृद्धि होती है। पक्ष में गुण से रूपद्वय। यथा आ ऊर्णु इस् ईत् = और्णावीत्। गुण में और्णवीत्। लुङ् में तीन रूप दो कार्य विकल्पप्रयुक्त इसे हुए।

द्यु अभिगमने। द्यौति। द्योता। ६। षु प्रसवैश्वर्ययोः। प्रसवोऽभ्यनुज्ञानम्। सोता। असौषीत्। १०। कु शब्दे। कोता। ११। ष्टुञ् स्तुतौ।

स्तवीति । स्तौति । स्तुवीतः । स्तुतः । स्तवीते । स्तुते । स्तुसुधूञ्भ्य इतीट् । अस्तावीत् । प्राक्सितादिति षत्वम्, अभ्यष्टौत् । सिवादीनां वा, पर्यष्टौत् । पर्यस्तौत् । १२ । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि ।

द्यु धातु अभिगमन में है । 'उतो वृद्धिः' से वृद्धि द्यौति । अनिट् है, द्योता । अभ्यनुज्ञान में एवं स्वामित्व अर्थ में षु धातु है । आदि का सकारादेश । अनिट् धातु से लुट् में सोता । लुङ् में 'सिचि वृद्धिः' से वृद्धि, षत्व असौषीत् । शब्द में कु धातु है । अकौषीत् । स्तुति में ष्टुञ् धातु है । षकार को सकारादेश 'निमित्तापाये' परिभाषा से ष्टुत्व की निवृत्ति 'स्तुसु' सूत्र से विकल्प ईडागम पक्ष में वृद्धि—स्तवीति, स्तौति । स्तुवीतः, स्तुतः । लुङ् में 'स्तुसुधूञ्भ्यः' से इट् अस्तावीत् । अड्-व्यवधान में भी षत्व अभ्यष्टौत् । सिवादि में विकल्प से षत्व पर्यष्टौत् । पर्यस्तौत् ।

ब्रूञ् धातु व्यक्त = स्पष्टशब्दजनक व्यापार में है ।

२४५१ ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः ३।४।८४।

ब्रुवो लटः परस्मैपदानामादितः पञ्चानां णलादयः पञ्च वा स्युर्ब्रुवश्चाहादेशः । अकार उच्चारणार्थः । आह । आहतुः । आहुः ।

ब्रू धातु से पर लट् के स्थान में जायमान परस्मैपदसंज्ञक तिप् तस् झि सिप् थस् इन प्रत्ययों के स्थान में क्रमशः णल् अतुस् उस् थल् अथुस् आदेश होते हैं, एवं ब्रू धातु के स्थान में आह आदेश होता है । 'आह' में अकार केवल उच्चारणफलक है विवक्षित नहीं । आह । आहतुः । आहुः ।

२४५२ आहस्थः ८।२।३५।

झलि परे । चर्त्वम् । आत्थ । आहथुः ।

झलादि प्रत्यय पर रहते आह आदेश के अवयव हकार के स्थान में थकार आदेश होता है । इस थ् के, 'खरि च' से चर्त्वकर 'आत्थ' रूप हुआ । मध्यम पुरुष द्विवचन तक दो रूप इससे लट् में हुए ।

२४५३ ब्रुव ईट् ७।३।९३।

ब्रुवः परस्य हलादेः पित ईट् स्यात् । 'आत्थ' इत्यत्र स्थानिवद्भावात् प्राप्तोऽयं झलीति थत्वविधानान्न भवति । ब्रवीति । ब्रूतः । ब्रुवन्ति । ब्रूते । आर्धधातुकाधिकारे ।

ब्रू धातु से पर हलादि पित प्रत्यय को ईट् होता है । 'आत्थ' में स्थानिवद्भाव से प्राप्त भी ईट् झल् पर में रहते थकारविधान सामर्थ्य से नहीं होता है । लट् एकवचन में ईट् आगम गुण अवादेश से ब्रवीति । आर्धधातुक का अधिकार करने पर सूत्र—

२४५४ ब्रुवो वचिः २।४।५३।

उवाच । ऊचतुः । ऊचुः । उवचिथ । उवक्थ । ऊचे । वक्ता । ब्रवीतु । ब्रूतात् । ङिच्च पिन्नेति अपित्त्वादीण्न । ब्रवाणि । ब्रवै । ब्रूयात् । उच्यात् । अस्यतिवक्तीत्यङ् ।

आर्धधातुकविषय में ब्रू के स्थान में वच् आदेश होता है । ब्रूतात् में विशेषविहित तातङ् के ङित्व से पित्त्व के बाध होने से ईट् न हुआ । लुङ् च्लि को अङादेश करके—

२४५५ वच उम् ७।४।२०।

अङि परे । अवोचत् । अवोचत । १३ । अथ शास्यन्ताः परस्मैपदिनः । इङ् त्वात्मनेपदी । इण् गतौ । एति । इतः ।

अङ् पर में रहते वच् को उम् आगम होता है । वह 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से चकार से पूर्व एवं अकार से पर हुआ, मित् होने से गुण कर 'अवोचत्' । अवोचत ।

शास् तक अब परस्मैपदी धातुगण है । ईङ् तो आत्मनेपदी है । गति में इण् धातु है । अर्थात् संयोगजनकव्यापारार्थक यह है । गुण-एति । 'सार्वधातुकमपित्' 'क्ङिति' से गुणाभाव-इतः ।

२४५६ इणो यण् ६।४।८१।

अजादौ प्रत्यये परे । इयङोऽपवादः । यन्ति । इयाय ।

अजादि प्रत्यय पर रहते इण् का यण् आदेश होता है । यह 'अचि श्नु' सूत्र से प्राप्त इयङादेश का बाधक है । यन्ति । लिट् में तिप् णल् अ 'इ अ' द्वित्व अचो ञ्णिति से वृद्धि आय् इयाय ।

२४५७ दीर्घ इणः किति ७।४।६९।

इणोऽभ्यासस्य दीर्घः स्यात् किति लिटि । ईयतुः । ईयुः । इययिथ । इयेथ । एता । इतात् । इहि । अयानि । ऐत् । ऐताम् । आयन् । इयात् । ईयात् ।

कित् लिट् पर रहते इण् के अभ्यास के अच् को दीर्घ होता है । इ इ अतुस् प्रथम इकार को दीर्घ द्वितीय इकार को यण् । ईयतुः । इसी तरह ईयुः ।' 'इ इ इथ' द्वितीय इकार का गुण अय आदेश अभ्यास को 'अभ्यासस्यासवर्णे' से इयङ् इययिथ । पक्षमें इ इथ गुण द्वितीय इकार को, अभ्यास को इयङ इयेथ । इता, ऐता आदि रूप स्पष्ट है ।

२४५८ एतेर्लिङि ७।४।२४।

उपसर्गात् परस्य इणोऽणो ह्रस्वः स्यादार्धधातुके किति लिङि । निरियात् । उभयत आश्रयणे नान्तादिवत् । अभीयात् । अणः किम् । समेयात् । 'समीयात्' इति प्रयोगस्तु भौवादिकस्य ।

उपसर्ग से पर इण् के अवयव अण् को ह्रस्व होता है, आर्धधातुक कित् लिङ् पर रहते । निर् ईयात् यहां ह्रस्व हुआ निरियात् । अभि ईयात् यहां अन्तरङ्ग दीर्घ हुआ । 'अभीयात्' यहां 'अन्तादिवच्च' सूत्र से एकादेश सवर्णदीर्घ का पूर्व स्थानी इकार उससे घटित समुदाय 'अभि' उसमें रहने वाला धर्म = उपसर्गत्व वह अभी में अतिदिष्ट हुआ पूर्वान्तवद्भाव से । किन्तु अभी के बाद इण् अवयव अण् नहीं है । परादिवद्भाव से ईकार में इण्सम्बन्धी अणत्व का अतिदेश करेंगे यह तो कह नहीं सकते है, एक लक्ष्य में एककालावच्छेद से पूर्वान्तवद्भाव एवं परादिवद्भाव नहीं हो सकता है, "उभयत आश्रयणे नान्तादिवद्भावः" इति निषेध से । अतः 'अभीयात्' यहां ह्रस्वादेश न हुआ ।

विमर्श—'अम्' 'मकारान्त' में एकदेशविकृत न्याय से उपसर्गत्व का समाश्रयण कर परादिवद्भाव से ईकार में इण्सम्बन्धि अण्त्व का अतिदेश करने पर तो यहां ह्रस्व का वारण अशक्य ही है, उस पक्ष में ह्रस्व होता है। या एकदेशविकृत न्याय अनित्य है 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' इसका आश्रयण करना एकदेशविकृत न्याय में प्राग् दीव्यतोऽण् में विकृत तान्त दीव्यत निर्देश ही प्रमाण है, भाष्य में—किमर्थं विकृतनिर्देशः ? तज्ज्ञापयति आचार्यः—भवत्येषा परिभाषा—'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति। तेन दीव्यत से 'दीव्यति' का ग्रहण कर अवधि एवं अवधिमान् का साजात्य नियम से अर्थबोधक पदघटितशास्त्र में इस अण् का अधिकार है, अर्थबोधक पदघटित के अभाववत् मध्यपतित सूत्रों में भी इसका अधिकाराभाव है। परिच्छिन्न परिणाम में इस परिभाषा की अप्रवृत्ति अर्थात् संख्यात्वव्याप्यधर्मानयन में या तद्घटितधर्मानयन में परिभाषा की अप्रवृत्ति ही है या जातिव्यञ्जक भूयोऽवयवादर्शन में इस न्याय की अप्रवृत्ति है।

'समेयात' में एकार अण् नहीं है, 'अणुदित्' के विना सर्वत्र अण् पूर्व णकार तक प्रत्याहार ही है। 'समीयात' यह प्रयोग भ्वादिगण पठित 'ई' धातुका है, इसका नहीं है।

२४५९ इणो गा लुङि २।४।४५।

गास्तिस्थेति सिचो लुक्। अगात्। अगाताम्। अगुः। १।

इङ् अध्ययने। नित्यमधिपूर्वः। अधीते। अधीयाते। अधीयते।

लुङ् पर रहते इण् के स्थान में गा आदेश होता है। गातिस्था सूत्र में इस प्रतिपदोक्त 'गा' आदेश का ग्रहण है, सिच् का लुक्, अगात। 'अगुः' में सिजभ्यस्त से जुस् उस्यपदान्तात से पररूप है।

अध्ययन में इङ् धातुका प्रयोग है। यह नित्य अधिपूर्वक ही है। आत्मनेपदी है। अधीते। अधीयाते। अधीयते।

२४६० गाङ् लिटि २।४।४९।

इङो गाङ् स्याल्लिटि लावस्थायां विवक्षिते वा। अधिजगे। अधिजगाते। अधिजगिरे। अध्येता। अध्येष्यते। अध्ययै। गुणायादेशयोः कृतयोरुपसर्गस्य यण्। पूर्वं धातुरुपसर्गेणेति दर्शनेऽन्तरङ्गत्वाद् गुणात्पूर्वं सवर्णदीर्घः प्राप्तः, णोरध्ययने वृत्तमिति निर्देशान्न भवति। अध्यैत। परत्वादियङ् ततः आट्, वृद्धिः अध्यैयाताम्। अध्यैयि। अध्यैवहि। अधीयित। अधियीयाताम्। अधियीध्वम्। अधियीय। अध्येषीष्ट।

लिट् पर रहते, या लावस्था में इङ् को गाङ् आदेश होता है। अधिजगे। 'अध्ययै' लोट्उत्तम पुरुष 'अधि इ इ' यहां इकार को एकार कर 'एत ऐ' ऐकारादेशकर धातु के इकार का गुण अय् आदेश कर अधि के इकार को यण् से 'अध्ययै' रूप हुआ। यद्यपि पूर्व में अन्तरङ्गत्व के कारण गुण को बाधकर दीर्घ प्राप्त था किन्तु न हुआ, आचार्य निर्देश 'अध्ययने' है अतः दीर्घ की प्रवृत्ति पूर्व न हुई। लङ् में अधि आ इ त वृद्धि यण् अध्यैत। परत्व के कारण पूर्व इयङ् उसके बाद आट्, वृद्धि यण् अध्यैयाताम् इत्यादि।

२४३१ विभाषा लुङ्लृङोः २।४।५०।

इङो गाङ् वा स्यात्।

लुङ् एवं लृङ् के पर रहते इङ् को गाङ् आदेश विकल्प से होता है।

२४६२ गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् १।२।१।

गाङादेशात् कुटादिभ्यश्च परेऽञ्णितः प्रत्यया ङितः स्युः।

गाङादेश से एवं कुटादि से पर ञित् एवं णित् से भिन्न प्रत्यय ङित् होता है।

२४६३ घुमास्थागापाजहातिसां हलि ६।४।६६।

एषामात ईत् स्यात् हलादौ क्ङित्यार्धधातुके। अध्यगीष्ट। अध्यैष्ट। अध्यगीष्यत। अध्यैष्यत।

हलादि कित् ङित् आर्धधातुक प्रत्यय पर रहते घुसंज्ञक धातु, मा, स्था, गा, पा, हा, सा धातु के आकार को ईकारादेश होता है। अध्यगीष्ट। पक्ष में अध्यैष्ट। लृङ् में गादेश ईकारादेश से अध्यगीष्यत। अध्यैष्यत।

इक् स्मरणे। अयमप्यधिपूर्वः, अधीगर्थदयेशामिति लिङ्गात्। अन्यथा हीगर्थेत्येव ब्रूयात्। ❀ इण्वदिक इति वक्तव्यम् ❀। अधियन्ति। अध्यगात्। केचित्तु आर्धधातुकाधिकारोक्तस्यैवातिदेशमाहुः। तन्मते यण् न। तथा च भट्टिः—ससीतयो राघवयोरधीयन्निति। ३।

वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु। प्रजनं गर्भग्रहणम्। असनं क्षेपणम्। वेति। वीतः। वियन्ति। वेषि। वेमि। वीहि। अवेत्। अवीताम्। अवियन्। अडागमे सत्यनेकाच्त्वाद्यण् इति केचित्। अव्यन्। ४। अत्र ईकारोऽपि धात्वन्तरं प्रश्लिष्यते। एति। ईतः। इयन्ति। ईयात्। ऐषीत्। ५। या प्रापणे। प्रापणमिह गतिः। प्रणियाति। यातः। यान्ति।

इक् धातु स्मरण में है, स्मृतिजनक व्यापार, अननुभवजनक व्यापार। अनुभवजन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं। यह भी अधि उपसर्गपूर्वक ही है 'स्मृत्यर्थदयेशाम्' सूत्र करते पुनः 'अधीगर्थ' सूत्र करण से ही यह ज्ञापन होता है। या 'इगर्थ' ऐसा ही सूत्र करते 'अधीगर्थ' करण ज्ञापनार्थ है। इण् के समान इक् का रूप होता है ऐसा अतिदेश किया है। कोई कहता है कि आर्धधातुकाधिकार में कथित कार्य का ही अतिदेश होता है। उसके मत में यणादेश जो 'इणो यण्' से होता है उसका अतिदेशाभाव यहां है। इस लिए भट्टि में 'अधीयन्' प्रयोग ही कहा है। वी धातु गति, व्याप्ति, प्रजन, कान्ति, अशन एवं खादन अर्थ में है। प्रजन का अर्थ गर्भ ग्रहण करना है। असन का अर्थ फेंकना है। अव्यन् में उपदेशकालिक एकाच् धातु के अडागम करने पर अनेकाच् होने से 'एरनेकाच' से यण् यहां हुआ। कोई ईकार का प्रश्लेष से ई धातु स्वतन्त्र मानते हैं। एति। ईतः। इयन्ति। या प्रापणार्थक है। गति विना प्रापण हो नहीं सकती। प्रणियान्ति में 'नेर्गद' से णत्व हुआ।

२४६४ लङः शाकटायनस्यैव ३।४।१११।

आदन्तात्परस्य लङो झेर्जुस् वा स्यात्। अयुः। अयान्। यायान्। यायाताम्। यायास्ताम् ६। वा गतिगन्धनयोः। गन्धनम् = सूचनम्। ७ भा दीप्तौ। ८। ष्णा शौचे। ६। श्रा पाके १०। द्रा कुत्सायां गतौ। ११। प्सा भक्षणे। १२। पा रक्षणे। पायास्ताम्। अपासीत्। १३। रा दाने। १४। ला आदाने। १५। द्वावपि दाने इति चन्द्रः। १५। दाप् लवने। प्रणिदाति। प्रनिदाति। दायास्ताम्। अदासीत्।

१६। ख्या प्रकथने। अयं सार्वधातुकमात्रविषयः। 'सस्थानत्वं नमः ख्यात्रे' इति वार्तिकं तद्भाष्यञ्चेह लिङ्गम्। सस्थानो जिह्वामूलीयः स नेति ख्यात्रादेशस्य खशादित्वे प्रयोजनमित्यर्थः। संपूर्वस्य ख्यातेः प्रयोगो नेति न्यासकारः। प्रा पूरणे। १८। मा माने। अकर्मकः। 'तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषः' इति माघः। उपसर्गवशेनार्थान्तरे सकर्मकः। 'उदरं परिमाति मुष्टिना'। नेर्गदेत्यत्र नास्य ग्रहणम्। प्रनिमाति। प्रणिमाति। १६। वच परिभाषणे। वक्ति। वक्तः। अयमन्तिपरो न प्रयुज्यते। बहुवचनपर इत्यन्ये। झिपर इत्यपरे। वग्धि। वक्षि। वच्यात्। उच्यात्। अवोचत्। २०। विद ज्ञाने।

आकारान्त धातु से पर लङ् के स्थान में जायमान झि को जुस् आदेश विकल्प से होता है। अयुः। पक्ष में अयान्।

वा धातु गति में एवं सूचन में है। परकीय निन्दा को सूचन कहते हैं। भा धातु दीप्ति में है। ष्णा शौच में = पवित्रता में है। श्रा धातु पाक में है। द्रा कुत्सित गति में है। प्सा भक्षण में है। पा रक्षण में है। रा दान में है। ला आदान में है। दोनों भी दान में हैं—यह श्री चन्द्रमत है। दाप् लवन में। लवन = काटना। प्रणिदाति, प्रनिदाति 'शेषे विभाषा' से विकल्प णकारादेश हुआ है।

ख्या धातु प्रकथन में है। इस धातु का सार्वधातुक में ही प्रयोग होता है। इसमें प्रमाण-'नमः ख्यात्रे' यहां जिह्वामूलीय क्यों नहीं हुआ, चक्षिङ् से तृच् प्रत्यय धातु के स्थान में ख्शाञ् आदेश हुआ, 'शस्य यो वा' जो णत्वप्रकरण के अनन्तर असिद्धकाण्डे में पठित वचन से यकारादेश हुआ वह असिद्ध है, अतः 'कुप्वोः' को बाध कर 'शर्परे विसर्जनीयः' से विसर्ग ही हुआ। जिह्वामूलीय का अभाव ही यहां ख्शाञ् आदेश का प्रयोजन हुआ। संपूर्वक ख्या का प्रयोग नहीं होता है, यह न्यासकारमत है। ख्शाञ् का प्रयोजन चक्षिङः ख्याञ् सूत्र पर विमर्श में वर्णित है। यदि ख्या प्रकथने धातु भी आर्धधातुक प्रत्यय प्रकृतित्व से युत रहता, इससे तृच् होता तो पूर्वोक्त भाष्यवार्तिकादि प्रयास जिह्वामूलीय के अभावार्थ व्यर्थ ही होता। अतः यह सार्वधातुकमात्रप्रयोगविषय है—यह सुस्पष्ट है। प्रा धातु पूरण में है। मा धातु मान अर्थ में है। यह अकर्मक है। गुजरात के माघ कवि के प्रयोग में—जिस अखण्डभूमण्डल के स्वामी भी कृष्ण भगवान् के हृदय में तीनों भुवन असंकीर्णतापूर्वक स्थान को प्राप्त किया था उस हृदय में श्री योगिराज नारदमुनि के समागम का आनन्द नहीं अँट सका। यह भाव श्लोक का है। "तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषः" इति। उपसर्गवश अर्थान्तर में मा धातु सकर्मक भी है यथा—"उदरं परिमाति मुष्टिना"। यहां परिच्छेदकार्थ मा धातु है। मान का कर्म उदर है, नापने में करण मुष्टि है। 'नेर्गद' में इसका

ग्रहण नहीं है, वहां 'घुप्रकृतिमाङ्' से ङकारेत्संज्ञक या का ही ग्रहण है। अतः 'शेषे विभाषा' से 'नि' के नकार का विकल्प से णत्व हुआ। प्रणिमाति। प्रनिमाति।

वच परिभाषण में है। वक्ति। चकार को गकार उसको ककार जश्त्व चर्त्वं। यह 'अन्ति' में साधु होते हुए भी शिष्टजनों से अप्रयुक्त है। अप्रयुक्त लक्ष्य में लक्षणाभाव है, प्रयुक्त शब्दान्वाख्यानार्थ व्याकरण है। 'यथा लक्षणमप्रयुक्ते' अप्रयुक्ते लक्ष्ये लक्षणाभावस्यैव योग्यता, अर्थात् लक्षणं नैव प्रवर्तते अथवा अप्रयुक्ते लक्ष्ये लक्षणेन यथा आयाति तथैव कार्यं विधेयम्। कोई कहते हैं कि 'झि' में प्रयोग नहीं होता है। 'हुझल्भ्यः' से 'हि' को धि से वग्धि रूप हुआ। 'अवोचत्' में 'अस्यतिवक्ति' सूत्र से च्लि को अङ् कर 'वच उम्' से उम् आगम गुण हुआ।

विद् धातु ज्ञान अर्थ में है, अर्थात् ज्ञानजनकव्यापारार्थक हैं।

विमर्श—ज्ञानपदार्थ आवरणभङ्गजनक व्यापारस्वरूप है।

आवरणम् = अज्ञानम् = तिमिरम् = तमः ये अनर्थान्तर हैं, अर्थात् पर्यायवाचक हैं। समवाय सम्बन्ध से ज्ञानोत्पत्ति का अधिकरण आत्मा, या अन्तःकरण है। वह ज्ञान विषयता सम्बन्ध से विषय में रहता है। विषयता नाना प्रकार की है—विशेष्यताख्या, प्रकारताख्या, संसर्गताख्या आदि। विषयिता भी नानाविधा है—विशेष्यितारूपा प्रकारितारूपा आदि। ज्ञानजनक यावत् सामग्रीसत्त्व दशा में ही ज्ञानोदय होता है।

२४६५ विदो लटो वा ३।४।८३।

वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलादयो वा स्युः। वेद, विदतुः, विदुः। वेत्थ, विदथुः, विद। वेद, विद्व, विद्म। पक्षे वेत्ति इत्यादि। विवेद, विविदतुः। उषविदेत्याम्पक्षे विदेत्यकारान्तनिपातनान्न लघूपधगुणः। विदाञ्चकार। वेदिता।

विद धातु से पर लट् के स्थान में आदेशभूत परस्मैपदसंज्ञक प्रत्ययों के स्थान में णलादि आदेश होते हैं विकल्प से। लट् में दो रूप होते हैं, वेद, विदतुः, विदुः पक्ष में वेत्ति, वित्तः, विदन्ति। वेत्थ, विदथुः, विद। वेत्सि, वेत्थः, वेत्थ। वेद, विद्वः, विद्मः। वेद्मि, विद्वः, विद्मः। लिट् में 'उषविद' सूत्र से आम् पक्ष में विद में अकारान्तत्व का निपातन करने से लघूपध गुण का अभाव हुआ, लिट् परक कृञ् का अनुप्रयोग द्वित्वादि विदाञ्चकार। आम् प्रत्यया भाव में विवेद विविदतुः, विविदुः। विवेदिथ, विविदतुः, विविद। विवेद, विवेदिव, विवेदिम। लुट् में वेदिता। लृट् में वेदिष्यति। लोट् में—

२४६६ विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् ३।१।४१।

वेत्तेर्लोट्याम् गुणाभावो लोटो लुक् लोडन्तकरोत्यनुप्रयोगश्च वा निपात्यते। पुरुषवचने न विवक्षिते, इतिशब्दात्।

लोट् पर में रहते विद् धातु से आम् प्रत्यय होता है, एवं गुण का अभाव, लोट् का लुक् तथा लोडन्त कृञ् का अनुप्रयोग ये कार्य विकल्प से निपातन लभ्य हैं। सूत्र में निर्दिष्ट बहुवचन एवं प्रथम पुरुष इसकी यहां विवक्षा नहीं है, निपात 'इति' शब्द से यह काम हुआ। निपात अनेकार्थक होता है। इष्टार्थ की कल्पना हुई।

२४६७ तनादिकृञ्भ्य उः ३।१।७९।

तनादेः कृञश्च उप्रत्ययः स्यात्। शपोऽपवादः। तनादित्वादेव सिद्धे कृञ् ग्रहणं गणकार्यस्यानित्यत्वे लिङ्गम्, तेन "न विश्वसेदविश्वस्तम्" इत्यादि सिद्धम्। विदाङ्करोतु।

तनादिगणपठित धातु से एवं कृञ् धातु से उप्रत्यय होता है। यह शप् का बाधक है। यहां शङ्का होती है कि 'तनादेः' ऐसा ही सूत्र करना उचित था क्योंकि कृञ् भी तनादि है, पुनः पृथक् कृञ् का उपादान व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "गणकार्यमनित्यम्" इस ज्ञाप्य वचन के स्वीकार करने पर अनित्यत्व प्रयुक्त सम्भवतः उप्रत्यय कृञ् को न होता अतः कृञ् ग्रहण स्वांश में चरितार्थ हुआ, ज्ञापक का फल अन्यत्र यह है कि विपूर्वक श्वस् धातु के विधि लिङ् में शप् का 'आदि प्रभृतिभ्यः शपः' से प्राप्त लुक् गणकार्य होने से हुआ 'विश्वसेत्' प्रयोग की सिद्धि हुई। विश्वस्तपुरुष के प्रति विश्वास न करना चाहिये।

विद से लोट् आम् गुणा भाव से विदाम् से लोट् का लुक् हुआ, तदनन्तर कृ ल् का अनुप्रयोग हुआ ति—तु एरुः। उविकरण—विदाम् कृ उ तु उकार की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक संज्ञा उसके पर में रहते कृ के ऋकार का गुण रपरत्व उकार का गुण, मकार का अनुस्वार, परसवर्ण तातङ् के अभाव में विदाङ्करोतु।

२४६८ अत उत् सार्वधातुके ६।४।११०।

उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽकारस्य उत्स्यात् सार्वधातुके क्ङिति। उदिति तपर-सामर्थ्यान्न गुणः विदांकुरुतात्। विदांकुरुताम्। उतश्चेति हेर्लुक्। आभीयत्वेन लुकोऽसिद्धत्वादुत्त्वम्। विदाङ्कुरु। विदांकरवाणि। अवेत्। अवित्ताम्। सिज-भ्यस्तेति झेर्जुस्। अविदुः।

उप्रत्यय है अन्त में जिसके ऐसा कृञ् के सम्बन्धी अकार के स्थान में उत् आदेश होता है कित् या ङित् सार्वधातुक प्रत्यय पर रहते। उत् में तपरत्व के कारण उकार का विकारात्मक गुण नहीं होता है। 'विदाम् कर् उतात्' यहां ककारोत्तर अकार को उकारादेश विदां कुरुतात्। विदाङ्कुरुताम्। विदाङ्कुर्वन्तु। विदाङ्कुरु यहां हि का 'उतश्च प्रत्ययात्' से लुक् हुआ, वह आभीयत्व के कारण असिद्ध होने से सार्वधातुक परत्व बुद्धिकर उकारादेश अकार को हुआ। 'असिद्धवदत्रा-भात्' सूत्र के खण्डन पक्ष में "सार्वधातुके" भूतपूर्व सार्वधातुक परक है अतः हि का लुक् होने पर अत उत् सार्वधातुके से उत्व हो ही जायगा। वर्तमानकालिक सत्तापरक उत्वविधायक शास्त्र में सार्वधातुक नहीं है यही भाष्य तात्पर्य है।

विदाङ्कुरु। विदाम् कृ उ आ नि गुण रपरत्व उकार का गुण अवादेश णत्व विदांकरवाणि। लङ् में अवेत्। 'अविदुः। में सिजभ्यस्त से झि को जुस्।

२४६९ दश्च ८।२।७५।

धातोर्दस्य पदान्तस्य सिपि परे रुः स्याद् वा। अवेः-अवेत्। २१। अस् भुवि। अस्ति।

सिप् प्रत्यय पर रहते धातुसम्बन्धी पदान्त दकार को विकल्प से रु आदेश होता है। वस्तुतः दान्त सिबन्त पद के अन्तिम दकार को रुत्व यह व्याख्या उचित है। प्रत्ययलोप कर प्रत्ययलक्षण प्रयुक्त सिप्त्वबुद्धि से सिबन्तत्वबुद्धि आर्थसमाजग्रस्त = अर्थात् स्वतः सिद्ध ही है। इस अर्थ में 'न लुमता' का अविषय है। वह लुप्तप्रत्ययाव्यवहित पूर्व के कार्य में निषेधक प्रत्ययलक्षण का है। रुत्व पक्ष में अवेः। पक्ष में सिप् का 'हल्ङ्याब्भ्यः' से लुक् वावसाने अवेत्, अवेद्।

अस् धातु सत्तानुकूल व्यापारार्थक है। आत्मधारणजनक व्यापार को सत्ता कहते हैं। शप् का लुक् 'अस्ति'।

२४७० श्नसोरल्लोपः ६।४।१११।

श्नस्यास्तेश्चाकारस्य लोपः स्यात् सार्वधातुके क्ङिति। स्तः। सन्ति। तासस्त्योरिति सलोपः। असि। स्थः। स्थ। अस्मि। स्वः। स्मः।

'आर्धधातुके' इत्यधिकृत्य।

श्नम् प्रत्यय एवं अस् धातु के अकार का लोप होता है, कित् ङित् सार्वधातुक पर रहते। स्तः। अकार का लोप सकार का रुत्व विसर्ग। अस् अन्ति अकारलोप सन्ति। चैत्रोऽस्ति। रमेशकमलेशौ स्तः। कमलेशरमेशमयङ्काः सन्ति। त्वम् असि यहाँ 'तासस्त्योः' से सकार का लोप हुआ। युवाम् स्थः। यूयम् स्थ। अहम् अस्मि। आवाम् स्वः। वयम् स्मः। आर्धधातुक का अधिकार करके—

२४७१ अस्तेर्भूः २।४।५२।

बभूव। भविता। अस्तु। स्तात्। स्ताम्। सन्तु।

आर्धधातुक के विषय में अस् के स्थान में भू आदेश होता है।

विमर्श—'आर्धधातुके' को पर सप्तमी मानेगें तो लिट् अवस्था में अस् का द्वित्व होकर पर अस् को भूभाव होगा पूर्व अस् का श्रवण प्राप्त होगा वह न हो एतदर्थं विषय सप्तमी मान कर सर्व प्रथम भूभाव से 'बभूव' रूप की सिद्धि हुई। भाष्ये—"परसप्तम्यां परस्य भूभावे पूर्वस्य श्रवणं प्राप्नोति"। इस भाष्य से यह भी सिद्ध हुआ कि द्वित्वनिष्पन्न समुदाय में धातुत्व नहीं है। एवं द्वित्वनिष्पन्न पूर्वभाग में भी धातुत्व नहीं है, किन्तु प्रत्ययार्थान्वयानुरोधे एवं प्रकृतिपूर्ववर्त्तित्व के कारण द्वित्वनिष्पन्नसमुदायघटक उत्तरखण्ड में ही धातुत्व है।

लुट् में भविता। लृट् में भविष्यति। लोट में अस्तु, तातङ् पक्ष में अकारलोप स्तात्। स्ताम्। सन्तु।

२४७२ घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ६।४।११९।

घोरस्तेश्च एत्वं स्याद्धौ परे अभ्यासलोपश्च। आभीयत्वेन एत्वस्यासिद्धत्वाद् धेर्धिः। श्नसोरित्यल्लोपः। एधि। तातङ्पक्षे एत्वं न, परेण तातङा बाधात्, सकृद्गताविति न्यायात्। स्तात्। स्तम्। स्त। असानि। असाव। असाम। अस्तिसिच इतीट्। आसीत्। श्नसोरित्यल्लोपस्याभीयत्वेनासिद्ध-

त्यादाट्। आस्ताम्। आसन्। स्यात्। भूयात्। अभून्। सिचोस्तेश्च विद्यमानत्वेन विशेषणादीण्न।

घुसंज्ञक धातु एवं अस् धातु को हि पर रहते एकारादेश होता है एवं अभ्यास का लोप होता है। आभीयत्वप्रयुक्त एत्व के असिद्ध होने से हि को धि एवं 'श्नसोः' से अकार का लोप होता है। एधि। स्तात् यहां परत्व के कारण तातङ् ने 'सकृतद्गति' न्याय से एत्व का बाध किया अतः इस पक्ष में एत्व नहीं होता है। लङ् में 'आसीत्' यहां 'अस्तिसिचः' से अपृक्तसार्वधातुक 'त्' को ईट् आगम हुआ। आस्ताम्, यहां अकारलोप आभीयत्व के कारण असिद्ध है अतः आट् आगम हुआ। 'अभूत्' लुङ् में 'गातिस्था' से सिच् का लोप। यहां सिच् विद्यमान नहीं है, अतः 'अस्तिसिचः' से ईडागम न हुआ।

विमर्श—'असिद्धवदत्राभात्' सूत्राभाव पक्ष में उपधा को एत्व कर धिभाव ततः 'धि च' से सकारलोप करना, 'चकाधि' के लिए 'धि च' सूत्र सकारमात्र का लोप करता है सिच् की अनुवृत्ति उसमें नहीं है। आस्ताम् में लावस्थामे आट् पक्ष का समाश्रयण है।

२४७२ उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ८।३।८७

उपसर्गेभ्यः प्रादुसश्च परस्यास्तेः सस्य षः स्याद् यकारेऽचि च परे। निष्यात्। प्रादुःष्यात्। निषन्ति। प्रादुः षन्ति। यच्परः किम्? अभिस्तः। २२। मृजू शुद्धौ।

यकार एवं अच् पर रहे तो उपसर्ग एवं प्रादुस् से पर अस् के सकार को षकारादेश होता है। यथा–निष्यात्, प्रादुः ष्यात्। निषन्ति। प्रादुःषन्ति। 'अभिस्तः' यहां षकाराभाव ही है।

मृजू धातु शुद्धि में है—शुद्धिजनकव्यापारार्थक है।

२४७३ मृजेर्वृद्धिः ७।२।११४।

मृजेरिको वृद्धिः स्याद् धातुप्रत्यये परे। ❀ क्ङित्यजादौ वेष्यते ❀। व्रश्चेति षः। मार्ष्टि। मृष्टः। मार्जन्ति। मृजन्ति। ममार्ज। ममार्जतुः। ममृजतुः। ममार्जिथ। ममार्ष्ठ। मार्जिता। मार्ष्टा। मृड्ढि। अमार्ट्। अमार्जम्। अमार्जीत्। अमार्क्षीत्। २३।

रुदिर् अश्रुविमोचने।

धातुविहित प्रत्यय पर रहते मृज् के अवयव इक् की वृद्धि होती है। अजादि कित् एवं ङित् प्रत्यय पर रहते मृज् के इक् की विकल्प से वृद्धि होती है। मार्ष्टि, लट्, तिप्, शप्, लुक्, वृद्धि, रपरत्व, षकारादेश हुआ। मृष्टः, कित्वप्रयुक्त वृद्धि का अभाव, षकार ष्टुत्व। अजादि में विकल्प से वृद्धि मार्जन्ति, मृजन्ति। लिट् में ममार्ज। विकल्प से वृद्धि ममार्जतुः। ममृजतुः। ऊदित प्रयुक्त वलादिलक्षण इट् विकल्प से हुआ—ममार्जिथ। पक्ष में ममार्ष्ठ—षत्व ष्टुत्व हुआ। इट् पक्ष में मार्जिता। पक्ष में षत्व वृद्धि ष्टुत्व से मार्ष्टा। मृड्ढि यहां धिभाव षकार जश्त्व ष्टुत्व हुआ। इट् पक्ष में लुङ् में अमार्जीत्। इडभाव में अमार्क्षीत्।

रुदिर् धातु नेत्र से आँसूओं के बहाने के अर्थ में है। इर् की इत्संज्ञा होती है।

२४७४ रुदादिभ्यः सार्वधातुके ७।२।७६।

रुद्, स्वप्, श्वस्, अन्, जक्ष्, एभ्यो वलादेः सार्वधातुकस्येट् स्यात्। रोदिति। रुदितः। हौ परत्वादिटि धित्वं न। रुदिहि।

रुदादि धातुओं से पर वलादि सार्वधातुक को इट् आगम होता है। रोदिति। रुदितः। लोट् मध्यम पुरुष एकवचन में 'हुझल्भ्यः' के परत्व के कारण बाधकर इडागम हुआ अतः वहाँ धि का अभाव है—रुदिहि।

२४७५ रुदश्च पञ्चभ्यः ७।३।९८।

हलादेः पितः सार्वधातुकस्यापृक्तस्य ईट् स्यात्।

रुद् आदि पाँच धातुओं से पर हलादि अपृक्त सार्वधातुक को ईट् आगम होता है।

२४७६ अड्गार्ग्यगालवयोः ७।३।९९।

अरोदत्। अरोदीत्। अरुदिताम्। अरुदन्। अरोदः। अरोदीः। प्रकृतिप्रत्ययविशेषापेक्षाभ्याम् अडीड्भ्यामन्तरङ्गत्वाद् यासुट्। रुद्यात्। अरुदत्। अरोदीत्। १। ञिष्वप् शये। स्वपिति। स्वपितः। सुष्वाप। सुषुपतुः। सुषुपुः। सुष्वपिथ। सुष्वप्थ।

गार्ग्य एवं गालव आचार्यों के मत से रुदादि से पर हलादि पित् सार्वधातुक को अट् आगम होता है। अरोदत्। पक्ष में ईट् अरोदीत्। 'रुद्यात्' यहां यासुट् अन्तरङ्ग है, प्रकृति विशेष एवं प्रत्यय विशेष की आपेक्षा करने वाले अट् एवं ईट् वहिरङ्ग हैं। अतः अन्तरङ्गत्वात् यासुट् ही हुआ सामान्यापेक्षम् अन्तरङ्गम्। विशेषापेक्षं बहिरङ्गम् यह भी एकदेशी अन्तरङ्ग परिभाषा में पक्ष है। इस में मूल अल्पपदार्थज्ञान एवं अधिकपदार्थज्ञान है। लुङ् में इरित् प्रयुक्त अङ् विकल्प से हुआ अरुदत्। अरोदीत्। १। ञिष्वप् धातु शयन में है। स्वपिति। सुष्वाप, लिट्यभ्यासस्य' से सम्प्रसारण 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि हुई। सुषुपतुः यहां 'वचिस्वपि' से सम्प्रसारण हुआ। तब द्वित्व करना।

२४७७ सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः ८।३।८८।

एभ्यः सुप्यादेः सस्य षः स्यात्। पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते। किति लिटि परत्वात् सम्प्रसारणे षत्वे च कृते द्वित्वम्। पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने। सुषुषुपतुः। सुषुषुपुः। अकिति तु द्वित्वेऽभ्यासस्य सम्प्रसारणम्। षत्वस्यासिद्धत्वात् ततः पूर्वं हलादिशेषः, नित्यत्वाच्च। ततः सुपिरूपाभावान्न षः। सुषुष्वाप। सुस्वप्ता। अस्वपीत्। अस्वपत्। स्वप्यात्। सुप्यात्। सुषुप्यात्। अस्वाप्सीत्। २।

श्वस प्राणने। श्वसिति। श्वसिता। अश्वसीत्। अश्वसत्। श्वस्याताम्। श्वस्यास्ताम्। ह्म्यन्तेति न वृद्धिः, अश्वसीत्। अन च। अनिति। आन। अनिता। आनीत्। आनत्।

सु, वि, निर्, दुर् इनसे पर सुपि, सु, सम् इन धातुओं के सकार को षकारादेश होता है। प्रथम धातु का अर्थ उपसर्ग के अर्थ के साथ सम्बद्ध होता है अतः धातु एवं उपसर्ग निमित्तक कार्य अन्तरङ्ग है एवं कित् लिट् में सम्प्रसारण एवं तदाश्रित कार्य के बलवत् होने के कारण द्वित्व से पूर्व सम्प्रसारण कर के सुप् रूप होने से षत्व कर उसका द्वित्वप्रयुक्त सुषुपुपतुः रुप हुआ। अकित् में पूर्व द्वित्व कर अभ्याससंज्ञोत्तर द्वित्व कर षत्व हलादिशेष की दृष्टि में असिद्ध है एवं नित्य भी अतः षकारनिवृत्ति के बाद सुप्परत्वाभाव से षत्वाभाव हुआ—सुषुष्वाप।

श्वस् प्राणन में है। लुङ् में 'ह्म्यन्त' से वृद्धिका अभाव 'अश्वसीत्'। अन धातु भी प्राणन में है। लट् में अनिति। लिट् में आन। अनिता आदि। लङ् में अट् आनत्। ईट् आनीत्।

२४७९ अनितेः ८।४।१९।

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्यानितेर्नस्य णः स्यात्। प्राणिति। ४ जक्ष भक्ष-हसनयोः। जक्षिति। जक्षितः।

उपसर्गस्थ निमित्त से पर अन् धातु के नकार को णकार होता है। प्र के रेफ से उत्तर अन् के अवयव न को ण कर दीर्घ प्राणिति। जक्ष धातु में भक्ष में एवं हसन में है। रुदादित्व प्रयुक्त इ जक्षिति। जक्षितः।

२४८० अदभ्यस्तात् ७।१।४।

झस्यात् स्यादन्तापवादः। जक्षति। सिजभ्यस्तेति जुस्। अजक्षुः। अयमन्तस्थादिरित्युज्ज्वलदत्तो बभ्राम। ५। रुदादयः पञ्च गताः।

जागृ निद्राक्षये। जागर्ति। जागृतः। जाग्रति। उषविदेत्याम् वा। जागराञ्चकार। जजागार।

अभ्यस्त संज्ञक धातु से पर स्थित झप्रत्यय को अत् आदेश होता है। जक्षति। 'सिजभ्यस्त' से झि को जुस् हुआ अजक्षुः। यह धातु अन्तस्थवर्णादि है 'यक्ष' ऐसी उज्ज्वलदत्त को भ्रान्ति हुई। रुदादि पांच धातु समाप्त हुए। जागृधातु निद्राक्षय में है। जागर्ति। जागृतः। जाग्रति। 'उषविद' सूत्र से आम् प्रत्ययकर लिट् परक कृञ् का अनुप्रयोग द्वित्वादिकार्य मकार का अनुस्वार परसवर्ण जागराञ्चकार। आम् के अभाव में 'जजागार' अचो ञ्णिति से वृद्धि हुई।

२४८१ जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु ७।३।८५।

जागर्तेर्गुणः स्याद् विचिण्णल्ङिद्भ्योऽन्यस्मिन् वृद्धिविषये, प्रतिषेधविषये च। जजागरतुः। अजागः। अजागृताम्। अभ्यस्तत्वाज्जुस्।

विच् चिण् णल् ङित् से भिन्न वृद्धिविषय में एवं प्रतिषेधविषय में जागृ धातु के इक् को गुण होता है। यथा—जजागरतुः। लङ् से अजागः। बहुवचन में झि को अभ्यस्तलक्षण जुस् करके—

२४८२ जुसि च ७।३।८३।

अजादौ जुसि इगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात्। अजागरुः। अजादौ किम्? जागृयुः। आशिषि तु जागर्यात्। जागर्यास्ताम्। जागर्यासुः। लुङि अजागरीत्।

जागृ इस् इत्यत्र यण् प्राप्तः, तं सार्वधातुकगुणो बाधते, तं सिचि वृद्धिः, तां जागर्तिगुणः, तत्र कृते हलन्तलक्षणा प्राप्ता नेटीति निषिद्धा ततोऽतो हलादेरिति बाधित्वा अतो ल्रान्तस्य इति प्राप्ता ह्म्यन्तेति निषिध्यते। तदाहुः—

"गुणो वृद्धिर्गुणो वृद्धिः प्रतिषेधो विकल्पनम्।
पुनर्वृद्धिर्निषेधोतो यण्पूर्वाः प्राप्तयो नव॥ १॥ इति॥

दरिद्रा दुर्गतौ। दरिद्राति।

अजादि जुस् पर में रहते इगन्त अङ्ग के अन्त्य वर्ण को गुण होता है। अजागरुः। जागृः यहां अजादि जुस् नहीं है। आशीर्लिङ् में गुण जागर्यात्। लुङ् में अजागरीत्। यहां 'जागृ इस्' यण् प्राप्त था उसको बाध कर गुण प्राप्त था, उसको बाधकर वृद्धि प्राप्त की उसको बाधकर गुण हुआ, तब हलन्त लक्षणा वृद्धि प्राप्त हुई, उसको 'नेटि' ने निषेध किया, उसको बाधकर 'अतः' से प्राप्त वृद्धि को 'अतो-ल्रान्तस्य' ने बाध किया।

इसका वर्णन कारिका में इस प्रकार किया है—

प्रथम यण् की प्राप्ति तब गुण की प्राप्ति हुई, उसको बाधकरके वृद्धि प्राप्त हुई, उसका गुण ने बाध किया, तब फिर वृद्धि की प्राप्ति हुई, उसका भी निषेध हुआ, फिर विकल्प करके प्राप्त हुई, उसको बाधकर नित्यवृद्धि प्राप्त हुई, उसका भी निषेध हुआ, इस प्रकार नौ की प्राप्ति हुई।

दरिद्रा धातु दुर्गति में है। लट् एकवचन में दरिद्राति।

२४८३ इद् दरिद्रस्य ६।४।११४।

दरिद्रातेरिकारः स्याद् हलादौ क्ङिति सार्वधातुके। दरिद्रितः।

दरिद्रा धातु के आकार के स्थान में इकारादेश होता है, कित् या ङित् सार्वधातुक पर रहते।

२४८४ श्नाभ्यस्तयोरातः ६।४।११२।

अनयोरातो लोपः स्यात् क्ङिति सार्वधातुके। दरिद्रति। अनेकाच्त्वादाम्। दरिद्राञ्चकार। आत औ णल इत्यत्र ओ इत्येव सिद्धे औकारविधानं दरिद्रातेरालोपे कृते श्रवणार्थम्। अत एव ज्ञापकादाम्नेत्येके। ददरिद्रौ। ददरिद्रतुरित्यादि। यत्तु णलि ददरिद्रेति तन्निर्मूलमेव।

❀ दरिद्रातेरार्धधातुके विवक्षिते आलोपो वाच्यः ❀। ❀ लुङि वा ❀ सनि ण्वुलि ल्युटि च न ❀। दरिद्रिता। अदरिद्राताम्। अदरिद्रुः। दरिद्रियात्। दरिद्र्यात्। अदरिद्रीत्। इट् सकौ अदरिद्रासीत्। २। चकासृ दीप्तौ। ऋस्य अत्। चकासति। चकासाञ्चकार। धि चेति सलोपः। सिच एवेत्येके। चकाद्धि। चकाधीत्येव भाष्यम्।

कित् या ङित् सार्वधातुक पर रहते श्ना के आकार एवं अभ्यस्त के आकार का लोप होता है। दरिद्रति। लिट् में अनेकाच्लक्षण आम् हुआ दरिद्राञ्चकार। 'आत औ' सूत्र में 'ओ' कार विधान कर वृद्धि उसे 'ममौ' 'पपौ' की सिद्धि होती पुनः औकार विधान इस लिए है कि दरिद्रा

धातु के आकार का लोप कर औकार का श्रवण रहे। इस मत में ददरिद्रौ। कोई इसे निर्मूल कहता है णल् में 'ददरिद्र'। दरिद्रा धातु से जहाँ आर्धधातुक प्रत्यय विवक्षित रहे वहां आकार का लोप होता है। लुङ् पर रहते विकल्प से आकार लोप होता है, सन् में ण्वुल् में लुट् में आकार लोप नहीं होता है। दरिद्रिता। लुङ् में अदरिद्रात्। विधि लिङ् में दरिद्रियात्। आशीर्लिङ् में दरिद्र्यात् आलोप में लुङ् में अदरिद्रात्। पक्षमें इट् सक् अदरिद्रासीत्। चकासृ दीप्ति में है लट् में झ को अत् चकासति। लिट में अनेकाच्लक्षण आम् कृञ् का अनुप्रयोग चकासाञ्चकार। 'धि च' से सकार का ही लोप यह पक्ष भाष्यसम्मत है उस मत में चकाधि' रूप हुआ। एकदेशिमत यह है कि सिच का ही लोप वह करता है उस मत में 'चकाद्धि' रूप हुआ।

२४८५ तिप्यनस्तेः ८।२।४३।

पदान्तस्य सस्य दः स्यात् तिपि न त्वस्तेः। अचकात्। अचकाद्। अचकासुः।

तिप् में पदान्त सकार को दकारादेश होता है, किन्तु अस् धातु के सकार को दकारादेश नहीं होता है। अचकाद्। अचकात्।

२४८५ सिपि धातो रुर्वा ८।२।७४।

पदान्तस्य धातोः सस्य रुः स्याद् वा। पक्षे दः। अचकाः। अचकात्। ३।

शासु अनुशिष्टौ। शास्ति।

सिच् में पदान्त धातु के सकार को रु विकल्प से होता है। पक्ष में दकार होगा।

विमर्श—शासु धातु शासन में है—प्रवृत्तिपर्य्यवसायी शासेरर्थः। आज्ञा प्रदान कर आज्ञा के अनुकूल क्रियात्मक कार्य आज्ञाप्य ने किया है या नहीं? उसका भी अवलोकन पर्य्यन्त व्यापार में इसका प्रयोग होता है।

शासन का कार्य है कि कानूनों का पालन प्रजा करती है या नहीं उसका पूर्ण निरीक्षण कर नियमों का प्रजाजन से दृढ़तापूर्वक पालन कराना यह भी अनुशासन या प्रशासन का पवित्र कर्तव्य है, अध्यापक ने जो छात्र को पढाया उसका यथार्थतः छात्र ने अध्ययन किया उसका निरीक्षण करना शिक्षक की कर्तव्यकोटि में आता है, केवल पढ़ा देना इतना कर्तव्य गुरुजनों का नहीं है। प्राचीन काल में जितना पढ़ाया जाता था उसकी दूसरे दिन जांच करके आगे का ग्रन्थ पढाया जाता था। आधुनिक समय में अध्येताओं की अध्यधिक संख्या कक्षाओं में होने से यह सम्भव नहीं है। एतदर्थ मासिक प्रगति की जांच परीक्षा द्वारा की जाती है आदर्श संस्थाओं में। संस्कृत समाज में इसकी उपेक्षा से उत्तरोत्तर सुरभारती का ह्रास होता जा रहा है।

अध्यापकः शिष्यं शास्ति। राष्ट्रनायकः प्रजां शास्ति। धर्मोऽधर्मं शास्ति।

२४८७ शास इदङ् हलोः ६।४।३४।

शास उपधाया इत्स्यात् अङि हलादौ क्ङिति च। शासिवसीति षः। शिष्टः। शासति। शशास। शशासतुः। शास्तु। शिष्टात्। शिष्टाम्। शासतु।

अङ् पर रहते या हलादि कित् या ङित् पर रहते शास् धातु की उपधा में स्थित अकार को इकारादेश होता है। इकार करके 'शासि वसि' सूत्र से षकारादेश ततः ष्टुत्व शिष्टः। 'शासति' झि के झ् को अत्। 'अत उपधायाः' से वृद्धि लिट् में शशास।

२४८८ शा हौ ६।४।३५।

शास्तेः शादेशः स्याद्धौ परे। तस्याभीयत्वेनासिद्धत्वाद्धेर्धिः। शाधि। अशात्। अशिष्टाम्। अशासुः। अशाः। अशात्। शिष्यात्। 'सतिशास्ति' इत्यङ्। अशिषत्। अशासिष्यत्।

हि पर में रहते शास् को शा आदेश होता है। यह शा आदेश आभीयत्वप्रयुक्त असिद्ध है अतः हि को झलन्तलक्षण धि आदेश हुआ। शाधि। लुङ् में सतिशास्ति से च्लि को अङ् यथा अशिषत्।

दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः। एतदादयः पञ्च धातवश्छान्दसाः। दीधीते। 'एरनेकाचः' इति यण् दीध्याते।

२४८९ यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः ७।४।५३।

एतयोरन्त्यस्य लोपः स्याद् यकारे ईवर्णे च परे। इति लोपं बाधित्वा नित्यत्वाट्टेरेत्त्वम्। दीध्ये। दीधीवेवीटामिति गुणनिषेधः। दीध्याञ्चक्रे। दीधिता। दीधिष्यते। १। वेवीङ् वेतिना तुल्ये। वी गतीत्यनेन तुल्येऽर्थे वर्तते इत्यर्थः। २।

अथ त्रयः परस्मैपदिनः। षस सस्ति स्वप्ने। सस्ति। सस्तः। ससन्ति। ससास। सेसतुः। सस्तु। सधि। 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति सलोपस्यासिद्धत्वाद् 'अतो हेः' इति न लुक्। असत्। अस्स्ताम्। असः। असत्। सस्यात्। असासीत्। अससीत्। १। सन्ति। सन्तः। संस्तन्ति। २। बहूनां समवाये द्वयोः संयोगसंज्ञा नेत्याश्रित्य स्कोरिति लोपाभावात् संस्ति, संस्तः, संस्तन्ति इत्येके। वश कान्तौ। कान्तिरिच्छा। वष्टि। उष्टः। उशन्ति। वक्षि। उष्ठः। उवाश। ऊशतुः। वशिता। वष्टु। उष्टात्। उड्ढि। अवट्। औष्टाम्। औशन्। अवशम्। उश्याताम्। उश्यास्ताम्। ३।

चर्करीतञ्च। यङ्लुगन्तमदादौ बोध्यम्। ह्नुङ् अपनयने। ह्नुते। जुह्नुवे। ह्नुवीत। ह्नोषीष्ट। अह्नोष्ट॥

इत्यदादिप्रकरणम्

दीधीङ् धातु दीप्ति तथा देवन अर्थों में है। यहाँ से आगे पाँच धातु छन्दोमात्र में प्रयुक्त होते हैं। दीधीते। द्विवचन में दीधी आते, एरनेकाचः से यण् हुआ।

यकार या इवर्ण पर रहते दीधी एवं वेवी धातु के अन्त्य का लोप होता है। इस सूत्र से प्राप्त लोप को बाधकर नित्यत्व के कारण टिसंज्ञक को एत्व हुआ। दीध्ये। दीधीवेवीटाम् से

गुण का निषेध हुआ, दीध्यांचक्रे। वेवीङ् धातु वीधातु गत्याद्यर्थं प्रदर्शित है उसके तुल्यार्थक यह है।

अब तीन धातु परस्मैपदी कहते हैं। षस सस्ति वे दोनों स्वप्न अर्थ में है। 'सधि' में 'पूर्वत्रासिद्धम्' से मलोप असिद्ध है अतः हि का 'अतो हेः' से लुक् नहीं हुआ। वस्तुतः 'अतो हेः' ये अकार प्रत्यय को ही लिया जाता है अतः यहां लोप प्राप्त ही नहीं है, असिद्धत्व कथन का अनुपयोग है। संस्ति यहां अनेक व्यञ्जन अच् रहित हैं अतः यहां अनेक व्यञ्जनों के योग में दो व्यञ्जन की संयोग संज्ञा नहीं होती है इस पक्ष का समाश्रयण करके (२ को) सूत्र से यहां संयोग के आदि का लोप न हुआ।

वश धातु इच्छाजनकव्यापारार्थक है। वष्टि = इच्छति। व्रश्चेति षकारादेश, ग्रहिज्या से सम्प्रसारण। यङ्लुगन्तप्रकरण अदादिघटक समझना। छिपना अर्थ में हुङ् धातु आत्मनेपदी है। अनिट् यह है अतः वलादि आर्धधातुक में इट् का अभाव से लुङ् में अह्नोष्ट।

पं० श्रीबालकृष्णपञ्चोलि विरचित सविमर्शा रत्नप्रभा में अदादिप्रकरण समाप्त।



अथ जुहोत्यादयः

हु दानादनयोः। आदाने चेत्येके। प्रीणनेऽपीति भाष्यम्। दानञ्चेह प्रक्षेपः। स च वैधे आधारे हविषश्चेति स्वभावाल्लभ्यते। इतश्चत्वारः परस्मैपदिनः।

हु धातु दान एवं भक्षणरूप अदन में है। कोई ग्रहणार्थक यह धातु है ऐसा कहते हैं। भाष्यकार प्रीतिजनक व्यापार में इस धातु का प्रयोग करते हैं। यहां दान पद से स्वस्वत्वध्वंसपूर्वक परस्वत्वोत्पत्तिजनकव्यापाररूप लोकप्रसिद्ध दान नहीं है किन्तु प्रक्षेपार्थक दान शब्द है। प्रक्षेप=स्थापन करना। कहाँ? यह उत्थिताकांक्षा है, उसकी निवृत्त्यर्थं ग्रन्थकार कहते हैं कि शास्त्रीयविधि पूर्वक निर्मित हवनकुण्ड में मन्त्रोच्चारण पूर्वक ऋत्विग्वृन्द से आहुतिरूप में दत्त हविष् का होम करना यह अर्थ परक है। यह पूर्ववर्णितदान का प्रक्षेप अर्थ आदि 'जुहोति' आदि शब्दमर्यादालभ्य है, शब्दशक्तिस्वाभ्याव्य से। यहां से लेकर चार धातु परस्मैपदी हैं।

२४९० जुहोत्यादिभ्यः श्लुः २।४।७५।

शपः श्लुः स्यात्।

जुहोत्यादिगणपठित धातुओं से विहित शप् विकरण का श्लु होता है। प्रत्यय का अदर्शन श्लु शब्द से जहां होता है उसकी श्लु संज्ञा पूर्व में कथित है। अर्थात शप् का अदर्शनरूप लोप हुआ।

२४९१ श्लौ ६।१।१०।

धातोर्द्वे स्तः। जुहोति। जुहुतः। अदभ्यस्तादित्यत्। हुश्नुवोरिति यण्। जुह्वति।

श्लु में धातु का द्वित्व होता है। हु लट् तिप् शप् श्लु द्वित्व हु हु ह > च = जु हु गुण जुहोति। अग्निहोत्रं जुहोति, यवागुं पचति, यहां शब्दक्रम से अर्थ क्रम बलवान् है, अतः पूर्वं हविष् का पाक तदनन्तर हवन क्रम सम्पादन होता है शाब्दक्रमादार्थक्रमो बलीयान् यह मीमांसा में वर्णित है। 'जुहुतः' में सार्वधातुकमपित् एवं क्ङिति से गुणाभाव है। जुहु से पर झि के झ् को अत् आदेश एवं 'हुश्नुवोः' से यणादेश जुह्वति। जुहोषि। जुहुथः। जुहुथ। जुहोमि। जुहुवः। जुहुमः।

२४९२ भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च ३।१।३९।

एभ्यो लिट्यास्वा स्यादामि श्लाविव कार्यं च। जुहवाञ्चकार। जुहाव। होता। होष्यति। जुहोतु। जुहुतात्। हेधिः-जुहुधि। आटि परत्वादूगुणः। जुहवानि। परत्वाज्जुसि चेति गुणः। अजुहवुः। जुहुयात्। हूयात्। अहौषीत्॥ १॥

ञिभी भये। बिभेति।

भी, ह्री, भृ हु इनसे लिट् पर रहते विकल्प से आम् होता है, एवं आम् प्रत्यय पर रहते धातु को श्लु में जो कार्य होता है वह करना चाहिये। अर्थात् द्वित्व आम् की प्रकृति का होता है। हु से लिट् आम् द्वित्वादि कार्य गुण से जुहुवाम् हुआ लिट् का लुक् कृञ् का अनुप्रयोगादि कार्य जुहावाञ्चकार। पक्ष में जुहाव। अनिट् है—होता। हु धातु से पर हि को धि आदेश जुहुधि।

यण् को बाधकर परत्व के कारण गुण कर अवादेश होकर जुहवानि हुआ। 'अजुहवुः' में 'हुश्नुवोः' से यण् की अपेक्षा 'जुसि च' पर है अतः गुण हुआ। सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु से लुङ् में वृद्धि एवं 'आदेशप्रत्यययोः' से षकारादेश अहौषीत्। अहोष्यत्।

विमर्श :—यह धातु परस्मैपदी है अतः 'होष्ये' पयोग असाधु है। "स्मराग्नौ जुह्वानाः" यह आनन्द लहरी प्रयोग साधु ही है, यहां शानच् की अप्रवृत्ति होते हुए भी परस्मैपदी धातु से 'चानश्' प्रत्यय है। 'तृतीया च होः' २।३।३ सूत्र पर भाष्यकार ने कहा है कि प्रसिद्ध दानार्थक 'हु' धातु मानने पर 'विप्राय जुहोति' यह प्रयोग होने लगेगा। अतः प्रक्षेपार्थक है। अग्निप्रज्वलनार्थक काष्ठादि प्रक्षेप में अतिप्रसङ्गवारणार्थ कहा गया कि हविष् का प्रक्षेप। क्रोधादि से पाषाण प्रक्षेप में अतिप्रसङ्ग को भी हविःपदोपादान से व्यावृत्ति हुई। जुहुतः में स्थानी श्लु का शप् है अतः स्थानिवद्भाव से गुण प्रवृत्ति की शंका यहां ही करनी चाहिये। षष्ठी प्रकृत्यर्थ ही स्थानी होता है स्थानिता का अवच्छेदक धर्म शप्त्व है अत्व नहीं, अच्मात्रस्थानिक आदेशाभाव से स्थानिवद् भाव की अवः परस्मिन् से अप्राप्ति ही है। एवं शप् का श्लु परनिमित्तक भी नहीं है।

ञिभी धातु भय अर्थ में है। ञि की इत्संज्ञा लोप 'आदि ञिटुडवः' सूत्र से ञि की इत्संज्ञा हुई है। बिभेति। भी लट् तिप् शप् श्लु द्वित्वादि कार्य गुण बिभेति।

२४९३ भियोऽन्यतरस्याम् ६।४।११५।

इकारः स्याद्धलादौ क्ङिति सार्वधातुके। बिभितः। बिभीतः। बिभ्यति। बिभयाञ्चकार। बिभाय। भेता। २। ह्री लज्जायाम्। जिह्रेति। जिह्रीतः। जिह्रियति। जिह्रयाञ्चकार। जिह्राय। ३। पॄ पालनपूरणयोः।

कित् वा ङित् हलादि पित् सार्वधातुक पर रहते भी धातु के ईकार को इकार विकल्प से होता है। धातु के दीर्घ ईकार को ह्रस्व इकार पक्ष में बिभितः। पक्ष में बिभीतः। बिभ्यति में अदभ्यस्तात् से झ को अत् 'एरनेकाचः' से यण् बिभ्यति। लिट् में आम् श्लुवत् कृञ् का अनु प्रयोग बिभयाञ्चकार। पक्ष में बिभाय। भेता। भेष्यते। बिभेतु। बिभितात्। बिभीतात् आदि। बिभियात्। बिभीयात्। भीयात्। अभैषीत्। अभेष्यत्।

ह्री धातु लज्जा में है। लज्जाजनकव्यापारार्थक है। जिह्रियति झ् को अत् इयङ्। लिट् में आम् श्लुवत् कार्य जिह्रयाञ्चकार। पक्ष में जिह्राय। ह्रेता। ह्रेष्यति। जिह्रेतु। अजिह्रेत्। जिह्रियात्। ह्रीयात्। अह्रैषीत्। अह्रेष्यत्।

पॄ धातु पालन में एवं पूरण अर्थ में है।

२४९४ अर्तिपिपर्त्योश्च ७।४।७७।

अभ्यासस्य इकारान्तादेशः स्यात् श्लौ।

श्लु में ऋ धातु एवं पॄ धातु के ऋकार के स्थान में इकारादेश होता है।

२४९५ उदोष्ठ्यपूर्वस्य ७।१।१०२।

अङ्गावयवौष्ठ्यपूर्वो य ऋत् तदन्तस्याङ्गस्य उत्स्यात्। गुणवृद्धी परत्वादिमं बाधेते। पिपर्ति। उत्त्वम्। रपरत्वम्। हलि चेति दीर्घः। पिपूर्तः। पिपुरति। पपार। क्ङिति लिटि ऋच्छत्यृतामिति गुणे प्राप्ते।

अङ्ग का अवयव ओष्ठ्यवर्ण है पूर्व में जिसके ऐसा जो ऋकार वह है अन्त में जिसके ऐसा जो अङ्ग उसके अन्त्य वर्ण के स्थान में उत् आदेश होता है। गुण एवं वृद्धि वे अपने विषय में परत्व के कारण इस उकारादेशविधायक शास्त्र का बाध करते हैं। अर्थात् गुणविषय में एवं वृद्धि के विषय में उत्व बाध्य है अतः अप्रवृत्त ही रहेगा।

विमर्श—यहां ओष्ठ्यपूर्व उकार इतना ही कहते अङ्गावयव विशेषण न देते तो सम् उपसर्गपूर्वक 'ऋ गतौ' क्र्यादि से क्तप्रत्यय ईत्व करके समीर्ण होता है वहाँ उकारादेशरूप आपत्ति होती, अङ्गावयव कहने से सम् का मकार अङ्गावयव धात्ववयव नहीं है। ओष्ठस्थानजन्यवर्ण एवं ऋकार वे दोनों धात्ववयव होते हुए अङ्गावयव यहां अपेक्षित हैं। 'समीर्णः' में 'श्र्युकः क्किति' से इट् का निषेध हुआ है।

पिपर्ति पॄ लट् ति शप् श्लु द्वित्व अभ्यास संज्ञा 'अर्ति' से इकारादेश अभ्यासोत्तर ऋ को उत्व प्राप्त हुआ उसको बाधकर परत्व के कारण गुण हुआ। पिपॄ तस् उत्व, रपरत्व, कर 'हलि च' से दीर्घ हुआ पिपूर्तः। झ् को अत् पिपुरति। लिट् में पपार। पॄ-लिट् तिप् णल् अ द्वित्वादि 'अचो ञ्णिति' वृद्धि रपरत्व पपार। क्ङित् लिट् पर में रहते 'ऋच्छत्यृताम्' सूत्र से गुण प्राप्त होने पर—

२४९६ शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा ७।४।१२।

एषां क्किति लिटि ह्रस्वो वा स्यात्। पक्षे गुणः। पप्रतुः। पप्रुः। पपरतुः। पपरुः। परीता। परिता। अपिपः। अपिपूर्ताम्। अपिपरुः। पिपूर्यात्। पूर्यात्। अपारीत्। अपारिष्टाम्। ह्रस्वान्तोऽयमिति केचित्। पिपर्ति। पिपृतः। पिप्रति। पिपृयात्। आशिषि—प्रियात्। अपार्षीत्। पाणिनीयमते तु "तं रोदसी पिपृतम्' इत्यादौ छान्दसत्वं शरणम्। ४।

डुभृञ् धारणपोषणयोः।

शॄ, दॄ पॄ इनके ऋकार का ह्रस्व विकल्प से होता है क्ङित् लिट् पर रहते। ह्रस्व पक्ष में यणादेश। दीर्घ ऋकार का गुण अर् पप्रतुः, पपरतुः। पप्रुः, पपरुः। 'वॄतो वा' से विकल्प इडागम का दीर्घ से परीता। परिता। परीष्यति। परिष्यति। अपिपरुः, 'जुसि च' से गुण। अपॄ इस् ईत् वृद्धि सकारलोप दीर्घ। 'अपारिष्टाम्' यहां 'वॄतो वा' की अप्रवृत्ति ही है। बाधक सूत्र है—सिचि च परस्मैपदेषु।

कोई इसको 'पृ' ऐसा ह्रस्वान्त मानता है। वह अनिट् है। पाणिनिमत में सेट् दीर्घ ऋकारान्त पॄ है तब वेदमन्त्रघटक 'पिपृतम्' की सिद्धि छान्दसत्व से करनी होगी अर्थात् ह्रस्वादेश है।

डुकारेत्संज्ञक ञकारेत्संज्ञक भृ धातु धारण में एवं पोषण में है।

२४९७ भृञामित् ७।४।७६।

भृञ् माङ् ओहाङ् एषां त्रयाणामभ्यासस्य इत्स्यात् श्लौ। बिभर्ति। बिभृतः। बिभ्रति। बिभृध्वे। श्लुवद्भावाद् द्वित्वेत्वे। बिभरामास। बभार। बभर्थ। बभृव। बिभृहि। बिभराणि। अबिभः। अबिभृताम्। अबिभरुः। बिभृयात्। भ्रियात्। भृषीष्ट। अभार्षीत्। अभृत।

माङ् माने शब्दे च।

भृञ् माङ् ओहाङ् इन धातुओं के अभ्यास को इत् होता है श्लु के विषय में।

बिभर्ति—भृ लट् तिप् शप् श्लु द्वित्वादि अकार को इत्व, गुण रपर कार्य हुए।

बिभृतः—'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत् बोधन करने से 'क्ङिति' से गुणाभाव हुआ। 'बिभ्रति' में अदभ्यस्तात् से झि के झ् को अत् हुआ। 'बिभयाञ्चकार'–यहां 'भीह्रीभृ' से आम् श्लुवद् होने से द्वित्वादि एवं अभ्यास में स्थित अकार को इकारादेश होकर लिट् परक कृञ् के अनुप्रयोगादि कार्य हुए। पक्ष में बभार। सूत्रकार एवं भारद्वाज उभय मत से ही एक रूप 'बभर्थ'। अबिभर्' यहां तकार का लोप रेफ का विसर्ग। लङ् प्र० पु० ब० व० में अबिभरुः' यहां 'जुसि च' से गुण हुआ। 'भ्रियात्' में रिङ् एवं दीर्घाभाव।' 'भृषीष्ट' यहां 'उश्च' से किरव कर गुणाभाव। अभार्षीत् यहां हलन्तलक्षणा वृद्धि हुई। 'अभृत' में उश्च से कित्व, 'ह्रस्वादङ्गात्' से सकारलोप। यह उभय पदी है। क्रियाजन्य फल कर्तृगामि रहे वहां 'स्वरित' सूत्र से आत्मनेपदत्व। अन्यत्र पदस्मैपदत्व हुआ। माङ् धातु मान में एवं शब्द में है। 'अनुदात्त' सूत्र से यह आत्मनेपदी है।

२४९८ ई हल्यघोः ६।४।११३।

श्नाभ्यस्तयोरात ईत्स्यात् सार्वधातुके क्ङिति हलि, न तु घुसंज्ञकस्य। मिमीते। श्नाभ्यस्तयोरित्याल्लोपः। मिमाते। मिमते। प्रण्यमास्त। ६। ओहाङ् गतौ। जिहीते। जिहाते। जिहते। जहे। हाता। हास्यते। ७। ओहाक् त्यागे। परस्मैपदी। जहाति।

हलादि कित् या ङित् सार्वधातुक संज्ञक प्रत्यय पर रहते श्ना के आकार के स्थान में एवं अभ्यस्त संज्ञक धातु के अवयव आकार के स्थान में ईकारादेश होता है, किन्तु घुसंज्ञक के आकार को यह सूत्र इकारादेश नहीं करता है। आत्मनेपदी मा का लट् में 'मिमीते'' अभ्यास अकार को भृञामित् से इत्व, अभ्यासोत्तर खण्ड के मा के आकार को ईकार इससे हुआ। 'प्रण्यमास्त' में 'नेर्गद' से णकारादेश है।

ओहाङ् धातु गति में है। जिहीते। अभ्यास के अकार को इकारादेश। एवं उत्तरखण्डस्थ अकार को ईकार हुआ। 'जिहाते' यहां 'श्नाभ्यस्त' से आकार लोप 'मिमाते' की तरह हुआ।

जिहीताम्। अजिहीत। जिहेत। हासीष्ट। अहास्त। अहास्यत।

ओहाक् त्याग अर्थ में है। यह परस्मैपदी है। लट् तिप्, शप श्लु द्वित्वादि 'जहाति'।

२४९९ जहातेश्च ६।४।११५।

इत् स्याद् वा हलादौ क्ङिति सार्वधातुके। पक्षे ईत्वम्। जहितः। जहीतः। जहति।

हलादि कित् या ङित् सार्वधातुकसंज्ञक प्रत्यय पर में रहते 'हा' के आकार को ह्रस्व इकारादेश विकल्प से होता है। पक्ष में 'ई हल्यघोः' से दीर्घ ईकारादेश होता है—जहितः, जहीतः। जहति झि के झ् को अत् 'श्नाभ्यस्त' से आकारलोप।

२५०० आ च हौ ६।४।११७।

जहातेर्हौ परे आ स्यात्, चादिदीतौ। जहाहि। जहिहि। जहीहि। अजहात्। अजहुः।

हि पर में रहते हा धातु के आकार को आकारादेश होता है एवं आकार को इकार एवं ईकार दोनों आदेश होता है। सूत्र में चकार उभय इकार ईकार का समुच्चायक है, तीन रूप हुए—जहाहि, जहिहि, जहीहि। लङ् में अजहात्।

२५०१ लोपो यि ६।४।११८।

जहातेरालोपः स्याद् यादौ सार्वधातुके। जह्यात्। एर्लिङि। हेयात्। अहासीत्। डुदाञ् दाने। प्रणिददाति। दत्तः। ददति। दत्ते। ददौ। घ्वसोरिति एत्वाभ्यासलोपौ। देहि। अददात्। अदत्ताम्। अददुः। दद्यात्। देयात्। अदात्। अदुः। अदित। ६। डुधाञ् धारणपोषणयोः। दानेऽप्येके। प्रणिदधाति।

यकारादि सार्वधातुक पर रहते हा धातु के अवयव आकार का लोप होता है। जह्यात्। 'हेयात्' यहाँ एकारादेश हुआ। "अहा स् ई त्" यहाँ 'यमरम' सूत्र से सक् एवं इट् हुआ सकार का लोप दीर्घ अहासीत्।

डुदाञ् दान में है। 'ददाति' का लट् तिप् शप् श्लु द्वित्वादि। 'प्रणिददादि' यहाँ 'नेर्गद' से णकारादेश हुआ है। ददा तस् यहाँ 'श्नाभ्यस्तयोः' से आकारलोप एवं खरि च से चर्त्व दत्तः। ददा अति आकारलोप 'ददति'। आत्मनेपद में दत्ते। लिट् में दा लिट् तिप् णल्=अ 'आत औ णलः' से औकारादेश द्वित्व से ददा+औ वृद्धि ददौ। ददा+अतुस् 'आतो लोपः' से आकारलोप ददतुः। ददुः। 'देहि' 'घ्वसोः' से एत्व एवं अभ्यास का लोप हुआ। लङ् में अददात्। विधिलिङ् में दद्यात्। आशीर्लिङ् में एर्लिङि देयात्। लुङ् में 'गातिस्था' से सिच् का लोप अदात्। आत्मनेपद लुङ् में 'अदित' यहाँ 'स्थाघ्वोः' सूत्र से इकारादेश एवं सिच् को कित्व बोधनकर 'ह्रस्वादङ्गात्' से सकार का लोप गुणाभाव 'अदित'।

डुधाञ् धारण में एवं पोषण में है। कोई इसको दान में कहते है। प्रणिदधाति। यहाँ 'नेर्गद' सूत्र से णकारादेश हुआ।

२५०२ दधस्तथोश्च ८।२।३८।

द्विरुक्तस्य झषन्तस्य धाञो बशो भष् स्यात्तथयोः स्ध्वोश्च परतः। 'वचनसामर्थ्यादालोपो न स्थानिवत्' इति वामनमाधवौ। वस्तुतस्तु 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्'। धत्तः। दधति। धत्थः। धत्थ। दध्वः। दध्मः। धत्ते। धत्से। धद्ध्वे। धेहि। अधित॥ १०॥

अथ त्रयः स्वरितेतः। णिजिर् शौचपोषणयोः।

द्वित्वयुक्त झषन्त धातु के अवयव बश् को भष्भाव होता है, त, थ, स् एवं ध्वम् पर में रहते। भष्भावविधानसामर्थ्यप्रयुक्त यहां आकार के लोप को स्थानिवद्भाव नहीं होता है। यह वामन एवं माधव का मत है। वास्तविक में स्थानिवद्भावविधायक सूत्र 'अचः परस्मिन्' सपादसप्ताध्यायी है, उसकी दृष्टि में 'पूर्वत्रासिद्धम्' से त्रिपादी भष्भावविधायक 'दधस्तथोश्च' असिद्ध है, अतः स्थानिवद्भावविधायक शास्त्र इस भष्भावविधायक को देखता ही नहीं है, स्थानिवद्भाव अप्राप्त ही है। अतः वचनसामर्थ्य का वर्णन वामन, माधव का असङ्गत है।

यही सिद्धान्त मत है एतन्मूलक पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्—यह वचन अपूर्व नहीं है, किन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' से प्राप्त असिद्धत्वमूलक ही है। 'दधातस्' आकारलोप भष्भाव, जश्त्व चर्त्वं धत्तः। सूत्र में चकार से स् एवं ध्वम् का अनुकर्षण है। दधति।

लुङ् में अधात्-अधित। सिच् लोप, इकार सिच् कित् ह्रस्वादङ्गात् की प्रवृत्ति है। तीन धातु स्वरितेत् होने से उभयपदी हैं। णिजिर् शौच में एवं पोषण में है।

इर् की इत्संज्ञा एवं लोप हुआ, धातु के आदि णकार को नकारादेश हुआ। 'निज्' रूप रहा।

२५०३ निजां त्रयाणां गुणः श्लौ ७।४।७५।

निज्-विज्-विषाम् अभ्यासस्य गुणः स्यात् श्लौ। नेनेक्ति। नेनिक्तः। नेनिजति। नेक्ता। नेक्ष्यति। नेनेक्तु। नेनिग्धि।

निज्, विज्, विष् इनके अभ्यास में स्थित इक् का गुण होता है श्लु में।

'नेनेक्ति' यहां अभ्यासगुण इससे करना, अभ्यासोत्तर पुगन्तगुण कर जश्त्व से जकार का गकार एवं गकार को 'खरि च' से ककारादेश करना। 'नेनिग्धि' यहां हि को धि आदेश हुआ।

२५०४ नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके ७।३।८७।

लघूपधगुणो न स्यात्। नेनिजानि। अनेनेक्। अनेनिक्ताम्। अनेनिजुः। नेनिज्यात्। निज्यात्। अनिजत्। अनैक्षीत्। अनिक्त। १। विजिर् पृथग्भावे। वेवेक्ति। वेविक्ते। विवेजिथ। अत्र विज इडिति ङित्त्वं न, ओविजी इत्यस्यैव तत्र ग्रहणात्। णिजिविजी रुधादावपि। २। विष्लृ व्याप्तौ। वेवेष्टि। वेविष्टे। लृदित्त्वादङ्। अविषत्। तङि क्सः। अजादौ क्सस्याचीति अल्लोपः। अविक्षत। अविक्षाताम्। अविक्षन्त। ३।

अच् है आदि में जिसके ऐसा पित् जो सार्वधातुक उसके पर में रहते लघूपध गुण नहीं होता है। यथा—नेनिजानि। लुङ् में 'इरितो वा' से अङ्, पक्ष में अङ् का अभाव—अनिजत्, अनैक्षीत्। आत्मनेपद में सकारलोप अनिक्त। विजिर् पृथग् भाव में है। 'विवेजिथ' यहां ङित्त्व-प्रयुक्त गुणाभाव होना चाहिये यह शंका न करना, क्योंकि विज इट् सूत्र जो ङित्व का बोधक है उसमें इसका ग्रहण ही नहीं है, किन्तु 'ओविजी' का ही उसमें ग्रहण है।

विमर्श—'ओविजी' का ही 'विज इट्' में ग्रहण है इसमें क्या प्रमाण?, शिष्टोक्त व्याख्या इसमें प्रमाण है। तथाहि—'विज इट्' में 'गाङ्कुटादिभ्यः' से ङित् ग्रहण की अनुवृत्ति है, 'गाङ् कुटादि' सूत्र में कुटादि पद से श्रयमाणविकरणक का ही ग्रहण है, अतः विज इट् सूत्र में

भी श्रूयमाणविकरणक तुदादिगणपठित ओविजी का ही ग्रहण है, अतः इस लुप्तविकरणक जुहोत्यादिगणपठित विज् का ग्रहण नहीं है, यही ग्रन्थकार का रहस्य है।

णिजि विजी रुधादि गण में भी पठित हैं। विष्लृ व्याप्ति में है। लुङ् में अङ् अविषत्। आत्मनेपद में च्लि को क्सादेश हुआ। अविक्षत। 'क्सस्याचि' से लोप अविक्षाताम्।

अथ आगणान्ताः परस्मैपदिनश्छान्दसाश्च।

घृ क्षरणदीप्त्योः। जिघर्म्यग्निं हविषा घृतेन। भृञामित्, बहुलं छन्दसीति इत्वम्। १। हृ प्रसह्यकरणे। अयं स्रुवो अभिजिहर्ति होमान्। २। ऋ सृ गतौ।

बहुलं छन्दसीत्येव सिद्धे अतिपिपर्त्योश्चेतीत्त्वविधानादयं भाषायामपि। अभ्यासस्यासवर्ण इतीयङ्। इयर्ति। इयृतः। इयृति। आर। आरतुः। इडत्त्यर्त्ति' इति नित्यमिट्। आरिथ। अर्ता। अरिष्यति। इयाणि। ऐयः। ऐयृताम्। ऐयरुः। इयृयात्। अर्यात्। आरत्।

ससर्ति। भस भर्त्सनदीप्त्योः। बभस्ति। 'घासिभसोर्हलि च' इत्युपधालोपः। 'झलो झलि' इति सलोपः बब्धः। बप्सति। कि ज्ञाने। चिकेति। तुर त्वरणे। तुतोर्ति। तुतूर्तः। तुतुरति। धिष शब्दे। दिधेष्टि। दिधिष्टः। धन धान्ये। दधन्ति। दधन्तः। दधनति। जन जनने। जजन्ति।

इस गण की समाप्ति पर्यन्त वैदिक परस्मैपदी धातुओं का निर्देश अब करते हैं। घृ धातु क्षरण में एवं दीप्ति में हैं। मैं अग्नि को घृत से दीप्त करता हूँ = इसमें "जिघर्म्यग्निं हविषा घृतेन" 'भृञामित्' से इत् की अनुवृत्ति कर 'बहुलं छन्दसि' से यहां अभ्यास में अकार को इकारादेश हुआ। लोक में इसके रूप 'रूप 'घृतम्' 'घृणा' 'घृणिः' 'घर्म' इतने में ही प्रयोग शिष्टोक्त व्याख्यान से होता है अन्यत्र नहीं।

हृ धातु बलात्पूर्वक हरण अर्थ में हैं। यथा—यह स्रुव हवनीय हविष् का बलपूर्वक ग्रहण करता है = अयं स्रुवो अभिजिहर्ति होमान्।

ऋ धातु एवं सृ धातु गति अर्थ में है। यहां ऋ धातु को जो छान्दस है 'बहुलं छन्दसि' सूत्र से इकारादेश होता ही पुनः इत्त्वविधानार्थं 'अतिपिपर्त्योश्च' में ऋ धातु का ग्रहण सामर्थ्य से ऋधातु का ग्रहण व्यर्थ होकर इस ऋधातु का भाषा में भी प्रयोग होता है यह ज्ञापन करता है। इयर्ति यहां अभ्यास को इयङादेश हुआ। 'आरिथ' में नित्य इट्। लुङ् में आरत्। यहां 'सर्तिशास्ति' सूत्र से अङ् एवं 'ऋदृशोऽङि' से गुण हुआ है। अर्यात् में गुणोऽर्ति से गुण हुआ। सृ का ससर्ति।

भस धातु भर्त्सन एवं दीप्ति में हैं। बभस्ति। बब्धः यहां तस् के तकार का 'झषस्तथोः' से धकारादेश, उपधा लोप, झलो झलि से सलोप हुआ। कि धातु ज्ञान में है। तुर् धातु त्वरण में में हैं। तुतूर्तः हलि च से दीर्घ हुआ। धिष् धातु शब्द में है। धन धान्य अर्थ में है। जन धातु उत्पत्ति जनक व्यापार में है। जजन्ति।

२५०५ जनसनखनां सञ्झलोः ६।४।४२।

एषामाकारान्तादेशः स्याज्झलादौ सनि झलादौ क्ङिति च। जजातः। जज्ञति। जजंसि। जजान। जजायात्। जजन्यात्। जायात्। जन्यात्। १०। गा स्तुतौ। देवाञ्जिगाति सुम्नयुः। जिगीतः। जिगति। ११।

इति जुहोत्यादयः।

झलादि सन् एवं झलादि क्ङित् या ङित् प्रत्यय पर में रहते जन्, सन् खन् इनको आकार अन्तादेश होता है। जजातः। जज्ञति, 'गमहन' से उपधा लोप हुआ। 'जजायात्' में ये विभाषा से विकल्प से आत्व। जायात्। जन्यात्। गाधातु स्तुति में है। जिगाति। 'बहुलं छन्दसि' से अभ्यास अवर्ण को इकारादेश।

श्री बा० कृ० पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में जुहोत्यादि गण समाप्त ३।



अथ दिवादिप्रकरणम्

दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु। झृषन्ताः परस्मैपदिनः।

उकारेत्संज्ञक दिव धातु क्रीडा, विजय प्राप्त करने की इच्छा जनक व्यापार करना, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, इच्छा एवं गति में है। उदित्व का फल क्त्वा में विकल्प से इट् है। एवं निष्ठा में अनिडर्थ है। देवित्वा। द्यूत्वा। द्युतम्। क्रीडा में माणवका दीव्यन्ति। विजिगीषा में शत्रुं दीव्यति। द्युति का पृथक् ग्रहण से कान्ति का अर्थ इच्छा ही है। झृष् है अन्त में जिनको वैसे धातु परस्मैपदी है।

२५०६ दिवादिभ्यः श्यन् ३।१।६९।

शपोऽपवादः। 'हलि च' इति दीर्घः। दीव्यति। दिदेव। देविता। देविष्यति। दीव्यतु। अदीव्यत्। दीव्येत्। दीव्यात्। अदेवीत्। अदेविष्यत्।

षिवु तन्तुसन्ताने। परिषीव्यति। परिषिषेव। न्यषेवीत्। स्त्रिवु गतिशोषणयोः। ३ ष्ठिवु निरसने। केचिदिहेमं न पठन्ति। ४। ष्णुसु अदने। 'आदाने' इत्येके। 'अदर्शने' इत्यपरे। स्नुस्यति। सुष्णोस। ५। ष्णसु निरसने। स्नस्यति। सस्नास। ६। क्नसु ह्वरणदीप्त्योः। ह्वरणम्=कौटिल्यम्। चक्नास। ७। व्युष दाहे। वुव्योष। ८। प्लुष च। ९। नृती गात्रविक्षेपे। नृत्यति। ननर्त।

दिवादिगणपठित धातुओं से श्यन् विकरण होता है। यह शप् का बाधक है। दीव्यति 'हलि च' सूत्र से दीर्घ हुआ। श्यन् में शकार की इत्संज्ञा एवं नकार की भी इत्संज्ञा है। ङित्व-प्रयुक्त सार्वधातुक संज्ञक यहां चकार है। अदेवीत् में 'नेटि' से वृद्धि निषेध है। षिवु धातु तन्तुओं का विस्तार अर्थ में अर्थात सिलाई करने में है। परिषीव्यति यहां उपसर्गात् से षकारादेश हुआ। परिषिषेव। यहां 'स्थादिष्वभ्यासेन' इस नियम की अप्रवृत्ति है।

उसमें 'प्राक् सितात्' की अनुवृत्ति है। यहां अप्राक् सितीय है। अतः अभ्यास का षकार "परिनिविभ्यः' से होता ही है। सिवादीनां वा से विकल्प षकारादेश हुआ न्यषेवीत। न्यसेवत्। स्त्रिवु गति में एवं शोषण में है। ष्ठिवु निरसन में है। कोई इसको यहां नहीं पढ़ते है। ष्णसु-भक्षणार्थक है। कोई आदान=ग्रहण में यह है ऐसा कहते हैं। अदर्शन में भी यह है। ष्णसु निरसन में है। क्नसु कुटिलता में, एवं दीप्ति में है। व्युष दाह में है। प्लुष भी दाहार्थक है। नृती धातु गात्र=शरीर, उसके विक्षेप=चलाना इसमें है। नाचने में इसका प्रयोग है। नटो नृत्यति। ननर्त नटः।

२५०७ सेऽसिचि कृतचृतछृततृदनृतः ७।२।५७।

एभ्यः परस्य सिज्भिन्नस्य सादेरार्धधातुकस्य इड् वा स्यात्। नर्तिष्यति। नर्त्स्यति। नृत्येत्। नृत्यात्। अनर्तीत्। १०। त्रसी उद्वेगे। वा भ्राशेति श्यन् वा।

त्रस्यति। त्रसति । त्रेसतुः। तत्रसतुः । ११ ।कुथ पूतीभावे। पूतीभावो दौर्गन्ध्यम्। । १२ । पुथ हिंसायाम् । १३ । गुध परिवेष्टने । १४ । क्षिप प्रेरणे । क्षिप्यति। क्षेप्ता । १५ । पुष्प विकसने । पुष्प्यति । पुपुष्प । १६ । तिम ष्टिम ष्टीम आर्द्रीभावे । तिम्यति । स्तिम्यति । स्तीम्यति । १६ । व्रीड चोदने लज्जायाञ्च। व्रीडयति । २० । इष गतौ । २१ ।

षह षुह चक्यर्थे। चक्यर्थस्तृप्तिः । सह्यति । सुह्यति । जॄष् झॄष् वयोहानौ। जीर्यति । जजरतुः । जेरतुः । जरीता । जरिता । जीर्येत् । जीर्यात् । 'जॄस्तम्भु' इत्यङ् वा, 'ऋदृशोऽङि गुणः', अजरत् । अजारीत् । अजारिष्टाम् । झीर्यति । जझरतुः । अझारीत् ।

षूङ् प्राणिप्रसवे । सूयते । सुषुवे । 'स्वरतिसूति' इति विकल्पं बाधित्वा 'श्र्युकः किति' इति निषेधे प्राप्ते क्र्यादिनियमान्नित्यमिट्, सुषुविषे । सुषुविवहे । सोता, सविता ।

दूङ् परितापे । दूयते । दीङ् क्षये । दीयते ।

कृत-चृत-छृद-तृद-नृत इन पाँच धातुओं से पर सिज् भिन्न सकारादि आर्धधातुकसंज्ञक प्रत्यय को विकल्प से इट् आगम होता है। सूत्र में पञ्चम्यन्त, सप्तम्यन्त उभयनिर्देश से आगमित्व की अव्यवस्था प्राप्त थी, अतः "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" का समाश्रयण कर एवं उसके विशेषण को षष्ठ्यन्तत्वेन विपरिणाम करके पूर्वोक्तार्थ लाभ हुआ । लाघवार्थ सप्तम्यन्तनिर्देश है, षष्ठ्यन्त प्रयोग में मात्राकृतगौरव है। स्वरूपतः सप्तम्यन्तनिर्देश 'यस्मिन् विधौ' परिभाषा में आश्रित है अतः तदादिविधि हुई। इट्पक्ष में नर्तिष्यति। अभाव में नर्त्स्यति। 'नेटि' से वृद्धि का निषेध हुआ, लुङ् में अनर्तीत् लघूपधगुण रपरत्व हुआ।

त्रसिर् उद्वेगार्थक है, ईकार की इत्संज्ञा लोप का फल निष्ठा में है। यहां लट्, लोट्, लङ् विधिलिङ् में वा भ्राश से श्यन् विकल्प से होता है, पक्ष में शप् हुआ, रूप द्वय होते हैं। त्रस्यति, त्रसति । त्रस्यतु, त्रसतु । अत्रस्यत्, अत्रसत् । त्रस्येत्, त्रसेत् । लिट् में तत्रास । त्रेसतुः यहां 'वा जॄभ्रमुत्रसाम्' से एत्वाभ्यास लोप विकल्प से हुआ । पक्ष में तत्रसतुः । त्रेसुः, तत्रसुः ।

कुथ धातु पूतीभाव = दुर्गन्धिपना अर्थ में है।

पुथ हिंसा में है। गुध परिवेष्टन में है। क्षिप् प्रेरण में है। क्षिप्यति। अनिट् है लुङ् में अक्षैप्सीत् । पुष्प धातु विकास में है। तिम, ष्टिम एवं ष्टीम धातु आर्द्रीभाव में है। व्रीड धातु प्रेरण एवं लज्जा में है। इष गति में है। षह एवं षुह तृप्तिजनकव्यापारार्थक है। जॄष् एवं झॄष् वयोहानि में है। एत्वाभ्यास लोप कित् लिट् में विकल्प से होता है। जजरतुः, जेरतुः । यहां 'ऋच्छत्यॄताम्' से गुण करने से गुणशब्द से भावित अकार होने से 'न शसदद' से निषेध होता है अतः 'वाजॄभ्रमु' से विकल्प से एत्वाभ्यास लोप हुआ। 'वॄतो वा' से दीर्घविकल्प हुआ जरीता । पक्ष में जरिता ।

लुङ् में 'जॄस्तम्भु' से विकल्प से अङ् कर 'ऋदृशोऽङि' से गुण हुआ—अजरत् । पक्ष में अजारीत् । 'अजारिष्टाम्' यहां 'सिचि च परस्मैपदेषु' से विकल्प प्राप्त दीर्घ का बाध हुआ अतः 'वॄतो वा' की अप्रवृत्ति हुई।

षूङ् प्राणिप्रसव में है। षकार को सकारादेश होता है। सूयते। 'सुषुवे'—उवङादेश हुआ। 'सुषुविषे' यहां 'स्वरति सूति' से विकल्प इट् आगम प्राप्त है उसको बाधकर 'श्र्युकः क्किति' से निषेध प्राप्त था उसको क्रयादिनियमने बाध किया अतः नित्य इडागम ही हुआ। सोता सविता। दो रूप हुए। लुङ् में असविष्ट। असोष्ट। दूङ् परिताप में है। दूयते। दीङ् क्षय अर्थ में है। दीयते।

२५०८ दीङो युडचि क्ङिति ६।४।६३।

दीङः परस्याजादेः क्ङित आर्धधातुकस्य युट् स्यात्। ❀ वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ ❀। दिदीये।

दीङ् धातु से पर अजादि कित् या ङित् आर्धधातुक को युट् आगम होता है।

उवङ् एवं यण् कर्तव्य रहने पर क्रमशः वुक् एवं युट् सिद्ध रहते हैं।

दीङ् लिट् त एश् द्वित्व अभ्यास संज्ञा ह्रस्व कर युट् 'दिदीये' यहां युट् आभीयत्वेन असिद्ध है अतः 'एरनेकाच' से यणादेश प्राप्त हुआ किन्तु यण् कर्तव्य रहे वहां युट् आभीयत्वेन असिद्ध नहीं होता है। यहां यणादेश होता तो ईकार का अश्रवण होता। युट् की प्रवृत्ति के पूर्व यणादेश परत्व के कारण यहां प्राप्त था किन्तु नित्यत्व के कारण युट् हुआ।

२५०९ मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च ६।१।५०।

एषामात्वं स्यात् ल्यपि चकारादशित्येज्निमित्ते। दाता। दास्यते। अदास्त। अदास्थाः २८। डीङ् विहायसा गतौ। डीयते। डिड्ये २९। धीङ् आधारे। धीयते। दिध्ये। धेता ३०। मीङ् हिंसायाम्। हिंसाऽत्र प्राणवियोगः। मीयते। ३१। रीङ् श्रवणे। रीयते। ३२। लीङ् श्लेषणे।

मीञ् हिंसायाम्, डुमिञ् प्रक्षेपणे, एवं दीङ् क्षये इनको आत्व होता है, ल्यप् पर में रहते, एवं चकारकारण से शित् भिन्न एच् निमित्तक प्रत्यय विषय में। यहां एज् विषये विषय सप्तमी है अतः प्रथम आत्व की प्रवृत्ति होती है। ल्यप् का उदाहरण प्रमाय। उपादाय। प्रमातव्यम्। उपदातव्यम्। यहां प्रथम आत्व बाद में घञ्, आतो युक्। विषय सप्तमी न मानते तो एरच् होकर आत्व होता उपदा बनता 'उपादाय' न होता। प्रकृत में 'दाता' यहां तास् निमित्तक गुण से एकार प्राप्त हो सकता था अत एच्निष्ठविधेयतानिरूपिता निमित्तताख्या विषयता तास् में है। अतः पूर्व आत्व हुआ, गुण नहीं। दास्यते। अदास्त।

डीङ् धातु आकाशगमन में है। डीयते पक्षी। डिड्ये। 'एरनेकाच' से यण् आदेश हुआ। लुङ् में अडयिष्ट। धीङ् धारण में है। धीयते। दिध्ये। धेता। मीङ् हिंसा में। हिंसा पद से यहां प्राणवायुवियोगजनक व्यापार लेना। मीयते शत्रुः। रीङ् श्रवण में है। लीङ् धातु श्लेषण = आलिङ्गन अर्थ में है। लीयते। लिल्ये।

२५१० विभाषा लीयतेः ६।१।५१।

'लीयते' इति यका निर्देशो न तु श्यना। लीलीङोरात्वं वा स्याद् एज्विषये ल्यपि च। लेता। लाता। लेष्यते। लास्यते। एज्-विषये किम्? लीयते। लिल्ये। व्रीङ् वृणोत्यर्थे। व्रीयते। विव्रिये। स्वादय ओदितः।

तत्फलन्तु निष्ठानत्वम् । ३४ । पीङ् पाने । पीयते । ३५ । माङ् माने । मायते । ममे । ३६ । ईङ् गतौ । ईयते । अयांचक्रे । ३७ । प्रीङ् प्रीतौ । सकर्मकः । प्रीयते । पिप्रिये । ३८ ।

अथ परस्मैपदिनश्चत्वारः ।

शो तनूकरणे ।

क्री एवं लीङ् धातु को विकल्प से आत्व होता है, एज् विषय में या ल्यप् विषय में। सूत्र में 'लीयते' यह निर्देश दो प्रकार से उत्पन्न हो सकता है। 'सार्वधातुके यक्' सूत्र से यक् प्रत्यय का विधान से, या 'दिवादिभ्यः श्यन्' से श्यन् विकरण से। अतः यहां शङ्का होना स्वाभाविक ही है कि 'लीयते' यहां किस प्रत्यय का आचार्य ने निर्देश किया है?, इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि यक् प्रत्यय करके 'लीयते' निर्देश है। अतः लीङ् एवं क्रयादिगण पठित 'ली श्लेषणे' उभय का आत्वविधान में ग्रहण होता है। तदनुसार वृत्ति इस सूत्र की लिखी गई है। यदि श्यना निर्देश होता और दिवादिगण पठित लीङ् श्लेषणे का ही केवल ग्रहण अभिमत होता तो लाघवार्थ 'लीङः' ऐसा ही सूत्र में निर्देश करते तदनुबन्धक परिभाषा से निरनुबन्धक क्रयादि का ग्रहण न होता किन्तु यहां गुरुभूत 'लीयते' निर्देश से ज्ञापित होता है कि आचार्य को उभय धातुओं का ग्रहण अभिमत है।

लेता, लाता, लेष्यते, लास्यते। लीश्ये। लीयते, यहां एच्विषयता नहीं है अतः आत्वाभाव है। व्रीङ् धातु वरण में है। स्वादिगण में पठित धातु ओदित है इसका फल 'ओदितश्च' सूत्र से निष्ठा प्रत्यय के तकार को नकारादेश की प्रवृत्ति रूप है। पान में पीङ् है। मान में माङ् है। गति में ईङ् है। ईयते। लिट् में 'इजादेः' सूत्र से आम् गुण अयाञ्चक्रे। प्रीङ् प्रीति में सकर्मक है। प्रीयते। पिप्रिये यहां संयोगपूर्वक इकार होने से 'एरनेकाचः' से यण् की अप्राप्ति से 'अचिश्नु' से इयङादेश हुआ।

अब चार धातु परस्मैपदी हैं। शो धातु तनूकरण में है।

२५११ ओतःश्यनि ७।३।७१।

लोपः स्यात् श्यनि । श्यति । श्यतः । श्यन्ति । शशौ । शशतुः । शाता । शास्यति । 'विभाषा घ्राधेट्' इति सिचो वा लुक् । लुगभावे यमरमेति इट् सकौ । अशात् । अशाताम् । अशुः । अशासीत् । अशासिष्टाम् । १। छो छेदने । छ्यति । २ । षोऽन्तकर्मणि । स्यति । ससौ । अभिष्यति । अभ्यस्यत् । अभिससौ । ३ । दो अवखण्डने । द्यति । ददौ । प्रणिदाता । देयात् । अदात् । ४ ।

अथात्मनेपदिनः पञ्चदश । जनी प्रादुर्भावे ।

श्यन् प्रत्यय पर रहते ओकार जो धातु का अवयव है उसका लोप होता है। श्यति। लिट् में 'आदेच उपदेशे' से आत्व एवं णल् को औकारादेश द्वित्वादि वृद्धि 'शशौ'। अतुस् में 'आतोलोप इटि च' से आकार लोप शशतुः। लुङ् में 'विभाषा घ्रा धेट्' से सिच् का विकल्प से लुक्, आत्व 'अशात्', लोप के अभाव में आत्वकर सक् इट् अशा स् इ स् ई त = अशासीत। छो धातु काटना अर्थ में है। छ्यति। षो धातु अन्तकर्म = समाप्ति अर्थ में है। मूर्धन्य का दन्त्य सकारादेश ओकार

लोप 'स्यति'। अभिष्यति यहां 'उपसर्गात् सुनोति' से षकारादेश हुआ। 'अभ्यष्यत्' यहां प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि' से षत्व हुआ। 'अभिससौ' में 'स्थादिषु' नियम से षकाराभाव है। दो धातु अवखण्डन में है। ओकार का लोप द्यति। लिट् में ददौ। प्रणिदाता यहां नेर्गद से णत्व। एर्लिङि से एत्व देयात्। लुङ में सिच् का गातिस्था से लुक् अदात्।

१५ धातु अब परस्मैपदी है। जनीधातु उत्पत्त्यर्थक है। उत्पत्तिजनक व्यापार में इसका प्रयोग है या प्रकट अर्थ में भी प्रयुक्त है।

२५१२ ज्ञाजनोर्जा ७।३।७९।

अनयोर्जादेशः स्याच्छिति। जायते। जज्ञे। जज्ञाते। जज्ञिरे। जनिता। जनिष्यते। दीपजनेति वा चिण्।

शित् प्रत्यय पर में रहते ज्ञा धातु एवं जन् धातु को जादेश होता है। जायते। लिट् में जज्ञे 'गमहन्' से उपधा लोप श्चुत्व। लुङ् में च्लि को 'दीपजन' से चिण् हुआ।

२५१३ जनिवध्योश्च ७।३।३५।

अनयोरुपधाया वृद्धिर्न स्याच्चिणि ञ्णिति च कृति च। अजनि। अजनिष्ट। १। दीपी दीप्तौ। दीप्यते। दिदीपे। अदीपि। अदीपिष्ट। २। पूरी आप्यायने। पूर्यते। अपूरि। अपूरिष्ट। ३। तूरी गतित्वरणहिंसनयोः। तूर्यते। तुतूरे। ४। धूरी गूरी हिंसागत्योः। धूर्यते। दुधूरे। गूर्यते। जुगूरे। ६ घूरी जूरी हिंसावयोहान्योः। ८। शूरी हिंसास्तम्भनयोः। ९। चूरी दाहे। १०। तप ऐश्वर्ये वा। अयं धातुरैश्वर्ये वा तङ्श्यनौ लभते। अन्यदा तु शब्विकरणः परस्मैपदीत्यर्थः।

केचित्तु वाग्रहणं वृतुधातोराद्यवयवमिच्छन्ति। तप्यते। तप्ता। तप्स्यते। पतेति व्यत्यासेन पाठान्तरम्। द्युतद्यामानियुतः पत्यमानः ११। वृतु वरणे। वृत्यते। पक्षान्तरे वावृत्यते।

"ततो वावृत्यमाना सा रामशालां न्यविक्षत" इति भट्टिः। क्लिश उपतापे। क्लिश्यते। क्लेशिता। १२। काशृ दीप्तौ। काश्यते। १४। वाशृ शब्दे। वाश्यते। ववाशे। १५।

जन एवं वध धातु की उपधा की वृद्धि नहीं होती है, चिण् पर में रहते या ञित्, णित्, कृत् प्रत्यय पर रहते। अजनि। पक्ष में अजनिष्ट। दीपी धातु दीप्ति में है। अदीपि यहां च्लि को 'दीपजन' से चिण्। आप्यायन में पूरी है। लुङ् में चिण्। अपूरि। पक्ष में अपूरिष्ट। तूरी शीघ्रगमन में एवं हिंसा में है। धूरी गूरी हिंसा में एवं गति में है। घूरी जूरी हिंसा एवं वयोहानि में है। शूरी हिंसा एवं स्तम्भन में है। चूरी दाह में है।

तप धातु ऐश्वर्य अर्थ में श्यन् एवं आत्मनेपद को प्राप्त करता है। अन्यत्र शप् विकरणक परस्मैपदी ही है। कोई वा का अन्वय वृतु के आदि अवयवत्व से मानते हैं। तप्यते। तेपे। तप्ता। कोई वर्ण व्यत्यास में 'पत' धातु मानते हैं। उस मत का साधक भट्टि प्रयोग 'पत्यमानः' है। वृतु धातु स्वीकारार्थक है। वृत्यते। पक्षान्तर में

वावृत्यते। पति के रूप में वरण की इच्छावाली उस शूर्पणखा ने श्रीरामचन्द्र जी की पर्णमयी वनस्था शाला में प्रवेश किया इस अर्थ में="ततो वावृत्यमाना सा रामशालां न्यविक्षत" इस प्रयोग की 'वावृत' धातु स्वीकार करने पर उपपत्ति हुई।

विमर्श– वावृत्यमाना में कोई वा शब्द इवार्थ परक है वृत्यमाना = कामयमाना इव न तु वास्तविक पतिवरणार्थं वह आयी थी किन्तु छलनार्थ आई हुई वह थी। इस पक्ष में वा पृथक् है, 'वृत्यमाना इव' अर्थ है। अथवा पृषोदरादित्व का आश्रयण कर वावृत्यमान शब्द वृत धातु से ही सम्पन्न करना। कोषकार इसमें प्रमाण है– "वृत्तेस्तु वृत्ता वावृत्तौ" इति। कैयट ने यहां कहा है कि इस गण में अनेकाच् धातु का पाठ अनार्ष है।

क्लिश उपताप में है। क्लिश्यते। क्लेशिता। अक्लेशिष्ट।

काश्‍ृ दीप्ति में है = ज्ञान प्रकाशनार्थक है।

विमर्श—काश्यांमरणान्मुक्तिः" ज्ञाने सति मुक्तिः, अत एव 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" इस से विरोध न हुआ, अन्यथा उभय श्रुतियों का परस्पर विरोध से दोनों ही श्रुतियाँ अप्रामाणिक होतीं। ज्ञान के अधिष्ठाता आस्तिकों ने श्रीसदाशिव को माना है—"ज्ञानन्तु शङ्करादिच्छेत्"।

अतः ज्ञान के अधिष्ठाता देवता से अधिष्ठित काशी नगरी भी ज्ञान प्राप्ति में द्वार है या परम्परया कारण है, शङ्कर द्वारा "ओं नमः शिवाय" तारकमन्त्रोपदेश से यावत् कृत पाप ध्वंस एवं मध्य में भैरवी यातना ततः अज्ञान निवृत्ति ततः मोक्ष यह क्रम आस्तिक जन मानते हैं। मध्य में मृतानन्तर अङ्गुष्ठमात्र शरीर भोगायतन है इत्यादि विषय पुराणों में वर्णित है। मुक्ति ज्ञान से अन्यत्र कहीं भी मृत की होती है। यही सिद्धान्त निर्विवाद सकलजन ग्राह्य है। "प्रारब्ध-कर्मणाम् उपभोगादेव क्षयः"।

यह वचन जन्मान्तरीय कृत सञ्चितकर्मपरक है उसका उपभोग करना अत्यावश्यक एवं अनिवार्य है। एवं एतच्छरीरावच्छेदेन ज्ञानोत्पत्ति इस शरीर द्वारा ज्ञानोदय पूर्व कृत कर्म का नाश—ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !, तब भविष्यत् काल में बन्धन प्रयोजक कर्माभाव से मुक्ति सुलभ होती है। इस विषय पर शास्त्रीय चर्चा होती है, उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है। ताश्‍ृ शब्द में है। वाश्यते। ववाशे।

अथ पञ्च स्वरितेतः। मृष तितिक्षायाम्। मृष्यति। मृष्यते। ममर्ष। ममृषे। १। शुचिर् पूतीभावे। पूतीभावः = क्लेदः। शुच्यति। शुच्यते। शुशोच। शुशुचे। अशुचत्। अशोचीत्। अशोचिष्ट। २। णह बन्धने। नह्यति। नह्यते। ननाह। नेहिथ। ननद्ध। नेहे। नद्धा। नत्स्यति। अनात्सीत्। ३। रञ्ज रागे। रज्यति। रज्यते। शप आक्रोशे। शप्यति। शप्यते। ५।

अथैकादशानुदात्तेतः। पद गतौ। पद्यते। पेदे। पत्ता। पद्येत। पत्सीष्ट।

अब पाँच धातु स्वरितेत् हैं, अर्थात् उभयपदी हैं, क्रिया जन्य फल क्रिया कर्ता के प्रति गमन करें वहां आत्मनेपदी, अन्यत्र परस्मैपदी है। मृष धातु तितिक्षा = सहन करने में है "न तितिक्षा-सममस्ति साधनम्"। सहनशीलता सर्व कार्य साधिका है। भाषा में भी कहते हैं "कम खाना गम खाना"।

मृष्यति। मृष्यते। ममृषे कित्वात् गुण का अभाव है। शुचिर् धातु क्लेदार्थक पूतीभावार्थक है। दुर्गन्धिता में है। अतः 'क्लिन्ने' अर्थ में शुक्तम् यह प्रयोग होता है। क्लेद पूती भाव पदार्थ

है। इर् की इत्संज्ञाप्रयुक्त लुङ् में च्लि को अङ् 'अशुचत्'। पक्ष में 'अशोचीत्' 'नेटि' से वृद्धि न हुई। आत्मनेपद में लघूपध गुण 'आदेशप्रत्यययोः' से षकार 'अशोचिष्ट'।

णश् धातु बन्धन अर्थ में है। 'णो नः' नकारादेश हुआ। नह्यति। नह्यते। लिट् में 'अत उपधायाः' से वृद्धि 'ननाह'। एत्वाभ्यास लोप से नेहिथ। पक्ष में सेट् थल् के अभाव में 'ननद्ध' यहां न होधः से धत्व 'झषस्तथोः' से तकार को धकारादेश 'झलां जश्' से अपदान्त झल् को जश्त्व ननद्ध। आत्मनेपद में 'नेहे'। नद्धा तको धकार हकार को धकार जश्त्व। नद्धा। नत्स्यति में दकार को 'खरि च' से चर्त्व हुआ। 'अनात्सीत्' में हलन्त लक्षणा वृद्धि, 'नहो धः' से धकार जश्त्व से दकार चर्त्व से तकारादेश हुआ। आत्मनेपद में लुङ् में सकार लोप अनद्ध।

रञ्ज राग में है। 'अनिदिताम्' से नकार लोप हुआ धातु में झल् पर रहते अनुस्वार या वर्ग का पञ्चमवर्ण रहे तो उसका नकार से जन्य = उत्पन्न है ऐसा ज्ञान करना—"नकारजावनुस्वारः पञ्चमो झलि धातुषु" कारिका भाष्यवर्णित है। यहां ञकार नकार का अनुस्वार एवं परसवर्ण से हुआ है। अनिदिताम्' की दृष्टि में अनुस्वार परसवर्ण असिद्ध होने से ञकार को नकार मानकर लोप हुआ।

आत्मनेपद में रज्यते। शप् धातु विरुद्धानुमान में है अर्थात् निन्दा में या शाप देना अर्थ में प्रयुक्त है। शप्यति। शप्यते।

अत्र ११ धातु अनुदात्त इत्संज्ञक है। पद धातु गति में है। पद्यते। पेदे। एत्वाभ्यास लोप हुआ। अनिट् है—पत्ता। पत्सीष्ट।

२५१४ चिण् ते पदः ३।१।६०।

पदेश्लेश्चिण् स्यात् तशब्दे परे। प्रण्यपादि। अपत्साताम्। अपत्सत। १। खिद दैन्ये। खिद्यते। चिखिदे। खेत्ता। अखित्त। २। विद सत्तायाम्। विद्यते। वेत्ता। ३। बुध अवगमने। बुध्यते। बुबुधे। बोद्धा। भोत्स्यते। भुत्सीष्ट। अबोधि। अबुद्ध। अभुत्साताम्।४। युध सम्प्रहारे। युध्यते। युयुधे। योद्धा। अयुद्ध। कथं युध्यतीति? युधमिच्छतीति क्यच्। अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यमिति वा। ५। अनो रुध कामे। अनुरुध्यते। ६।

अण प्राणने। अण्यते। आणे। अणिता। ७। अनेति दन्त्यान्त्योऽयमित्येके। ८। मन ज्ञाने। मन्यते। मेने। मन्ता। ९। युज समाधौ। समाधिश्चित्तवृत्तिनिरोधः। अकर्मकः। युज्यते। योक्ता। १०। सृज विसर्गे। अकर्मकः। संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः। ससृजिषे। स्रष्टा। स्रक्ष्यते। लिङ्सिचाविति कित्त्वान्न गुणो नाप्यम्। सृक्षीष्ट। असृष्ट। असृक्षाताम्। ११। लिश अल्पीभावे। लिश्यते। लेष्टा। लेक्ष्यते। लिक्षीष्ट। अलिक्षत। अलिक्षाताम्। १२।

पद धातु से पर च्लिको चिण् आदेश होता है तशब्द पर में रहते। अपादि। 'अत उपधायाः' से वृद्धि अकार को आकार हुई। चिणो लुक् से तशब्द का लुक् हुआ। 'प्रण्यपादि' में नेर्गद से णकारादेश हुआ। खिद्धातु दीनता जनक व्यापारार्थक है। खिद्यते। चिखिदे। विद्धातु

सत्ता में है। आत्मधारणानुकूलव्यापार को सत्ता कहते हैं। विद्यते। एकत्व विशिष्ट वर्तमान कालिक सत्तानुकूलोव्यापारः। यह बोध हुआ। 'वेत्ता' यह अनिट् है। अतः वलादि आर्धधातुक को इडागम का अभाव है।

विमर्श—'परिवेत्ता' धर्मशास्त्र में दोष है बड़े भाई की सादी न हुई हो एवं छोटे का विवाह हुआ हो या अग्निदीक्षा दीक्षित छोटा भाई बड़े को छोड़ कर हुआ हो वहां परिवेत्ता दोष होता है। यह परिवेत्ता तृच्प्रत्ययान्त कृदन्त है, वा० रामायण में लक्ष्मण की उक्ति यह है कि 'परिवेत्ता आत्मनं मेने'। ज्येष्ठं परित्यज्य दारान् अग्निश्च ग्रहीतवान् स परिवेत्ता।

बुध अवगमनार्थक अर्थात ज्ञानार्थक है। बुध्यते। बुबुधे। 'बोद्धा' यहां तकार को धकार धकार धातु का अवयव को जश्त्व हुआ। "भोत्स्यते" यहां भष्भाव 'एकाचो वशः' से हुआ, जश्त्व से दकार, चर्त्व से तकार हुआ 'भुत्सीष्ट' यहां भी पूर्ववत जश्त्व, चर्त्व, भष्भाव हुआ। लुङ् में च्लिको चिण् गुण तलोप 'अबोधि' 'अबुद्ध' सकारलोप।

युध धातु संप्रहारार्थक है। युध्यते।

यह धातु जब आत्मनेपदी है तो 'युध्यति' यह प्रयोग कैसे हुआ? इस शङ्का के समाधानार्थ ग्रन्थकार कहते हैं कि योधनं युध् क्विप् प्रत्यय कर कृदन्त तदादित्वप्रयुक्तप्रातिपदिकसंज्ञाकर द्वितीया विभक्ति का एकवचन से युधम् से 'सुप् आत्मनः क्यच्' से क्यच् कर वह युध् करने की इच्छा करता है इस अर्थ में नाम धातु का 'युध्यति' प्रयोग है। अथवा इसी धातु का श्यन् विकरणक युध्यति ही है। चक्षिङ् के ङित् ने ज्ञापन किया है कि अनुदात्त की इत्संज्ञा निमित्तक आत्मनेपद अनित्य है। अतः यहां आत्मनेपद संज्ञक तङ् न हुआ किन्तु तिप् होकर युध्यति सः = वह युद्ध करता है इस अर्थ में प्रयोग हुआ।

अनु उपसर्ग पूर्वक रुध धातु काम = इच्छा अर्थ में आत्मनेपदी है एवं श्यन् विकरण युक्त है। अनुरुध्यते। ६। अण प्राणन में है अर्थात् जीवधारण अर्थ में है। अण्यते। आणे। अणिता। ७। कोई 'अन' ऐसा कहते हैं। ८। मन धातु ज्ञान में है। मन्यते। मेने। मन्ता। युजधातु समाधि = चित्तवृत्तिनिरोध में है। इसी का घञ् में 'योग' बनता है। अकर्मक है—चित्तवृत्तिनिरोधरूपफल-समानाधिकरण व्यापारार्थक है, फल एवं व्यापार दोनों एक अधिकरण में स्थित होने से इसका अकर्मकत्व सिद्ध हुआ। युज्यते। योक्ता। १०। सृज धातु विसर्ग = त्याग अर्थ में है। यह भी अकर्मक है। अरुण के किरणों से विकास को प्राप्त हुए कमलों से संयुक्त होता है इस अर्थ में यह वाक्य है संसृज्यते आदि। 'स्रष्टा' में 'सृजिदृशोः' से अम् आगम यण् व्रश्च से षकार तकार का ष्टुत्व से टकार हुआ। स्रक्ष्यते। यहां भी अम् आगम यण् षकार ककार षकार क्षकार हुआ। सृक्षीष्ट यहां 'लिङ् सिचौ' से किरव बोधन से अकित् में विधीयमान अम् आगम् न हुआ। 'असृष्ट' यहां सकार का लोप षकार ष्टुत्व हुआ। ११। लिश अल्पीभाव में है। लिश्यते। लेष्टा यहां षकारादेश 'व्रश्च' सूत्र से हुआ एवं ष्टुत्व। 'अलिक्षत' यहां क्स च्लिको हुआ। व्रश्च से षकार 'षढोः' से ककार षकार क्षकार।

अलिक्ष आताम् यहां 'क्सस्याचि' से लोप हुआ। अन्यथा आतो ङितः से इय् आदेश आकार को होता, लोप करने से अकार से पर आताम् का आकार नहीं है। अतः दीर्घ से कार्य निर्वाह होगा लोप न करना यह कथन असङ्गत है, इष्ट रूप की असिद्धि निवारणार्थ लोप आवश्यक ही है।

अथागणान्तात् परस्मैपदिनः।

राधोऽकर्मकाद् वृद्धावेव। एवकारो भिन्नक्रमः। राधोऽकर्मकादेव श्यन्। उदाहरणमाह-वृद्धाविति । यन्मह्यमपराध्यति=द्रुह्यति इत्यर्थः। "विराध्यन्तं क्षमेत कः" द्रुह्यन्तमित्यर्थः । राध्यत्योदनः । सिध्यतीत्यर्थः । कृष्णाय राध्यति । दैवं पर्य्यालोचयतीत्यर्थः । दैवस्य धात्वर्थेऽन्तर्भावाज्जीवत्याहिवदकर्मकत्वम् । रराध । रराधतुः । रराधिथ। 'राधो हिंसायाम्" इत्येत्वाभ्यासलोपाविह न, हिंसार्थस्य सकर्मकतया दैवादिकत्वायोगात्। राद्धा। रात्स्यति। अयं स्वादिश्चुरादिश्च। १।

व्यध ताडने। ग्रहिज्येति सम्प्रसारणम्। विध्यति। विव्याध। विविधतुः। विव्यधिथ। विव्यद्ध। व्यद्धा। व्यत्स्यति। विध्येत्। विध्यात्। अव्यात्सीत्।२। पुष पुष्टौ। पुष्यति। पुपोष। पुपोषिथ । पोष्टा। पोक्ष्यति। पुषादीत्यङ्। अपुषत्। शुष शोषणे। अशुषत्।४। तुष प्रीतौ।५। दुष वैकृत्ये।६। श्लिष आलिङ्गने। श्लिष्यति। शिश्लेष। श्लेष्टा। श्लेक्ष्यति।

दिवादिगण समाप्त होने तक अब परस्मैपदी धातु कहते हैं। अकर्मक राध धातु से ही श्यन् विकरण होता है, वहां वह अकर्मक है? इस शङ्का के समाधानार्थ ग्रन्थकार कहते हैं कि वृद्धि रूप अर्थ में राध् धातु अकर्मक है। वृद्धि उपलक्षण हैं अन्य अनेक अर्थों में राध धातु अकर्मक है। गण सूत्र में पठित एवकार भिन्न क्रम बोधक है, अर्थात् अन्यत्र उक्त वह है, उसका अन्यत्र सन्बन्ध होता है, वृद्धि शब्द के पश्चात् पठित एवकार अकर्मकात् के अनन्तर पठित जानकर यहां अर्थ हुआ।

माघमहाकाव्य—अपकार रूप द्रोह अर्थ में राध अकर्मक है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह शिशुपाल मुझे कष्ट देता है उससे मैं दुःखी नहीं हूँ किन्तु प्रजाजनों को अतिशय दुःखित करता है अर्थात् द्रोह=अपकार करता है तज्जन्य मुझे अधिक कष्ट है—यन्मह्यम् अपराध्यति=द्रुह्यति। यहां राध अकर्मक हुआ। अकर्मक के अन्यान्य उदाहरणों का पुनः पुनः प्रदर्शन ज्ञान की दृढ़ता के लिए है—यथा राध्यति ओदनः=यहां सिद्धिजनक व्यापारार्थक है=ओदन तैयार हुआ है। यहां सिद्धि रूपफल एवं व्यापार दोनों ओदन निष्ठ ही हैं, अतः अकर्मक यह है। एवं कृष्णाय राध्यति=यहां पर्यालोचनार्थक राध धातु अकर्मक ही है, यहां 'राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः' से कृष्ण की सम्प्रदान संज्ञा प्रयुक्त चतुर्थी। तात्पर्य यह है कि महान् दैवज्ञ शिरोमणि एवं परमोत्कृष्ट वैयाकरण सम्राट् श्री गर्गाचार्य नन्द को फलादेश सम्बन्धी अनेक प्रश्नोत्तर में श्रीकृष्णविषयक दैव=भाग्य उसका पर्य्यालोचन करते हैं। यहां शुभअशुभ दैवविषयक पर्य्यालोचनानुकूल व्यांपार में दैवरूप फल धातु के अर्थ में कुक्षिप्रविष्ट होने से "धात्वर्थेनोपसंग्रहात्" से सकर्मिका क्रिया अकर्मिका हुई है। कहा है कि--

"धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया"॥ इति।

अर्थात् तीन हेतुओं से सकर्मिका क्रिया अकर्मिका होती है, धातु अपना प्रसिद्ध अर्थ को न बोधन कर जहां भिन्नार्थ बोधक रहें, २—धात्वर्थ कुक्षि प्रविष्ट फल रहें, (यथा यहां)

३—प्रसिद्ध द्रव्यरूप कर्म की अविवक्षा से। प्रकृत में जीवधातुवत् राध् धातु में अकर्मकत्व है। रराध। रराधतुः। यहां 'राधो हिंसायाम्' सूत्र से एत्वाभ्यास लोप विषयिणी शङ्का न करना,

क्योंकि यह राध् धातु अकर्मक है, एवं हिंसार्थक राध् धातु सकर्मक है, अतः सकर्मकत्वाभाव प्रयुक्त यहां एत्वाभ्यास लोप नहीं हुआ। यह राध् स्वादिगण एवं चुरादिगण में भी पठित है। १।

व्यध धातु ताडनार्थक है। ताडन का अर्थ = कष्टजनक व्यापार है। विध्यति यहां 'ग्रहिज्या' से सम्प्रसारण हुआ—एवं 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप विध्यति। लिट् में 'व्यध् लिट् तिप् णल् अ' द्वित्व करके 'हलादिशेषः' को बाधकर सम्प्रसारण हुआ, तदुत्तर हलादि शेष की प्रवृत्ति हुई, 'अत उपधायाः' से वृद्धि = विव्याध। 'व्यध् अतुस्' यहां द्वित्व को बाधकर प्रबल सम्प्रसारण 'वचिस्वपि' से हुआ। सम्प्रसारणाच्च से पूर्वरूप कर विध् का द्वित्व से विविधतुः' की सिद्धि हुई। 'असंयोगात्' से कित्व प्रयुक्त गुणाभाव है। विविधुः। भारद्वाज मत में विव्यधिथ। पक्ष में विव्यद्ध। थकार को धकार धातु के धकार को जश्त्व से दकार हुआ है।

व्यद्धा। व्यत्स्यति। दकार को 'खरि च' से चर्त्व हुआ है। लुङ में 'अव्यध् स् ईत्' हलन्त-लक्षणावृद्धि धकार का दकार एवं दकार को तकार अव्यात्सीत् २।

पुष धातु पुष्टि अर्थ में है पुष्यति। पोष्टा। पोक्ष्यति। लुङ् में पुषादित्व प्रयुक्त च्लि को अङ् ङित्त्व प्रयुक्त गुणाभाव से 'अपुषत्'। शुष धातु शोषण में है। लुङ् में अङादेश 'अशुषत्'। तुष् धातु प्रीति अर्थ में है। दुष धातु विकारजनक व्यापारार्थक है। विकृति जनक व्यापार में प्रयुक्त यह है। श्लिष् धातु आलिङ्गनार्थक है। श्लिष्यति।

२५१५ श्लिषः ३।१।४६।

अस्मात् परस्यानिटश्च्लेः क्सः स्यात्। पुषाद्यङोऽपवादो न तु चिणः, पुरस्तादपवादन्यायात्।

श्लिष धातु से पर अनिट् जो च्लि उसके स्थान में क्सादेश होता है यह क्स आदेश पुषादित्व प्रयुक्त प्राप्त जो अङ् उसका बाधक है, चिण् का नहीं क्योंकि पुरस्तादपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते, नोत्तरान् = अर्थात् पूर्वपठित जो अपवाद शास्त्र वह स्वसमीपवर्ति सूत्र को बाधकर कृतकृत्य है तब वह दूरस्थ का बाध नहीं करता यह न्याय बाध्य विशेष चिन्ता पक्ष को अवलम्बन कर के यहां प्रवृत्त है, अर्थात् 'श्लिषः' सूत्र से विधीयमान क्स आदेश विचार करे गा कि मैं हूँ बाधक किस का बाध करुं इस प्रसङ्ग में समीपवर्ती सूत्र को देखा जो अङ् विधायक है उसका बाध किया, बाध करने पर अपवाद में जो बीज था निरवकाशत्व-रूप वह तो नष्ट हो गया ऐसी परिस्थिति में परत्व लक्षण भावार्थक या कर्मार्थक 'चिण् भावकर्मणोः' की प्रवृत्ति होगी यही ग्रन्थ रहस्य है। एक ही सूत्र की योग विभाग से व्याख्या करते हैं।

२५१५ आलिङ्गने ३।१।४६।

श्लिषश्च्लेरालिङ्गन एव क्सो नान्यत्र। योगविभागसामर्थ्याच्छल इगुप-धादित्यस्याप्ययं नियमः। अश्लिक्षत् कन्यां देवदत्तः। आलिङ्गन एवेति किम्? 'समश्लिषज्जतु काष्ठम्'', अङ्। प्रत्यासत्ताविह श्लिषिः। कर्मणि अनालिङ्गने सिजेव, न तु क्सः। एकवचने चिण्—अश्लेषि। अश्लिक्षाताम्। अश्लिक्षन्त। अश्लिष्ठाः। अश्लिढ्वम्। ७।

शक विभाषितो मर्षणे। विभाषित इत्युभयपदीत्यर्थः। शक्यति शक्यते हरिं द्रष्टुं भक्तः। शशाक। शेकिथ। शशक्थ। शेके। शक्ता। शक्ष्यति।

शद्यते। अशकत् । अशक्त। सेट्कोऽयमित्येके । तन्मतेनानिट्कारिकासु लृदित्पठितः। शकिता। शकिष्यति। ८। ष्विदा गात्रप्रक्षरणे। घर्मस्रुताविस्यर्थः। अयं ञीदिति न्यासकारादयः। नेति हरदत्तादयः। स्विद्यति। सिष्वेद। सिष्वेदिथ। स्वेत्ता। अस्विदत्। ९। क्रुध क्रोधे। क्रोद्धा। क्रोत्स्यति। १०। क्षुध बुभुक्षायाम्। क्षोद्धा। कथं क्षुधित इति? सम्पदादिक्विबन्तात् तारकादित्वादितच् इति माधवः। वस्तुतस्तु 'वसति क्षुधो' रितीट्। ११। शुध शौचे। शुध्यति। शुशोध। शोद्धा। १२।

षिधु संराद्धौ। ऊदित् पाठः प्रामादिकः। सिध्यति। सेद्धा। सेत्स्यति। असिधत्। १३। रध हिंसासंराध्योः। संराद्धिर्निष्पत्तिः। रध्यति। रधिजभोरचीति नुम्। ररन्ध। ररन्धतुः।

श्लिष धातु से पर अनिट् च्लि को पूर्व विभक्त सूत्रांश से क्स आदेश हो तो आलिङ्गन अर्थ में ही। अन्यत्र = अनालिङ्गन में नहीं। यह सूत्रांश नियमार्थ है। 'श्लिषेरालिङ्गने' एक ही सूत्र अष्टाध्यायी में जो पठित है, उसके दो अंश अलग अलग कर १-श्लिषः सूत्र च्लिका क्सादेशार्थ-किया, ततः २-आलिङ्गने श्लिष से पर अनिट् च्लिको क्सादेश विधानार्थ किया, पूर्व से सिद्ध ही था क्सादेश पुनः उसके विधानार्थ द्वितीयांश "प्राप्तौ सत्याम् आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय कल्प्यते" से 'आलिङ्गने' नियमार्थ है।

इससे सारांश यह सिद्ध हुआ कि आलिङ्गनार्थ श्लिष् जहां नहीं है वह अङ् ही च्लिको होगा। वहां एक सूत्र करते योग विभाग सामर्थ्य प्रयुक्त यह नियम 'शल इगुपधात्' सूत्र प्राप्त क्स का भी नियमन करेगा, अतः उससे भी अनाङ्गिनर्थ श्लिष् से पर च्लि को क्सादेश की आशा न रखना। वह क्स भी व्यावर्तक नियम का व्यावर्त्य हुआ।

सूत्रोदाहरण का प्रदर्शन करते हैं—देवदत्त ने वात्सल्य लक्षण प्रीति से कन्या का आलिङ्गन किया यहां 'श्लिषः' से अङ् को बाधकर च्लि के स्थान में क्सादेश हुआ। प्रत्युदाहरण देते हैं = जतु = लाख ने काष्ठ के साथ सम्बन्ध किया = 'समाश्लिषज्जतु काष्ठम्' यहां संयोग सम्बन्धार्थक श्लिष है अतः अङ् हुआ। अर्थात् अनालिङ्गन अर्थ है। प्रत्यासत्ति = सम्बन्ध। वृत्ति = स्थित है। अर्थात् सम्बन्ध रूप अर्थ में स्थित श्लिष है। कर्म में लुङ् लकार लायेगें एवं अनालिङ्गनार्थ श्लिष रखेंगे वहां च्लि को सिच् ही होगा, वहां 'शल इगुपधात्' से क्सादेश नहीं होगा, नियम से। एकवचन में कर्मार्थ लुङ् रहें वहां चिण् भावकर्मणोः से चिण् होता है। आश्लिक्षाताम्। आश्लिक्षन्त।

अमर्षण अर्थ में शक धातु उभयपदी है। यह भक्त हरि के साक्षात्कार करने में समर्थ है भक्तिरूप सहायक के बल से इस अर्थ में 'शक्यति' 'शक्यते'। कोई इसको सेट् मानता है उसके मत में अनिट् कारिका में 'शक्ल' लृकारेत्संज्ञक ही पठित है। शकिता। ष्विदा धातु पसीना के बहने अर्थ में है। यह ञीदित् है ऐसा न्यासकार आदि का मत है। हरदत्तादि का यह मत नहीं है। क्रुध धातु क्रोध में हैं। क्षुध धातु भोजनेच्छा जन्य व्यापार में है। यह अनिट् है—क्षोद्धा।

यहां शङ्का करते हैं कि जब यह अनिट् ही है तब 'क्षुधितः' न होकर 'क्षुब्धः' प्रयोग होना चाहिये?

क्षुध से भाव में क्विप् प्रत्यय कर प्रातिपदिक संज्ञा कर प्रथमान्त तदस्य संजातं तारकादिभ्यः सूत्र से इतच् प्रत्ययान्त 'क्षुधितः' है निष्ठा प्रत्ययान्त यह नहीं है। यह माधवाचार्य का मत है। वस्तुतः यहां 'वति क्षुधोः सूत्र से निष्ठा को इट् आगम हुआ है। पवित्रता अर्थ में शुध् धातु है। षिधु धातु सिद्धि जनक व्यापारार्थक है। यह ऊदित है ऐसा बोधन करना अज्ञान है। सिध्यति। सेद्धा लुङ् में अङ् असिधत्। रध धातु सिद्धि एवं हिंसा में। रध्यति = निष्पत्तिर्भवति। ररन्ध, ररन्धतुः यहां 'रधिजभोः' सूत्र ने नुम् आगम हुआ।

२५१६ रधादिभ्यश्च ७।२।४५।

रध्-नश्-तृप्-दृप्-द्रुह-मुष्-ष्णुह्-ष्णिह् = एभ्यो वलादेरार्धधातुकस्य वेट् स्यात्। ररन्धिथ। ररद्ध। ररन्धिव। रेध्व।

रधादि धातुओं से पर वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् होता है। ररन्धिथ। पक्ष में एत्वाभ्यास लोप रेध्व।

२५१७ नेट्यलिटि रधेः।

लिड्वर्जे इटि वधेर्नुम् न स्यात्। रधिता। रद्धा। रधिष्यति। रत्स्यति। लुङि नुम्। अनिदितामिति नलोपः अरधत्। १४। णश अदर्शने। नश्यति। ननाश। नेशतुः। नेशिथ।

लिट् सम्बन्धी इट् को छोड़ कर अन्य इट् में रध को नुम् नहीं होता है। रधिता। रद्धा, रधादिभ्यश्च से विकल्प इट् 'रधिजभोः' से विकल्प नुम् प्राप्त था निषेध हुआ, पक्ष में धत्व, जश्त्व। लुङ् में अङ् नलोप अरधत्। णश अदर्शन में है। 'णो नः' नश्यति। ननाश। नेशतुः। नेशिथ। पक्ष में नुम्।

१५१८ मस्जिनशोर्झलि ७।१।६०।

नुम् स्यात्। ननंष्ठ। नेशिव। नेश्व। नेशिम। नेश्म। नशिता। नंष्टा। नशिष्यति। नङ्क्ष्यति। नश्येत्। नश्यात्। अनशत्। प्रणश्यति।

झलादि कित या ङित्प्रत्यय पर रहते मस्ज एवं नश् धातु को नुम् होता है। प्रणश्यति— 'उपसर्गादसमासे' से णादेश। अनुस्वार। नंष्टा। 'नंष्टा' में 'नशेर्वा' से पदान्तत्वाभाव प्रयुक्त कुत्वाभाव हुआ। अतः 'नष्टं' 'नष्टि' यहां पदान्तत्वाभाव से कुत्व न हुआ। लुङ् में अनशत्, पुषादि अङ्।

२५१९ नशेः षान्तस्य ८।४।३६।

णत्वं न स्यात्। प्रनंष्टा। अन्तग्रहणं भूतपूर्वप्रतिपत्त्यर्थम्। प्रनङ्क्ष्यति। नशिष्यति। १५। तृप प्रीणने। प्रीणनं तृप्तिस्तर्पणञ्च 'नाग्निस्तृप्यति काष्ठानाम्', 'पितॄनताप्सीत्' इति भट्टिः, इत्युभयत्र दर्शनात्। ततर्पिथ। तत्रप्थ। ततर्प्थ। तर्पिता। तर्प्ता। त्रप्ता। कृषमृशस्पृशेति सिज्वा। अतर्पीत्। अत्राप्सीत्। अताप्सीत्। अतृपत्। १६।

उपसर्गस्थ निमित्त से पर षान्त नश के नकार को णकारादेश नहीं होता है। सूत्रस्थ अन्त ग्रहण क्यों किया? 'षस्य' कर पदस्य का विशेषण से तदन्तविधि से षान्तस्य पदस्य यह अर्थ लाभ होता है। अन्त ग्रहण भूतपूर्व षान्त लाभार्थ है। अर्थात् पूर्व में षकारान्त या सम्प्रति षकारान्त न रहने पर भी णकारादेशाभाव हुआ।

तृप्तिसमानाधिकरण-व्यापारवाचकत्व-प्रयुक्त प्रथमार्थ = तृप्ति में यह धातु फलसमानाधिकरण-व्यापारवाचक होने से अकर्मक है। तर्पण = तृप्तिव्यधिकरणव्यापारार्थकत्वप्रयुक्त द्वितीयार्थ में यह धातु सकर्मक है। 'नाग्निस्तृप्यति काष्ठानाम्' यहां अकर्मक है, कारण काष्ठ में सम्बन्धत्वविवक्षा से षष्ठी। 'स पितॄन् अताप्सीत्' यहां सकर्मक है। इट् पक्ष में ततर्पिथ। पक्ष में 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य०' से अम् आगम विकल्प से हुआ–ततर्पिथ, तत्रप्थ, ततर्प्थ। लुट् में भी इट् अम् विकल्प से तीन रूप हुए। लुङ् में सिच् विकल्प से हुआ, इट् विकल्प, अम् विकल्प से चार रूप हुए—१ अतर्पीत्, हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' से निषेध विकल्प इट्। —२ इट् का अभाव कर अमागम यण् वृद्धि अत्राप्सीत्। ३—अम् का अभाव वृद्धि अताप्सीत्। ४—सिच् के अभाव में अङ् अतृपत्।

दृप हर्षमोहनयोः। मोहनं गर्वः। दृप्यतीत्यादि।
"रधादित्वादिमौ वेट्कावमर्थमनुदात्तता"।

७। द्रुह जिघांसायाम्। वा द्रुहमुहेति वा घः। पक्षे ढः। दुद्रोग्ध। दुद्रोढ। दुद्रोहिथ। द्रोहिता। द्रोग्धा। द्रोढा। द्रोहिष्यति। ध्रोक्ष्यति। ढत्वघत्वयोस्तुल्यं रूपम्। अद्रुहत्।

१८। मुह वैचित्त्ये। वैचित्त्यम् = अविवेकः। मुह्यति। मुमोहिथ। मुमोग्ध। मुमोढ। मोहिता। मोग्धा। मोढा। मोहिष्यति। मोक्ष्यति। अमुहत्। १६। ष्णुह उद्गिरणे। स्नुह्यति। सुष्णोह। सुष्णोहिथ। सुष्णोग्ध। सुष्णोढ। सुष्णुहिव। सुष्णुह्व। स्नोहिता। स्नोग्धा। स्नोढा। स्नोहिष्यति। स्नोक्ष्यति। अस्नुहत्। २०। ष्णिह प्रीतौ। स्निह्यति। सिष्णेह। वृत्। रधादयः समाप्ताः। पुषादयस्तु आगणान्तादिति सिद्धान्तः। २१। शमु उपशमे।

दृप धातु हर्ष एवं गर्व अर्थ में है। तृप् एवं दृप ये दोनों धातु रधादि होने से इनको वलादि आर्धधातुक में विकल्प से इट् आगम होता है, एवं अम् के लिए ये दोनों धातु अनुदात्त हैं।

द्रुह धातु जिघांसा में है, अर्थात् नाश करने की इच्छाजनकव्यापारार्थक है। 'वा द्रुह०' से विकल्प करके घकारादेश हुआ, पक्ष में ढकारादेश 'हो ढः' से हुआ। इट् पक्ष में दुद्रोहिथ। तदभाव में घपक्ष में दुद्रोग्ध, 'झषस्तथोः' से धकारादेश, हकार को घकार लघूपधगुण जश्त्व से गकार। दुद्रोढ–यहां थकार को धकारादेश हकार को ढकारादेश ष्टुत्व से ढकार 'ढो ढे लोपः' से ढकार का लोप हुआ। द्रोहिता, पक्ष में द्रोग्धा एवं द्रोढा। द्रोहिष्यति। पक्ष में धकारादेश जश्त्व चर्त्व षत्व क्षत्व, ढत्व पक्ष में 'षढोः कः सि' भष्भाव घकार पक्ष में भी यहां रूप दो हुए किन्तु आनुपूर्वी दोनों रूपों की समान होने से एकरूपता है। ध्रोक्ष्यति। लुङ् में अङ् गुणाभाव से अद्रुहत्।

मुह धातु अविवेक अर्थ में है। थल् में इट्, उस के अभाव में घत्व वैकल्पिक, पक्ष में ढत्व से तीन रूप। लृट् में मोहिता, इट् के अभाव में धकारादेश विकल्प से पक्ष में ढकार से मोग्धा, मोढा।

मोहिष्यति । पक्ष में घत्व ढत्व का समान रूप मोक्ष्यति । लुङ् में अङ् अमुहत् । ष्णुह उद्गिरण में है । थल् में इट्, तदभाव में घत्व विकल्प से पक्ष में ढकार से तीन रूप । लुट् में तीन रूप । लृट् में २ रूप वस्तुतः तीन रूप हैं । अस्नुहत् लुङ् में । ष्णिह प्रीति में हैं । रधादि समाप्त हुआ । पुषादि गण समाप्ति तक है । अर्थात् दिवादि गण की पूर्णता तक लुङ् में अङ् के लिए पुषादि की असमाप्ति है ।

शमु धातु उपशम में है ।

२५२० शमामष्टानां दीर्घः श्यनि ७।३।७४।

शमादीनामित्यर्थः । प्रणिशाम्यति । शेमतुः । शेमिथ । शमिता । अशमत् । तमु काङ्क्षायाम् । ताम्यति । तमिता । अतमत् । दमु उपशमे । 'उपशमे' इति ण्यन्तस्य । तेन सकर्मकोऽयम्, न तु शमिवदकर्मकः । अदमत् । श्रमु तपसि खेदे च । श्राम्यति । अश्रमत् । भ्रमु अनवस्थाने । 'वा भ्राश' इति श्यन् वा । तत्र कृते 'शमामष्टानाम्' इति दीर्घः । भ्राम्यति । लुङ्यङ् अभ्रमत् । शेषं भ्वादिवत् । ५ । क्षमू सहने । क्षाम्यति । चक्षमिथ । चक्षन्थ । चक्षमिव । चक्षण्व । चक्षमिम । चक्षण्म । क्षमिता । क्षन्ता । अक्षमीत् । भ्वादिस्तु षित् ।

"अषितः क्षाम्यतेः क्षान्तिः क्षमूषः क्षमते क्षमा" । ६ ।

क्लमु ग्लानौ । क्लाम्यति । क्लामति । शपीव श्यन्यपि ष्ठिवुक्लम्वित्येव दीर्घे सिद्धे शमादिपाठो घिनुणर्थः । अङ् अक्लमत् । ७ । मदी हर्षे । माद्यति । अमदत् । शमादयोऽष्टौ गताः । ८ । असु क्षेपणे । अस्यति । आस । असिता ।

श्यन् पर रहते शमादि आठ धातुओं की उपधा का दीर्घ होता है । 'प्रणिशाम्यति' यहां दीर्घ एवं 'नेर्गद' से णकारादेश हुआ । 'शेमतुः' एत्वाभ्यास लोप हुआ । लुङ् में अङ् अशमत् । लट् लोट् लङ् विधिलिङ् में उपधादीर्घ होता है । तमु धातु आकाङ्क्षा में है । लट् में ताम्यति । तताम । तमिता । तमिष्यति । ताम्यतु । अताम्यत् । ताम्येत् । तम्यात् । अतमत् । अतमिष्यत् । 'दमु उपशमे' में 'उपशमे' ण्यन्त निष्पन्न है । शान्त करवाना अर्थ में सकर्मक है । शम की तरह यह अकर्मक नहीं है । लुङ् में अदमत् ।

श्रमु तप में एवं खेद में है । भ्रमु अनवस्थान में है—एकत्र स्थान में स्थिति के अभावार्थक है । क्षमू सहन में है । ऊकारेत् से वलादि आर्धधातुक को 'स्वरति' सूत्र से विकल्प से इट् आगम से रूपद्वय होंगे, इट् एवं तदभाव से । चक्षन्थ, अनुस्वार परसवर्ण से नकार । यह धातु क्षमू में षकार की इत्संज्ञा का अभाव है । भ्वादि गण पठित वह षित् है ।

अषित् का क्तिन् प्रत्यय से 'क्षान्तिः' रूप हुआ, यहां 'अनुनासिकस्य' से उपधादीर्घ है । क्षमूष् का 'क्षमा' रूप हुआ यहां 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' से अङ् हुआ एवं स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् का दीर्घ सन्धि है । क्लमु धातु हर्षक्षय में है । 'वा भ्राश' से श्यन् विकल्प पक्ष में शप् विकरण 'ष्ठिवुक्लमु' से दीर्घ शप् की तरह श्यन् में भी होता ही पुनः शमादि आठ धातुओं के भीतर इसका पाठ क्यों किया ? उत्तर इस शङ्का का यह है कि 'शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्' से घिनुण् = इन् शमी, शमिनौ, शमिनः के लिए यहां पाठ है । 'नोदात्तोपदेशस्य' से 'अत उपधायाः' से प्राप्त

वृद्धि का शमी आदि में निषेध हुआ है। लुङ् में अङ् अक्लमत्। हर्ष में मदी धातु का प्रयोग है। माद्यति। लुङ् में अङ् 'अमदत्'। शम् आदि आठ धातु समाप्त हुए।

असु क्षेपण अर्थ में है=फेंकना। अस्यति। आस। असिता।

२५२१ अस्यतेस्थुक् ७।४।१७।

अङि परे। आस्थत्। अस्य पुषादित्वादङि सिद्धे अस्यतिवक्तीति वचनं तङर्थम्। तङ् तूपसर्गादस्यत्यूह्योरिति वक्ष्यते। पर्यास्थत। १। यसु प्रयत्ने।

अस् धातु को अङ् पर रहते थुक् आगम होता है। आस्थत्। इसको पुषादित्व प्रयुक्त अङ् सिद्ध ही था पुनः 'अस्यति वक्ति' सूत्र से अङादेश क्यों विधान किया वह आत्मनेपदार्थ है= आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय से पूर्वस्थित च्लि को पुषादि से अप्राप्त है। यथा 'उपसर्गात् अस्ति' सूत्र से आत्मनेपद विधान कर 'पर्य्यास्थत' यहां अङ् 'अस्यति' सूत्र से ही हुआ।

यसु धातु प्रयत्न में है।

२५२२ यसोऽनुपसर्गात् ३।१।७१।

उपसर्ग पूर्व में न रहते यस् धातु से कर्त्रर्थक सार्वधातुक पर रहते श्यन् विकल्प से होता है।

२५२३ संयसश्च ३।१।७२।

श्यन् वा स्यात्। यस्यति। यसति। संयस्यति। संयसति। अनुपसर्गात् किम्? प्रयस्यति। जसु मोक्षणे। जस्यति। तसु उपक्षये। दसु च। तस्यति। अतसत्। दस्यति। अदसत्। ५। वसु स्तम्भे। वस्यति। ववास। ववसतुः। न शसददेति निषेधः। बशादिरयमिति मते तु बेसतुः। बेसुः। ६। व्युष विभागे। अयं दाहे पठितः। अर्थभेदेन त्वकर्थं पुनः पठ्यते। अव्युषत्। ओष्ठ्यादिः दन्त्यान्तोऽयम्। व्युसतीत्यन्ये। अयकारं बुस इत्यपरे। ७। प्लुष दाहे। अप्लुषत्। पूर्वत्र पाठः सिजर्थ इत्याहुः तद्भ्वादिपाठेन गतार्थमिति सुवचम्। ८। विस प्रेरणे। विस्यति। अविसत्। ६। कुस संश्लेषणे। अकुसत्। १०। बुस उत्सर्गे। मुस खण्डने। १२। मसी परिणामे। परिणामो विकारः। समी इत्येके। १३। लुठ विलोडने। १४। उच समवाये। उच्यति। उवाच। ऊचतुः। मा भवन् उचत्। १६। भृशु भ्रंशु अधः पतने। बभर्श। अभृशत्। अनिदितामिति नलोपः, भ्रश्यति। अभ्रशत्। १७। वृश वरणे। वृश्यति। अवृशत्। १८। कृश तनूकरणे। कृश्यति। १६। ञितृषा पिपासायाम्। २०।

संपूर्वक यस् धातु को श्यन् विकरण विकल्प से होता है। यस्यति। पक्षमे शप् यसति। यहाँ 'यसोऽनुपसर्गात्' से विकल्प हुआ। संपूर्वक यस् को विकल्प से श्यन् इष्ट है पक्ष में शप् उदाहरण—संयस्यति। संयसति। प्र परा आदि उपसर्ग पूर्वक यस् को नित्य दिवादित्व प्रयुक्त श्यन् हुआ। जसु मोक्षण में है। तसु उपक्षय में है। दसु भी उपक्षय में है। वसु स्तम्भ में है। 'ववसतुः' यहाँ

एत्वाभ्यास लोप न हुआ, 'न शसदद' सूत्र से निषेध होने से। कोई वशादि इनको मानकर एत्वाभ्यास लोप से बेसतुः मानता है प्रयोग। व्युष् विभाग में है। यह दाह में पठित है। अर्थभेद से लुङ् में अङ् के लिए पुनः यहाँ यह पढ़ा है। ओष्ठ्य अक्षर है आदि में एवं दन्त्य अक्षर अन्त में है ऐसा यह धातु है। कोई यकार रहित बुस पढ़ता है। प्लुष दाह अर्थ है। प्रथम पठित को लुङ् में सिच् यहाँ पाठ से अङ्। यह दोनों प्रयोजन भ्वादि पाठ से सिद्ध होते है। यहां इसका पाठ व्यर्थ है। प्रेरण में बिस् है। संश्लेषण में कुस् है। त्याग में बुस है। खण्डन में भुस् है। विकार में मसी है। समी भी इसी अर्थ में कोई कहते हैं। लुठ मन्थनार्थक है। समवाय में उच है। अधः पतन में भ्रंशु एवं भ्रंशु धातु है। भ्रश्यति में नलोप हुआ। वृश वरण में है। दुर्बल होने में कृश है। पानविषयक इच्छा में जितृषा है।

हृष तुष्टौ। श्यन्नङौ भौवादिकाद् विशेषः। २१। रुष रिष हिंसायाम्। तीषसहेति वेट्। रोषिता। रोष्टा। रेषिता। रेष्टा। २३। डिप क्षेपे। २४। कुप क्रोधे। २५ गुप व्याकुलत्वे। २६। युपु रुपु लुपु विमोहने। युप्यति। रुप्यति। लुप्यति। लोपिता। लुप्यतिः सेट्कः, अनिट्कारिकासु लिपिसाहचर्यात् तौदादिकस्यैव ग्रहणात्। २६ लुभ गार्ध्ये। गार्ध्यम् = आकाङ्क्षा। तीषसहेति वेट्। लोभिता। लोब्धा। लोभिष्यति। लुभ्येत्। लुभ्यात्। अलुभत्। भ्वादेरवृत्क्तत्वाल्लोभति इत्यपीत्याहुः। ३०। क्षुभ सञ्चलने। क्षुभ्यति। ३१। णभ तुभ हिंसायाम्। क्षुभिनभितुभयो द्युतादौ क्र्यादौ च पठ्यन्ते, तेषां द्युतादित्वादङ् सिद्धः। क्र्यादित्वात् पक्षे सिज्भवत्येव। इह पाठस्तु श्यनर्थः। ३३। क्लिदू आर्द्रीभावे। क्लिद्यति। चिक्लेदिथ। चिक्लेत्थ। चिक्लिदिव। चिक्लिद्व। चिक्लिदिम। चिक्लिद्म। क्लेदिता। क्लेत्ता। ३४। ञिमिदा स्नेहने। मिदेर्गुणः, मेद्यति। अमिदत्। द्युतादि-पाठादेवामिदत्, अमेदिष्टेति सिद्धे इह पाठोऽमेदीदिति मा भूदिति। द्युतादिभ्यो बहिरेवात्मनेपदिषु पाठस्तूचितः। ३५। ञिक्ष्विदा स्नेहनमोचनयोः। ३६। ऋधु वृद्धौ। आनर्ध। आर्धत्। ३७। गृधु अभिकाङ्क्षायाम्। अगृधत्। वृत्। पुषादयो दिवादयश्च वृत्ताः। केचित्तु पुषादिसमाप्त्यर्थमेव वृत्करणं दिवादिस्तु भ्वादिवदाकृतिगणः। तेन 'क्षीयते' 'मृग्यति' इत्यादिसिद्धिरित्याहुः।

इति दिवादिप्रकरणम्

हृष धातु प्रसन्नताजनक व्यापार में है। भ्वादिगण में भी यह पठित है, किन्तु दिवादि में इसका पाठ करने से श्यन् विकरण होता है, एवं लुङ् में च्लि के स्थान में अङ् आदेश होता है यही विशेष है। रुष् एवं रिष् धातु हिंसा में है = प्राणवियोगजनक व्यापार में। लुट् में तादि आर्धधातुक प्रत्यय को 'तीष सह' सूत्र से विकल्प से इडागम हुआ। रोषिता, रोष्टा, रेषिता, रेष्टा। निन्दा में डिप धातु है। कुप धातु क्रोध में है।

गुप् धातु व्याकुलताजनक व्यापार में है। युपु रुपु लुपु विमोहन में है। लोपिता यह सेट् है। तुदादिगण पठित लुप् धातु अनिट् है लिप् साहचर्य से। लुभ आकाङ्क्षा में है। तादि आर्धधातुक में विकल्प से इट्—लोभिता, लोब्धा। लुङ् में अङ् अलुभत। भ्वादिगण असमाप्त होने से पक्ष में

शप् विकरण, गुण से 'क्षोभति' आदि रूप भी होते हैं। क्षुभ धातु सञ्चलन में है। णभ तुभ हिंसा में है। क्षुभि नभि तुभि द्युतादि में क्रयादि में पठित है, उनका द्युतादित्वप्रयुक्त अङ् सिद्ध है। क्रयादि पाठ से श्ना को सिच् होता है। यहाँ पाठ श्यन् विकरणार्थ मात्र के लिए है।

क्लिदू आर्द्रीभावे। ऊकार की इत् संज्ञाप्रयुक्त 'स्वरति' सूत्र से विकल्प से वलादि आर्धधातुक को इडागम होता है। ञिमिदा स्नेहन में है। मेद्यति में 'क्ङिति' से प्राप्त निषेध को बाधकर 'मिदेर्गुणः' सूत्र से गुण हुआ। लुङ् में 'अमिदत्' द्युतादि में पाठ करने से ही 'अमिदत्' एवं 'अमेदिष्ट' की सिद्धि होती यहां इसका पाठ केवल 'अमेदीत्' प्रयोग न हो जाय एतदर्थं किया है। द्युतादि से बहार इसका पाठ आत्मनेपदी में करते कोई दोष न होता यह क्रम सर्वथा उचित है। यहां पाठ से अङ् होकर 'अमिदत्' बनता। आत्मनेपद में पाठ से केवल 'अमेदिष्ट' होता, व्यावर्त्य कोई रूप न रहता।

ञिक्ष्विदा स्नेहन एवं मोचनार्थक है। ऋधु धातु वृद्धिजनक व्यापारार्थक है। 'आनर्ध' में 'इजादेश्च' से नुम् हुआ। आर्धत् में अङ् 'आटश्च' से वृद्धि है। गृधु अभिकाङ्क्षा में है। लुङ् में अङ् गुणाभाव से अगृधत्। पुषादि समाप्त एवं दिवादिगण समाप्त है, कोई पुषादि समाप्ति के लिए यहां वृत् है दिवादि भ्वादि तरह असमाप्त ही है, आकृतिगण है अतः 'क्षीयते' एवं 'मृग्यति' आदि प्रयोग हुए हैं।

पं० श्री बालकृष्ण पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में दिवादि प्रकरण समाप्त।



अथ स्वादिप्रकरणम्

षुञ् अभिषवे। अभिषवः=स्नपनं पीडनं स्नानं सुरासन्धानञ्च। तत्र स्नानेऽकर्मकः।

षुञ् धातु का अर्थ अभिषव है, अभिषव का अर्थ है, स्नपन, पीडन, स्नान एवं सुरा का अनुसन्धान = उत्पादन प्रकार अर्थ है। स्नपन = स्नान करवाना अर्थ में सकर्मक है एवं स्नान करना इस अर्थ में यह धातु अकर्मक है। 'सुरासन्धान' समस्तपद है यहां। धातु के आदि मूर्धन्यषकार को 'धात्वादेः' सूत्र से सकारादेश हुआ। ञकारेत्संज्ञक होने से 'स्वरित' सूत्र से क्रियाजन्य धात्वर्थतावच्छेदक फल क्रिया कर्ता के प्रति गमनशील रहे वहां आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय लकार के स्थान में होते हैं। अन्यत्र परस्मैपद संज्ञक प्रत्यय लकार के स्थान में होते हैं। यह अर्थतः उभयपदी सिद्ध हुआ। सु आदि में रहने से इस प्रकरण का नाम स्वादि प्रकरण हुआ। यहां कर्त्रर्थक सार्वधातुक पर में रहते 'कर्तरि शप्' सूत्र से शप् विकरण प्राप्त है। उसको बाधनार्थ वक्ष्यमाण सूत्र 'श्नु' प्रत्यय करता है।

२५२४ स्वादिभ्यः श्नुः ३।१।७३।

सुनोति। सुनुतः। हुश्नुवोरिति यण्, सुन्वन्ति। सुन्वः। सुनुवः। सुन्वहे। सुनुवहे। सुषाव। सुषुवे। सोता। सुनु। सुनवानि। सुनवै। सुनुयात्। सूयात्। स्तुसुधूञ्भ्य इतीट्। असावीत्। असोष्ट। अभिषुणोति। अभ्यषुणोत्। अभिसुषाव।

स्वादिगणपठित धातुओं से श्नुविकरण प्रत्यय होता है कर्तृरूपार्थक सार्वधातुकप्रत्यय पर रहते। यह शप् का बाधक है। श्नु में आदि शकार की 'लशकु' से इत् संज्ञा एवं लोप हुआ, 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' से नुविकरण की सार्वधातुक संज्ञा हुई, 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वद् भाव हुआ। अतः 'सु' प्रकृति के उकार का 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से प्राप्त गुण का 'क्ङिति' से निषेध हुआ एवं तिप् निमित्तक नु के उकार का गुण होकर—'सुनोति' सिद्ध हुआ। सुनुतः में गुणनिषेध है। 'सुन्वन्ति' में 'हुश्नुवोः' सूत्र से यणादेश हुआ। सुनोषि। सुनुथः। सुनुथ। सुनोमि। सुन्वः सुनुवः। सुन्मः। सुनुमः। यहां 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' से उकार का विकल्प से लोप हुआ है। आत्मनेपद में—सुनुते, सुन्वाते, सुन्वते। सुनुषे, सुन्वाथे सुनुध्वे, सुन्वे, सुन्वहे, सुनुवहे सुन्महे, सुनुमहे।

लिट् में सु लिट्, तिप्, णल्—अ द्वित्वादि कार्य करके 'अचोञ्णिति' से वृद्धि 'आदेशप्रत्यययोः' से षकारादेश–सुषाव, सुषुवतुः सुषुवुः। सुषविथ सुषोथ सुषुवथुः सुषुव। सुषाव, सुषव सुषुविव सुषुविम। सोता। सोष्यति सुनोतु सुनुतात्। मध्यमपुरुष एकवचन में 'उतश्च प्रत्ययात्' से हिकालोप 'सुनु' 'सुनवानि' यण् को बाधकर परत्वात् गुण अवादेश। आत्मनेपद में लोट् में सुनुताम्, सुन्वाताम्, उत्तम पुरुष में इट् एत्व ऐकार गुण अवादेश सुनवै। सुनुयात्। सूयात् में 'अकृत्' से दीर्घ। सोषीष्। लुङ् में 'स्तुसुधूञ्' सूत्र से सिच् को इडागम 'सिचि वृद्धि' से वृद्धि

हुई 'इट ईटि' से लोप आवादेश असावीत । आत्मनेपद में असोष्ट । असोष्यत । असोष्यत ।

'अभिषुणोति' यहां 'उपसर्गात् सुनोति' से षकारादेश कर 'अट् कुप्वाङ्' से णकारादेश हुआ । 'अभ्यषुणोत्' यहां 'अडभ्यासव्यवायेऽपि' से षकारादेश 'स्थादिषु' नियम से षकारादेशाभाव से अभिसुषाव ।

अभ्यासोत्तर सकार को 'आदेशप्रत्यययोः' से षकारादेश हुआ ।

२५२५ सुनोतेः स्यसनोः ८।३।११७।

स्ये सनि च परे सुनः षो न स्यात् । विसोष्यति । १ । षिञ् बन्धने । सिनोति । विषिनोति । सिषाय । सिष्ये । सेता । २ । शिञ् निशाने । तालव्यादिः । शेता । ३ । डुमिञ् प्रक्षेपणे । मीनातिमिनोतीत्यात्त्वम् । ममौ । ममिथ । ममाथ । मिम्ये । माता । मीयात् । मासीष्ट । अमासीत् । अमासिष्टाम् । अमास्त । ४ । चिञ् चयने । प्रणिचिनोति ।

उपसर्ग से पर सुञ् धातु के अवयव सकार का षकारादेश नहीं होता है स्यप्रत्यय या सन् प्रत्यय पर रहते । 'उपसर्गात् सुनोति' का यह बाधक है । विसुनोति ।

षिञ् धातु बन्धनार्थक हैं । आदि षकार का सकारादेश, ञकार की इत्संज्ञा सिनोति । विसिनोति । लिट् में सिषाय । आत्मनेपद में 'एरनेकाच्' से यणादेश 'सिष्ये' 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व । सेता । सेष्यति । सेष्यते । सिनोतु । सिनुताम् । असिनोत । असिनुत । सिनुयात । सिन्वीत । सीयात् । सेषीष्ट । असैषीत । असेष्ट । असेष्यत । असेष्यत ।

शिञ् निशान में है तीक्ष्णीकरण जन्य व्यापार में । तालव्य शकार आदि अवयव है । अनिट् है 'शेता' आदि । डुमिञ् प्रक्षेपण में है । मिनोति । लिट् में 'मीनातिमिनोति' सूत्र से इकार को आकारादेश हुआ एज् विषय में 'मा' स्वरूप बना । णल् को 'आत औ णलः' से औकारादेश द्वित्व वृद्धिरेचि ममौ । ममा । अतुस् 'आतो लोपः' सूत्र से आकार का लोप ममतुः । ममुः । भारद्वाजमुनि मत में इट् कर 'आतो लोप इटि च' से आकार के लोप से ममतुः । ममुः । भारद्वाजमुनि मत में इट् का 'आतो लोप इटि च' से आकार के लोप से 'ममिथ' पक्ष में इट् का सूत्रकार मत में अभाव से ममाथ । 'मिम्ये' यहां 'एरनेकाच्' से यण्।

माता । माता । मास्यति । मास्यते । मिनोतु । मिनुताम् । अमिनोत । अमिनुत । मिनुयात । मिन्वीत । मीयात् । मासीष्ट । लुङ् मे आत्वकर अमास् ईत् यहां 'यमरम' से सक् आगम एवं सिच् को इडागम 'अमास् इस् ईट्' सकार का लोप दीर्घ अमासीत् । अमासिष्टाम् । अमास्त ।

चिञ् धातु चयन में है बटोरना राशीकरण करना = अनेकत्र आनीय एकत्र राशीकरणानुकूलो व्यापारः-चिधात्वर्थं है 'पुष्पाणि चिनोति वृक्षेभ्यः फलानि चिनोति' । 'प्रणिचिनोति' यहां 'नेर्गद' से णकारादेश 'नि' के अवयव नकार को हुआ । चिनोति । चिनुतः । चिन्वन्ति । चिनोषि । चिनुथः । चिनुथः । चिनोमि । चिन्वः चिनुवः । चिन्मः चिनुमः ।

२५२६ विभाषा चेः ७।३।५८।

अभ्यासात् परस्य चिञः कुत्वं वा स्यात् सनि लिटि च । प्रणिचिकाय । चिचाय । चिकये । चिच्ये । अचैषीत् । अचेष्ट ।

स्तृञ् आच्छादने । स्तृणोति । स्तृणुते । गुणोर्तीति गुणः, स्तर्यात् ।

सन् या लिट् पर रहते चि धातु के अभ्यास संज्ञक वर्ण से पर चिञ् के अवयव चकार के स्थान में कुत्व होता है। प्रणिचिकाय। 'नेर्गद' से णत्व चकार का ककार, 'अचो ञ्णिति' वृद्धि आयादेश चिकाय। पक्ष में कुत्वाभाव से चिचाय। लिट् आत्मनेपद में लिट् त ऐश द्वित्वादि वि० से कुत्व तदभाव यण् चिक्ये चिच्ये। चेता। चेता। चेष्यति। चेष्यते। चिनोतु, चिनु। चिनुताम्। चिनुयात्। चिन्वीत। चीयात्। चेषीष्ट। अचैषीत्। अचेष्ट। अचेष्यत्। अचेष्यत।

स्तृञ् धातु आच्छादन अर्थ में है। 'स्तृणोति' यहां 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से णत्व हुआ। अथवा "वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते" पक्षका समाश्रयण से णकारादेश हुआ। आत्मनेपद में श्रृणुते। 'शर्पूर्वाः खयः' से हलादि शेष का बाधकर लिट् में 'तस्तार'। स्तर्यात् में 'गुणोर्ति' से गुण रपरत्व।

२५२७ ऋतश्च संयोगादेः ।

ऋदन्तात् संयोगादेः परयोर्लिङ्सिचोरिड् वा स्यात् तङि । स्तरिषीष्ट । स्तृषीष्ट । अस्तरिष्ट । अस्तृत ।

कृञ् हिंसायाम् । कृणोति । कृणुते । चकार । चकर्थ । चक्रे । क्रियात् । कृषीष्ट । अकार्षीत् । अकृत । ७ । वृञ् वरणे ।

संयोग संज्ञक वर्ण है आदि में जिसको ऐसे ऋकारान्त धातु से पर में स्थित लिङ् एवं सिच् इनको इडागम विकल्प से होता हैं तङ् के विषय में। अर्थात् आत्मनेपद में। इडागम गुण स्तरिषीष्ट। पक्ष में स्तृषीष्ट। अस्तरिष्ट। पक्ष में अस्तृत, यहां 'उश्च' से कित्व, ह्रस्वादङ्गात् से सकार लोप एवं गुणाभाव है।

कृञ् धातु हिंसा में है। कृणोति। कृणुते। लिट् में चकार। लिट् तिप् णल् अ द्वित्वादि कार्योत्तर 'अचो ञ्णिति' वृद्धि रपरत्व से आर्। चक्रतुः। चक्रुः। चक्रे। कर्ता। करिष्यति, करिष्यते 'ऋद्धनोः स्ये' इट्। आशीर्लिङ् में रिङादेश, एवं रीङ् की अनुवृत्ति होती पुनः रिङ् विधायक में रिङ् ग्रहण सामर्थ्य से दीर्घ न हुआ। 'कृषीष्ट' यहां 'उश्च' से कित्व एवं गुणाभाव हुआ। 'अकार्षीत' यहां 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से वृद्धि एवं 'आदेश' सूत्र से षत्व हुआ। अकृत में 'उश्च' से कित्व एवं 'ह्रस्वादङ्गात्' से सलोप। गुणाभाव अकृत। अकरिष्यत्। अकरिष्यत 'ऋद्धनोः' से इट्। स्वीकारार्थक वृञ् धातु है। वृणोति। वृणुते। ववार।

२५२८ बभूथाततन्थजगृभ्मववर्थेति निगमे ७।२।६४।

एषां वेदे इडभावो निपात्यते । तेन भाषायां थलीट् । ववरिथ । ववृव । ववृवहे । वरीता । वरिता ।

वेद में बभूथ, ततन्थ जगृभ्म, ववर्थ वे रूप निपातित होते हैं अर्थात इट् आगम का अभाव होता है। इससे सिद्ध हुआ कि लोक में अर्थात् भाषा में वृ धातु को थल् में इडागम नित्य होता ही है। ववरिथ। लुट् में इडागम के इकार का 'वॄतो वा' से विकल्प से द्वित्व हुआ 'वरीता' 'वरिता'। वरिष्यति। वरीष्यति। आ० प० में वरीष्यते। वरिष्यते। वृणोतु। वृणुताम्। अवृणोत्। अवृणुत। व्रणुयात्। वृण्वीत। व्रियात्।

२५२९ लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु ७।२।४२।

वृङ्वृञ्भ्याम् ॠदन्ताच्च परयोर्लिङ्सिचोरिट् वा स्यात् तङि।

तङ् पर में रहते वृङ् एवं वृञ् तथा ॠकारान्त धातु इनसे पर लिङ् एवं सिच् को इडागम विकल्प से होता है।

२५३० न लिङि ७।२।३९।

वृतो लिङि इटो दीर्घो न स्यात्। वरिषीष्ट। वृषीष्ट। अवारीत्। अवरीष्ट। अवरिष्ट। अवृत। ८।

धुञ् कम्पने। धुनोति। धुनुते। अधौषीत्। अधोष्यत्। ९। दीर्घान्तोऽप्ययम्। धूनोति। धूनुते। स्वरतिसूतीति वेट्। दुधविथ। दुधोथ। किति लिटि तु 'श्र्युकः किति' इति निषेधं बाधित्वा क्रयादिनियमान्नित्यमिट्, दुधुविव। 'स्तुसुधूञ्भ्यः' इति नित्यमिट्, अधावीत्। अधविष्ट। अधोष्ट। १०।

अथ परस्मैपदिनः। टुदु उपतापे। दुनोति। 'हि' गतौ वृद्धौ च।

वृङ् वृञ् धातु से पर लिङ् सम्बन्धी इडागम का 'वृतो वा' से दीर्घ विकल्प नहीं होता है। यह दीर्घापवाद है। वरिषीष्ट यहाँ 'लिङ्सिचौ' सूत्र से इडागम विकल्प से हुआ एवं दीर्घ का निषेध से रूप सिद्ध हुआ। पक्ष में 'उश्च' से कित्व गुणाभाव 'वृषीष्ट'। लुङ् में अवारीत्। आत्मनेपद में इट् वैकल्पिक दीर्घ अवरीष्ट अवरिष्ट, इडागम के अभाव में कित्व सकारलोप गुणाभाव से अवृत।

धुञ् कम्पन में है। धुनोति। धुनुते। दुधाव। दुधुवे। धोता। अधौषीत्। कोई इसको धूञ् दीर्घान्त मानते हैं उस पक्ष में वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को विकल्प से इडागम से दो रूप होंगे। धूनोति। धूनुते। दुधाव। दुधुवे। दुधविथ। दुधोथ। यहाँ 'स्वरति' से विकल्प इडागम हुआ। दुधुविव' 'दुधुविम' इस कित् लिट् में 'स्वरति' सूत्र से प्राप्त वैकल्पिक इडागम को बाधकर 'श्र्युकः किति' सूत्र से प्राप्त इट् निषेध को बाधकर क्रयादिनियम से नित्य इडागम से एक ही रूप हुआ।

लुङ् में वैकल्पिक इडागम को बाधकर 'स्तुसुधूञ्भ्यः' से नित्य इडागम एवं 'सिचि वृद्धिः' से वृद्धि आवादेश सकार लोप दीर्घ अधावीत्। अधविष्ट। अधोष्ट। 'स्वरति' से विकल्प से इडागम हुआ।

अब परस्मैपदी बताते हैं टुदु धातु उपताप में है आदि 'टु' की इत्संज्ञा लोप हुआ आदि ञिटुडवः सूत्र से। दुनोति कामश्चित्तम्। हि धातु गति में, वृद्धि में है।

२५३१ हिनुमीना ८।४।१५।

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य एतयोर्नस्य णः स्यात्। प्रहिणोति।

उपसर्गस्थ निमित्त से पर हिनु एवं मीना के अवयव नकार को णकारादेश होता है। 'प्रहिणोति' यहां प्रघटक रेफ है, नकार को णकार हुआ।

२५३२ हेरचङि ७।३।५६।

अभ्यासात् परस्य हिनोतेर्हस्य कुत्वं स्यान्नतु चङि। जिघाय। पृ प्रीतौ। पृणोति। पर्ता। ३। स्पृ प्रीतिपालनयोः। प्रीतिचलनयोरित्यन्ये। चलनं

जीवनमिति स्वामी । स्पृणोति । पस्पार । ४ । स्मृ इत्येके । स्मृणोति । पृणोत्यादयस्त्रयोऽपि छान्दसा इत्याहुः । ५ । आप्लृ व्याप्तौ । आप्नोति । आप्नुतः । आप्नुवन्ति । आप्नुवः । आप्ता । आप्नुहि । लृदित्त्वादङ् आपत् । ६ । शक्लृ शक्तौ । अशकत् । ७ । राध साध संसिद्धौ । राध्नोति ।

अभ्यास से पर हि धातु का अवयव हकार को कुत्व (ककार) होता है, किन्तु चङ् पर में रहते कुत्व नहीं होता है । जिघाय यहां हकार ककारादेश हुआ । पृ धातु प्रीति में है. पृणोति । पर्ता । स्पृ-प्रीतिजनकव्यापार में एवं रक्षाजनक व्यापार में है । कोई चलन = जीवन में इसे कहते हैं । लिट् में 'शर्पूर्वाः खयः' से पकार शेष सकार लोप हुआ 'हलादि शेषः' की अप्रवृत्ति हुई । कोई 'स्मृ' को यहां पढ़ते हैं । पृणोति आदि तीन धातु छान्दस है । आप्लृ व्याप्ति में है । आप्नोति । आप्नुवन्ति में उवङादेश है । लुङ् में लृदित होने से पुषादि सूत्र से च्लि को अङ् हुआ – आपत् । शक्लृ शक्ति में है । अशकत् । राध साध संसिद्धि में है ! राध्नोति रराध ।

२५३३ राधो हिंसायाम् ६।४।१२३।

एत्वाभ्यासलोपौ स्तः किति लिटि सेटि थलि च । अपरेधतुः । रेधुः । रेधिथ । राद्धा । साध्नोति । साद्धा । असात्सीत् । असाद्धाम् । ६ ।

अथ द्वावनुदात्तेतौ । अशू व्याप्तौ संघाते च । अश्नुते ।

कित लिट् या सेट् थल् पर रहते हिंसार्थक राधको एत्वाभ्यास लोप होता है । अपरेधतुः । रेधुः । रेधिथ । राद्धा । साध्नोति । असात्सीत् , हलन्तलक्षणा वृद्धि जश्त्व चर्त्व । असाद्धाम्— धत्व जश्त्व चर्त्व सलोप 'झलो झलि' से ।

अब दो धातु अनुदात्त इत्संज्ञक है । ऊकारेत्संज्ञक अश् धातु व्याप्ति में एवं संघात में है । अश्नुते ।

२५३४ अश्नोतेश्च ७।४।७२।

दीर्घाद् अभ्यासाद् अवर्णात्परस्य नुट् स्यात् । आनशे । अशिता । अष्टा । अशिष्यते । अक्ष्यते । अश्नुवीत । अशिषीष्ट । अक्षीष्ट । आशिष्ट । आष्ट । आक्षाताम् । १ । ष्टिघ आस्कन्दने । स्तिघ्नुते । तिष्टिघे । स्तेघिता । २ ।

अथ आगणान्ताः परस्मैपदिनः ।

तिक तिग गतौ च । चादास्कन्दने । तिक्नोति । तिग्नोति । २ । षध हिंसायाम् । सध्नोति । ३ । ञिधृषा प्रागल्भ्ये । धृष्णोति । दधर्ष । धर्षिता । ४ ।

अश् धातु का अवयव दीर्घ आकार से पर नुट् आगम होता है । अश् लिट् त ऐश् द्वित्व अभ्याससंज्ञा हलादिशेष 'अत आदेः' से दीर्घ नुट् आनशे । 'तस्मान्नुट् द्विहलः' सूत्र मे द्विहल् ग्रहण न करना, एक हल् घटितको नुट् हो तो अश् को ही हो यह नियम से कहीं दोष नहीं है; द्विहल् ग्रहण का प्रत्याख्यान पक्ष ही उचित है ।

वलादि आर्धधातुक में विकल्प इडागम 'स्वरति' सूत्र से दो रूप– अशिता। पक्ष में अश्×ता धकार षत्व ष्टुत्व अष्टा। अशिष्यते पक्ष में अश्×स्य ते 'व्रश्च' सूत्र से षकार ककार षकार क्षत्व से अक्ष्यते। लुङ् में आशिष्ट। पक्ष में आष्ट सकारलोप झलो झलि से वृद्धि षत्व ष्टुत्व। ष्टिघ आस्कन्दन में है। षकार को सकार ष्टुत्वनिवृत्ति से स्तिघ्नुते।

अथ आगणान्त परस्मैपदी धातु है। तिक् एवं तिग् गति में है। चकार से आस्कन्दन में है। षघ हिंसा में है सकारादेश। धृष् प्रागल्भ्य में है।

दम्भु दम्भने। दम्भनं दम्भः। दभ्नोति। ददम्भ। ॐ श्रन्थिग्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनां लिटः कित्त्वं वा ॐ इति व्याकरणान्तरमिहाप्याश्रीयत इत्युक्तम्। अनिदितामिति नलोपः तस्याभीयत्वादसिद्धत्वेन एत्वाभ्यासलोपयोरप्राप्तौ।

ॐ दम्भेश्चेत्वाभ्यासलोपौ वक्तव्यौ ॐ। देभतुः। ददम्भतुः। इदं पित्वं पिदपिद्विषयकमिति सुधाकरादयः। तन्मते तिप्सिप्मिप्सु देभ, देभिथ, देभ इति रूपान्तरं बोध्यम्। अपिद्विषयकमिति न्यासकारादिमते तु—ददम्भ, ददम्भिथ, ददम्भ इत्येव। दभ्यात्।५। ऋधु वृद्धौ।६। 'तृप प्रीणने' इत्येके। क्षुभ्नादित्वाण्णत्वं न। तृप्नोति।७।

छन्दसि। आगणान्तादधिकारोऽयम्। अह व्याप्तौ। अह्नोति।१। दघ घातने पालने च। दघ्नोति।२। चमु भक्षणे। चम्नोति।३। रि क्षि चिरि जिरि दाश् दृ हिंसायाम्। रिणोति। क्षिणोति। अयं भाषायामपीत्येके "न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति।" ऋक्षीत्येक एवाजादिरित्यन्ये। ऋक्षिणोति। चिरिणोति। निरिणोति। दाश्नोति। दृणोति।६। वृत्

इति स्वादिप्रकरणम्।५।

दम्भु धातु दम्भ अर्थ में है। दम्नोति। ददम्भ। * श्रन्थ्, ग्रन्थ्, दम्भ्, स्वञ्ज् इन धातुओं से पर लिट् को विकल्प से कित्व बाधेन होता है यह पाणिनिव्याकरण से भिन्न व्याकरण में पठित वचन है, उसका यहां दम्भ में आश्रयण कर 'अनिदिताम्' सूत्र से मकार को नकार समझ कर लोप होने पर असंयुक्त हल् मध्यस्थ अकार को एत्वाभ्यासलोप न करना, आत नलोपविधायक 'अनिदिताम्' सूत्र आभीय है एवं एत्वाभ्यासलोपविधायक भी 'अत एकहल्मध्ये' आभीय है, अतः आभीय कर्तव्य में नलोप असिद्ध है, अप्राप्त यहां एत्वाभ्यास लोप है उसको विधानार्थ दम्भ को एत्वाभ्यास लोप होता है कित्व पक्ष में नलोप एत्वाभ्यास लोप से देभतुः, कित्वाभाव पक्ष में नकार लोप का अभाव से एत्वाभ्यास लोपाभाव से ददम्भतुः। व्याकरणान्तर से बोधित विकल्प से कित्व पित् प्रत्यय तिप् सिप् मिप् विषयक है एवं तसादि अपित् प्रत्यय विषयक भी है अर्थात् पित् एवं पित् भिन्न उभय विषयक ऐसा मानकर सुधाकरमत में लिट् के तिप् में देभ, सिप् मे देभिथ, मिप् में देभ ऐसे रूप होते हैं। अपित् विषय में वह कित्व बोधन करता है इस न्यासकार मत में ददम्भ, ददम्भिथ, ददम्भ, यही रूप होते हैं। आशीर्लिङ् में दभ्यात्।

ऋधु वृद्धि में है। तृप् धातु प्रीणन में है। तृप्नोति यहां क्षुभ्नादि में पाठ से णत्वाभाव हुआ।

'छन्दसि' का यह स्वादिगण समाप्त न हो जाय तब तक अधिकार है। अह् धातु व्याप्ति अर्थ में है। दध धातु घातन में एवं पालन में है। चमु भक्षण में है। रि क्षि चिरि जिरि दाश एवं दृ हिंसा में है, हिंसा से प्राणवियोगजनक व्यापार का ग्रहण करना। यह धातु भाषा में भी प्रयुक्त है ऐसा कोई कहते हैं। अत एवं रघुवंश महाकाव्य में कालिदास महाकवि ने लिखा है कि "न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति"। शस्त्र से जिस रक्ष्य पदार्थ की रक्षा अशक्य है ऐसी विषम परिस्थिति समुत्पन्न होने पर वह रक्ष्य वस्तु नष्ट भी हो जाय तो भी शस्त्रधारी का यश नष्ट नहीं होता है। यह श्लोकार्थ है। कोई ऋक्षि अजादि धातु मानते हैं। वृत् अर्थात् स्वादिगण समाप्त हुआ।

पं० श्री बालकृष्ण पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में स्वादिप्रकरण समाप्त।



अथ तुदादिप्रकरणम्

तुद व्यथने। इतः षट् स्वरितेतः।

तुद धातु पीडाजनक व्यापार में है। यहां से ६ धातु स्वरितेत् है, अर्थात् उभयपदी है, क्रियाजन्य फल स्वगामी रहे वहां 'स्वरितञितः' से आत्मनेपद। अन्यत्र परस्मैपद होता हैं।

२५३५ तुदादिभ्यः शः ३।१।७७।

तुदति। तुदते। तुतोद। तुतोदिथ। तुतुदे। तोत्ता। अतौत्सीत्। अतुत्त। १। णुद प्रेरणे। नुदति। नुदते। नुनोद। नुनुदे। नोत्ता। २। दिश अतिसर्जने। अतिसर्जनं दानम्। देष्टा। दिक्षीष्ट। अदिक्षत्। अदिक्षत। भ्रस्ज पाके। ग्रहिज्येति सम्प्रसारणम्। सस्य श्चुत्वेन शः। तस्य जश्त्वेन जः, भृज्जति। भृज्जते।

तुदादि गण पठित धातुओं से श विकरण प्रत्यय होता है, शप् के विषय में। तुद् लट् तिप् = 'तुद् ति' यहाँ पर भी लघूपधगुण को बाधकर शप्रत्यय हुआ, श में श् की इत्संज्ञा लोप सार्व-धातुक संज्ञा 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वद्भाव से गुणाभाव तुदति। आत्मनेपद में तुदते। लिट् में तुतोद। तोत्ता। लुङ् में हलन्तलक्षणा वृद्धि अतौत्सीत्। आत्मने प० 'अतुत्त' सकार का लोप। णुद प्रेरणार्थक है णकार को नकारादेश 'नुदति' नुनोद। नोत्ता। नोत्स्यति। नुदतु अनुदत् नुदेत् नुद्यात् अनौत्सीत् अनोत्स्यत्। आत्मनेपद में नुदते। नुनुदे। नोत्ता। नोत्स्यते। नुदताम्। अनुदत, नुदेत। नुत्सीष्ट अनुत्त। अनोत्स्यत। दिश अतिसर्जन = दान में है। दिशति। दिशते। लुङ् में च्लि को 'शल इगुपधात्' से क्सादेश हुआ, 'व्रश्च' से षकारादेश कत्व षत्व क्षत्व अदिक्षत्। अदिक्षत।

भ्रस्ज् पाक में है। लट् शविकण 'भ्रस्ज् अति' 'ग्रहिज्या' से सम्प्रसारण 'भृ अस् ज अति' 'सम्प्र-सारणाच्च' से पूर्वरूप सकार को श्चुत्व से शकार, शकार को जश्त्व से जकार भृज्जति। भृज्जते।

२५३६ भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् ६।४।४७।

भ्रस्जे रेफस्योपधायाश्च स्थाने रमागमो वा स्यादार्धधातुके। मित्त्वा-दन्त्यादचः परः। स्थानषष्ठीनिर्देशाद् रोपधयोर्निवृत्तिः। बभर्ज। बभर्जतुः। बभर्जिथ। बभर्ष्ठ। बभर्जे। रमभावे बभ्रज्ज। बभ्रज्जतुः। बभ्रज्जिथ। स्कोरिति सलोपः। व्रश्चेति षः। बभ्रष्ठ। बभ्रज्जे। भ्रष्टा। भर्ष्टा। भ्रक्ष्यति। भर्क्ष्यति। क्ङिति रमागमं बाधित्वा सम्प्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन। भृज्ज्यात्। भृज्ज्या-स्ताम्। भ्रक्षीष्ट। भर्क्षीष्ट। अभ्राक्षीत्। अभार्क्षीत्। अभ्रष्ट। अभर्ष्ट। ४। क्षिप प्रेरणे। क्षिपति। क्षेप्ता। अक्षैप्सीत्। अक्षिप्त। ५।

कृष विलेखने। कृषति। कृषते। क्रष्टा। कर्ष्टा। कृष्यात्। कृक्षीष्ट। स्पृश-मृशकृषेति सिज्वा, पक्षे क्सः। सिचि अम् वा। अक्राक्षीत्। अकार्क्षीत्। अकृ-

क्षत् । तङि लिङ्सिचाविति कित्त्वादम्न । अक्रुष्ट । अक्रुक्षाताम् । अक्रुक्षत । अक्रुक्षत । अक्रुक्षाताम् । अक्रुक्षन्त । ६ । ऋषी गतौ । परस्मैपदी । ऋषति । आनर्ष । १ । जुषी प्रीतिसेवनयोः । आत्मनेपदिनश्चत्वारः । जुषते । ओविजी भयचलनयोः । प्रायेणायमुत्पूर्वः—उद्विजते ।

आर्धधातुक प्रत्यय पर में रहते भ्रस्ज धातु के रेफ एवं उपधा इनके स्थान में विकल्प से रम् आगम होता है। मित्त्व के कारण अन्त्याच् पर 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से प्राप्त था, किन्तु सूत्र में 'रोपधयोः' स्थानषष्ठी प्रकृतित्वेन रेफ एवं सकार निर्दिष्ट है, अतः उन दोनों की रम् आगम विधेय होते भी निवृत्ति हुई। आगम पक्ष में भर्ज् लिट् द्वित्वादि बभर्ज आदि रूप। रमभावे सस्य श्चुत्वेन शकार उसका 'झलां जश् झशि' से जकार भ्रज्ज लिट द्वित्वादि से बभ्रज्ज। 'बभ्रष्ठ' में 'स्कोः से सकार लोप 'व्रश्च' से षकारादेश। बभर्जे। बभ्रज्जे। भर्ष्टा। भ्रष्टा। कित् एवं ङित् में रमागम को पूर्वविप्रतिषेध से बाधकर सम्प्रसारण ही होता है। भृज्ज्यात्। भर्क्षीष्ट। भ्रक्षीष्ट। लुङ् में अभार्क्षीत्। रमागम के अभाव में अभ्राक्षीत्। अभर्ष्ट। अभ्रष्ट।

विमर्श—आदेश से स्थानी का अपहार होता है, आगम से नहीं अतः रेफ एवं उपधा की निवृत्ति प्रकार ग्रन्थोक्त उचित नहीं है, अतः 'सनः क्तिचि' सूत्र से लोप की अनुवृत्ति कर 'भ्रस्जो रोपधयोर्लोपः' इस व्याख्यान से रेफ एवं उपधा का लोप कर रम् आगम करना। अथवा 'भ्रस्जो रस रन्यतरस्याम्' यह न्यास कीजिये। रस में 'ऋ' ऐसा च्छेद है। रस में 'रेफ अकार सकार' समूह को 'ऋ' आदेश होता है विकल्प से। पूर्वविप्रतिषेध वार्तिक इस पक्ष में अनावश्यक ही है।

'रस' न्यास में पञ्च दोष है, रेफ अकार सकार के स्थान में 'ऋ' आदेश करेंगे तो अपित् लिट् में 'बभर्जतुः' 'बभृजतुः' आदि रूप इष्ट है। वे नहीं बनेगें ऋकार कर गुण नहीं कर सकते हैं क्योंकि 'असंयोगात्' से कित्त्व है तत्प्रयुक्त गुण निषेध होगा।

२–'सनीवन्त' से इट् विकल्प से 'बिभर्क्षति' रूप इष्ट है वह अब न होकर 'बिभृक्षति' रूप होगा—क्योंकि ऋकार करने पर 'हलन्ताच्च' से कित्त्वप्रवृत्ति होगी सन को।

३–लिङ् सिचोस्तङि भर्क्षीष्ट अभर्ष्ट इष्ट है वह नहीं होकर 'भृक्षीष्ट' 'अभृष्ट' होगा, 'लिङ् सिचावात्मनेपदेषु' इस से कित्वात्।

४–णिजन्त से चङ् में 'अबभर्जत्' इष्ट है वह न होकर ऋकारदेश पक्ष में 'अबीभृजत्' होगा। क्योंकि इर् अर् आदि को बाधकर 'उर्ऋत्' से ऋत्व की प्रवृत्ति होने पर सन्वद्भाव, 'सन्यतः' इत्त्व 'दीर्घो लघोः' से दीर्घ की प्रवृत्ति होगी। यद्यपि 'उर्ऋत्' वैकल्पिक है पक्ष वह इष्ट रूप बनेगा किन्तु अबी भृजत् अनिष्ट रूपापत्ति तो पक्ष में होगी ही। भर्जनार्थक भृजि का इष्ट रूप सिद्धि होगी यह तो नहीं कह सकते हैं। पाकसामान्यार्थ में तो इष्ट रूप न हुआ यह दोष तदवस्थ ही रहा।

५–भ्रस्ज को भृजिरादेश यह पक्ष भी निरस्त हुआ पूर्वोक्त दूषणों के प्रदर्शन से। एवं यङ् लुक् में दोष होगा। वधादेश की तरह साभ्यास को 'भृति' आदेश में पुनः द्वित्व दुर्लभ होगा, स्थानिवद्भाव से 'अनभ्यासस्य' से निषेध होगा।

कोई रस् समुदाय को अर् आदेश से सब दोषों का उद्धार करते हैं। इस अपाणिनीयन्यास कल्पनापेक्षया—"तस्मादस्तु यथान्यासम्" यही उचित है।

क्षिप् धातु प्रेरणा में है। क्षिपति। क्षिपते। क्षेप्ता। लुङ् में हलन्तलक्षणा वृद्धि 'अक्षैप्सीत्'। आत्मनेपद में झलभूत सकार का लोप कित्त्व गुणाभाव आक्षिप्त।

कृष धातु विलेखन में है। कृषति। कृषते। चकर्ष। चकृषे। क्रष्टा-'अनुदात्तस्य' से विकल्प अमागम यण् ष्टुत्व क्रष्टा। पक्ष में लघूपधगुण कर्ष्टा। लुङ् में अम् पक्ष में अक्राक्षीत्। अम् के अभाव में अकार्क्षीत्। 'स्पृशमृष्' से सिच् विकल्प पक्ष में पूर्वोक्तद्वय सिच् के अभाव में क्सादेश से अकृक्षत्। आत्मनेपद में 'लिङ्सिचौ' से कित्त्व से अम् नहीं होता है किन्तु सिच्विकल्प से हुआ पक्ष में क्सादेश अकृक्षत 'अकृष्ट' सिच् सकार का लोप।

ऋषी गति में परस्मैपदी है। 'आनर्ष' में 'इजादेः' से नुम् हुआ।

जुषी प्रीति एवं सेवन अर्थ में है। चार धातु आत्मनेपदी हैं। जुषते।

यह धातु प्रायः 'उत्' उपसर्ग पूर्वक हैं। उद्विजते।

२५३७ विज इट् १।२।२।

विजेः पर इडादिः प्रत्ययो ङिद्वत्। उद्विजिता। उद्विजिष्यते। २। ओलजी ओलस्जी व्रीडायाम्। लजते। लेजे। लज्जते। ललज्जे। ४।

विज् धातु से पर इट् है आदि अवयव जिसका ऐसा प्रत्यय ङित् सदृश होता है। अतः गुण का अभाव 'क्ङिति च' से हुआ—उद्विजिता। ओलजी एवं ओलस्जी धातुद्वय लज्जा अर्थ में है। 'लेजे' एत्वाभ्यास लोप हुआ।

अथ परस्मैपदिनः। ओव्रश्चू छेदने। 'ग्रहिज्या'-वृश्चति। वव्रश्च। वव्रश्चतुः। वव्रश्चिथ। वव्रष्ठ। 'लिट्यभ्यासस्ये'ति सम्प्रसारणम्—रेफस्य ऋकारः, उरत्, तस्याचः परस्मिन्' इति स्थानिवद्भावान्न सम्प्रसारण इति वस्योत्त्वं न। व्रश्चिता। व्रष्टा। व्रश्चिष्यति। व्रक्ष्यति। वृश्च्यात्। अव्रश्चीत्। अव्राक्षीत्। अव्रक्ष्यत्। १।

व्यच व्याजीकरणे। विचति। विव्याच। विविचतुः। व्यचिता। व्यचिष्यति। विच्यात्। अव्याचीत्। अव्यचीत्। "व्यचेः कुटादित्वमनसि" इति तु नेह प्रवर्तते, 'अनसि' इति पर्युदासेन कृन्मात्रविषयत्वात्। २। उछि उञ्छे। उञ्छति। ३। उच्छी विवासे। उच्छति। ४।

ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु। 'ऋच्छत्यृताम्' इति गुणः। द्विहल्ग्रहणस्यानेकहलुपलक्षणत्वान्नुट्—आनर्च्छ। आनर्च्छतुः। ऋच्छिता। ५।

ओकार एवं ऊकार की इत्संज्ञा युक्त 'व्रश्च्' धातु छेदनार्थक है = द्विधाभवनानुकूलव्यापारः = छेदनम्। ऊदित्प्रयुक्त वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को विकल्प से 'स्वरति' सूत्र से इट् आगम होता है। लट् में शविकरण का 'ग्रहिज्या' से ऋकार रेफ के स्थान में सम्प्रसारण हुआ। 'वृ अश्च् अ ति' 'सम्प्रसारणाच्च' सूत्र से पूर्व रूप हुआ—वृश्चति।

लिट् में 'वव्रश्च' यहां लिट् तिप् णल्-अ द्वित्व कर पूर्व 'व्रश्च्' की अभ्यास संज्ञा करने पर 'हलादिः शेषः' से प्राप्त लोप को बाधकर अभ्यासनिमित्तक लिट् पर में रहते 'लिट्यभ्यासस्य'

सूत्र से सम्प्रसारण हुआ, पूर्वरूप करके उरत् से ऋकार को अकारादेश रपर हुआ, हलादिशेष से 'वृ व्रश्च'।

यहां यथा रेफ को ऋकार सम्प्रसारण हुआ, तथैव वकार को उकार सम्प्रसारण प्राप्त हुआ सो क्यों नहीं हुआ ?, समाधानार्थं कहते हैं कि 'उरत्' सूत्र अङ्गाधिकारीय है, अङ्ग संज्ञा प्रत्यय निमित्तक है अतः अङ्ग से प्रत्यय का आक्षेप हुआ, "येन विना यदनुपपन्नं तत् तेनाक्षिप्यते" यह अर्थापत्तिमूलक न्याय से। अतः 'उरत्' सूत्र प्रत्ययनिमित्तक होने से परनिमित्तक हुआ अतः प्रकृत में ऋकारवृत्ति सम्प्रसारणत्व पूर्वरूप निष्पन्न 'ऋ' में है वह सम्प्रसारणत्व धर्म का 'उरत्' सूत्र से विधेय 'अकार' में अतिदेश = आरोप 'अचः परस्मिन्' से बोधन कर अकाररूप सम्प्रसारण पर में यहां है, अतः 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' सूत्र से वकार का प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध हुआ—'वव्रश्च' प्रयोग की सिद्धि हुई।

'यस्मात् प्रत्ययविधिः' अङ्गसंज्ञाविधायक सूत्र में 'प्रत्यये' ग्रहण न करते तो अङ्गसंज्ञा पर निमित्त न होने से 'उरत्' में अङ्ग से प्रत्यय का आक्षेप न होता स्थानिवद्भाव न होता, न सम्प्रसारणे, निषेध न होता, 'लिटि' सूत्र से वर्णभेद से लक्ष्यभेद मानकर वकार को उकार सम्प्रसारण पूर्वक रूप से 'उवश्च' ऐसा अनिष्ट रूप बनता।

अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग किया है मध्य में उसकी व्याख्या = अर्थस्य आपत्तिः = कल्पना। 'पीनत्वविशिष्टदेवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' रात्रौ भुङ्क्ते' यह कल्पना हुई—उपपाद्यज्ञानेनोपपादकज्ञानकल्पनम् = अर्थापत्तिः। प्रकृत में अङ्गसंज्ञा प्रत्यय के बिना अनुपपन्न है अतः उपपादक प्रत्ययत्व का आक्षेप हुआ।

विकल्प इट् से व्रश्चिता। पक्ष में 'स्कोः' से सकार लोप। व्रष्टा यहां 'व्रश्चभ्रस्ज' सूत्र से षकारादेश ष्टुत्व 'वृश्च्यात्' में कित्त्वप्रयुक्त सम्प्रसारण हुआ। लुङ् में इट्पक्ष में अव्रश्चीत्। इडागमाभाव में वृद्धि अव्राक्षीत्। स्कोरिति सकार का लोप है। धातु पाठ में सकार ही था उसको श्चुत्व कर शकार किया है। वह लोप की दृष्टि में असिद्ध है। शिष्टों ने कहा भी है—

"नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु।
सकारजः शकारश्चेषट्टिवर्गस्तवर्गजः" ॥ १ ॥

धातुओं में झल् पर में रहते अनुस्वार या वर्ग का पञ्चम अक्षर रहें तो उनको नकार से जात समझना चाहिये। एवं शकारों एवं चवर्ग के योग में शकार रहे तो उसको सकार से जात है ऐसा समझना चाहिये। षकार एवं टवर्ग के योग में टवर्ग को तवर्ग से जन्य समझना चाहिये।

व्यच धातु छद्म करण में है। विचति। 'ग्रहिज्या' से सम्प्रसारण हुआ। विविचतुः यहां लिट में द्वित्व को बाधकर पूर्व सम्प्रसारण पूर्वरूप कर विच् कर द्वित्व हुआ, सम्प्रसारण एवं तदाश्रित कार्य प्रबल है। "सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्" 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' सूत्रस्थ 'उभयेषाम्' से यह वचन ज्ञापित हुआ है। 'अव्याचीत्' 'अव्यचीत्' मे "अतो हलादेर्लघोः" से विकल्प से वृद्धि हुई।

व्यच धातु कुटादि है अस् भिन्न प्रत्यय परमें रहते। यहां अनसि पर्युदास है वह सदृशग्राही होता है, अर्थात् अस् भिन्न अस् सदृश कृत्प्रत्यय पर में रहे वहां की कुटादि व्यच् धातु को मानकर 'गाङ्कुटादिभ्यः' सूत्र से ङिद्वद्भाव बोधन होता है। यहां नहीं। अनसि में प्रसज्य प्रतिषेध मानने पर अर्थ होगा अस् प्रत्यय पर में रहे वहां कुटादित्व का व्यच् को अभाव है यह

अर्थ होता सो नहीं है। प्रसज्यप्रतिषेध मे त्रिविध गौरव है—१ वाक्यभेद २ असमर्थ समास ३ शास्त्रबाध, अतः उसका यहां अनाश्रयण ही है। अतः 'अम्याचीत्' में वृद्धि हुई। उछि उञ्छ-वृत्ति में है, इदित्वप्रयुक्त नुम् अनुस्वार, परसवर्ण—उञ्छति। उछी विवास = समाप्ति अर्थ में है। उच्छति। 'छे च' तुक्—त्, द्, च्। तकार को जश्त्व से दकार उसको श्चुत्व से जकार 'खरि च' से चकार हुआ।

ऋच्छ धातु गति में इन्द्रियव्यापाराभाव में एवं मूर्तिभाव में है। लट् में ऋच्छति। लिट् में 'ऋच्छत्यृताम्' से गुण एवं 'तस्मात्' सूत्र में द्विहल्ग्रहण न्यूनव्यावर्तक है, अधिकहल्युक्त धातु का वह व्यावर्तक नहीं है अतः यहाँ नुट् हुआ। आनर्च्छ।

वस्तुतः 'अश्नोतेश्च' सूत्र से एक हल्घटित धातु के दीर्घीभूत आकार से पर अकार को नुट् हो तो 'अश्नोतेरेव' इस नियम से कोई दोष नहीं है नुट्विधायक सूत्र में द्विहल् ग्रहण का प्रत्याख्यान ही है तब यहाँ अनेक हल् का वह उपलक्षण है इस चर्चा की आवश्यकता ही नहीं है।

मिच्छ धातुः उत्क्लेशे। उत्क्लेशः = पीडा। मिमिच्छ। अमिच्छीत्। ६। जर्ज चर्च झर्झ परिभाषणभर्त्सनयोः। ६। त्वच संवरणे। तत्वाच। १०। ऋच स्तुतौ। आनर्च। ११। उब्ज आर्जवे। १२। उज्झ उत्सर्गे। १३। लुभ विमोहने। विमोहनम् = आकुलीकरणम्। लुभति। लोभिता। लोब्धा। लोभिष्यति। १४। रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु। रिफति। रिरेफ। रिहेत्येके। "शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति"। १५।

तृप तृम्फ तृप्तौ। आद्यः प्रथमान्तः। द्वितीयो द्वितीयान्तः। द्वावपि द्वितीयान्तावित्यन्ये। तृपति। ततर्प। तर्पिता। स्पृशमृशेति सिज्विकल्पः पौषादिकस्यैव, अङ्पवादत्वात्, तेनात्र नित्यं सिच्। अतर्पीत्। तुम्फति। शस्य त्विस्वादनिदितामिति नलोपे।

॥ शे तृम्फादीनां नुम् वाच्यः ॥। आदिशब्दः प्रकारे। तेन येऽत्र नकारानुषक्तास्ते तृम्फादयः। तृम्फति। ततृम्फ। तृफ्यात्। १७। तुप तुम्प तुफ तुम्फ हिंसायाम्। तुपति। तुम्पति। तुफति। तुम्फति। २१। दृप दृम्फ उत्क्लेशे। प्रथमः प्रथमान्तः। द्वितीयो द्वितीयान्त इत्येके। दृपति। दृम्फति। २३। ऋफ ऋम्फ हिंसायाम्। ऋफति। आनर्फ। ऋम्फति। ऋम्फाञ्चकार। २५।

मिच्छ धातु पीडा में है। जर्ज, चर्च, झर्झ परिभाषण में एवं भर्त्सन अर्थ में हैं। त्वच् संवरण में है। ऋच् धातु गुणोत्कर्षबोधन में है। आनर्च में 'तस्मात्' सूत्र से नुट् आगम। उब्ज धातु आर्जव = सरलता में है। यह धातु उपदेशावस्था में 'उद्ज' है। निपातन से दकार को वकारादेश होता है। 'भुजन्युब्जौ' सूत्र से वह बकार ण्यन्त में 'चङि' सूत्र से द्वित्व करने में असिद्ध है। अतः 'नन्द्राः संयोगादयः' से दकाररहित 'जि' का द्वित्व से लुङ् में "औब्जिजत्" रूप हुआ।

उज्झ धातु उत्सर्ग = त्याग में है। लुभ धातु आकुलीकरण में है। लुट् में 'तीषसह' से विकल्प इडागम से लोभिता। पक्ष में धकारादेश जश्त्वचर्त्वं से लोब्धा। रिफ धातु गुणप्रकाशन, युद्ध, निन्दा, हिंसा, एवं दान में है। रिफति = प्रशंसति।

ब्राह्मणगण अपने पुत्रों की प्रशंसा नहीं करते हैं। किन्तु न्यून करते हैं। प्रशंसा से मानव को अहङ्कार होता है, एवं अवनति होती है।

"प्रतिष्ठा शूकरी खरी" "विषमिव उद्विजेत् मानात्" इस शास्त्रीय सिद्धान्तानुसरण से उन्नति होती है। तृप तृम्फ धातु प्रीतिजनकव्यापारार्थक है। कोई दोनों को फान्त मानता है। तृपति। ततर्प। तर्पिता। लुङ् में 'स्पृशमृश' से च्लि को सिच् विकल्प होता है वह इसमें प्रवृत्त नहीं है; किन्तु वह वार्तिक अङ् का अपवादक होने से पुषादिगण में पठित तृप को अङ् प्राप्त है वहां ही वार्तिक की प्रवृत्ति होगी, अतः यहां तो नित्य सिच् हुआ अतर्पीत्। तृम्फति। यहां शविकरण सार्वधातुकसंज्ञक है एवं ङित् है, अतः 'अनिदिताम्' से नकार का लोप कर नुम् करना नुम् विधान करने वाला वार्तिक— तुम्फादि सदृश धातुओं को शप्रत्यय पर रहते नुम् होता है। यहां सादृश्य किस धर्म से लेना? नकारघटितत्वरूप धर्म से सादृश्य गृहीत है। 'तृम्फात्' में नलोप हुआ। तुप, तुम्प, तुफ तुम्फ हिंसा में है। दृप दृम्फ उत्क्लेश में है, ऋफ ऋम्फ हिंसा में है। आनर्फ में द्विहल्लक्षण नुम् है। ऋम्फाञ्चकार यहां 'इजादेः' से आम्, लिट् परक कृञ् का अनुप्रयोग है।

गुफ गुम्फ ग्रन्थे। गुफति। जुगोफ। गुम्फति। जुगुम्फ। २७। उभ उम्भ पूरणे। उभति। उवोभ। उम्भति। उम्भाञ्चकार। २८। शुभ शुम्भ शोभार्थे। शुभति। शुम्भति। ३१। दृभी ग्रन्थे। दृभति। ३२। चृती हिंसाग्रन्थनयोः। चर्तिता। 'सेऽसिचि' इति वेट्। चर्तिष्यति। चर्त्स्यति। अचर्तीत्। ३३।

विध विधाने। विधति। वेधिता। ३४। जुड गतौ। तवर्गपञ्चमान्तः इत्येके। जुडति। मरुतो जुनन्ति। ३५। मृड सुखने। मृडति। मर्डिता। ३६।

पृड च। पृडति। ३७। पृण प्रीणने। पृणति। पपर्ण। ३८। वृण च। वृणति। ३९। मृण हिंसायाम्। ४०। तुण कौटिल्ये। तुतोण। ४१। पुण कर्मणि शुभे। पुणति। ४२। मुण प्रतिज्ञाने। ४३। कुण शब्दोपकरणयोः। ४४। शुन गतौ। ४५। द्रुण हिंसागतिकौटिल्येषु। ४६। घुण घूर्ण भ्रमणे। ४८। षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः। सुरति। सुषोर। आशिषि सूर्यात्। ४९।

कुर शब्दे। कुरति। कूर्यात्। अत्र 'न भकुर्छुराम्' इति निषेधो न, करोतेरेव तत्र ग्रहणादित्याहुः। ५०। खुर छेदने। ५१। मुर संवेष्टने। ५२। क्षुर विलेखने। ५३।

गुफ एवं गुम्फ ग्रन्थ में है। उभ उम्भ पूरण अर्थ में है। शुभ एवं शुम्भ धातु शोभाजनक व्यापारार्थक है। दृभी धातु ग्रन्थ अर्थ में है। चृती हिंसा एवं ग्रथन में है। लृट् में 'सेऽसिचि' से विकल्प से इडागम हुआ। लुङ् में अचर्तीत् यहां हलन्तलक्षण वृद्धि का 'नेटि' से निषेध हुआ। विध धातु विधान में है। जुड गति में है। कोई जुन इसको कहता है। वायु गमन करते हैं = मरुतो जुनन्ति।

मृड सुखन में है। पृड भी उसी अर्थ में है। पृण प्रीणन में है। वृण भी प्रीणन में है। मृण हिंसा में है। तुण कुटिलता में है। शुभकर्म में पुण है। प्रतिज्ञान में मुण है। कुण शब्द में, उपकरण में हैं। शुन गति में है। द्रुण हिंसा, गति एवं कौटिल्य में है। भ्रमण में घुण घूर्ण है। षुर् ऐश्वर्य

एवं दीप्ति में है। आशीलिङ् में 'सूर्यात्' यहां 'हलि च' से दीर्घ हुआ है। कुर शब्दार्थक है। कुरति। 'कूर्यात्' यहां दीर्घ का निषेधक 'न भकुर्छुराम्' न लगा। यहां सुप्रसिद्धत्व के कारण 'कुञ' का ही ग्रहण उपस्थित होता है। इसका नहीं। कहा है कि—

"अभिव्यक्तपदार्था ये स्वतन्त्रा लोकविश्रुताः।
शास्त्रार्थस्तत्र कर्तव्यो न शब्देषु तदुक्तिषु" ॥ १ ॥

लोक में प्रसिद्ध एवं अन्यसहायतारहित में शास्त्र की प्रवृत्ति करना, गौण एवं अप्रसिद्ध शब्दों में शास्त्र की प्रवृत्ति न करनी चाहिये। खुर धातु छेदन में है। मुर धातु संवेष्टन में है। क्षुर धातु विलेखन में है।

घुर भीमार्थशब्दयोः। ५४। पुर अग्रगमने। ५५। वृहू उद्यमने। दन्त्योष्ठ्यादि। पवर्गीयादिरित्यन्ये। ५६। तृहू स्तृहू तृंहू हिंसार्थाः। तृहति। ततर्ह। स्तृहति। तस्तर्ह। तर्हिता तर्ढा। स्तर्हिता। स्तर्ढा। अतृंहीत्। अताङ्क्षीत्। अताण्ढीम्। ५६। इषु इच्छायाम्। इषुगमीति छः। इच्छति। एषिता। एष्टा। एषिष्यति। इष्यात्। ऐषीत्। ६०। मिष स्पर्धायाम्। मिषति। मेषिता ६१। किल श्वैत्यक्रीडनयोः। ६२। तिल स्नेहने। ६३। चिल वसने। ६४।

चल विलसने। ६५। इल स्वप्नक्षेपणयोः। ६६। विल संवरणे। दन्त्योष्ठ्यादिः। ६७। बिल भेदने। ओष्ठ्यादिः। ६८। णिल गहने। ६९। हिल भावकरणे। ७० शिल षिल उञ्छे। ७२। मिल श्लेषणे। ७३। लिख अक्षरविन्यासे। लिलेख। ७४। कुट कौटिल्ये। 'गाङ् कुटादिभ्य' इति ङित्त्वम्। चुकुटिथ। चुकोट। चुकुट। कुटिता। ७५। पुट संश्लेषणे। ७६। कुच संकोचने ७७। गुज शब्दे। ७८। गुड रक्षायाम्। ७९। डिप क्षेपे। ८०। छुर् छेदने। 'न भकुर्छुराम्' इति न दीर्घः छुर्यात्। स्फुट विकसने। स्फुटति। पुस्फोट। ८२। मुट आक्षेपमर्दनयोः।

८३ त्रुट छेदने। वा भ्राशेति श्यन् वा। त्रुट्यति। त्रुटति। तुत्रोट। त्रुटिता। ८४। तुट कलहकर्मणि। तुटति। तुतोट। तुटिता। ८५। चुट छुट छेदने। ८७। जुड बन्धने। ८८। कड मदे। ८९। लुट संश्लेषणे। ९०। कृड घनत्वे। घनत्वं सान्द्रता। चकर्ड। कृडिता। ९१। कुड बाल्ये। ९२। पुड उत्सर्गे। ९३। घुट प्रतिघाते। ९४। तुड तोडने। तोडनम् = भेदः। ९५। थुड स्थुड संवरणे। थुडति। तुथोड। तुस्थोड। ९७। खुड छुड इत्येके। ९६। स्फुर स्फुल सञ्चलने। १०१। स्फुर् स्फुरणे। स्फुल सञ्चलने इत्येके।

घुर धातु भयानकार्थक एवं शब्दार्थक है। पुर् धातु अग्रगमन में है। वृहू उद्यमन में है। दन्त्योष्ठ्यादि है, कोई पवर्गीयादि मानता है। दीर्घ ऊकार की इत्संज्ञा वाले तृह् स्तृह् तृंह् हिंसा अर्थ में है। वलादि आर्धधातुक को 'स्वरति' सूत्र से विकल्प इट् इन तीन में होता है। इट् में तर्हिता। पक्ष में तृह् ता' धकार ढकार लघूपधगुण ष्टुत्व ढलोप से तर्ढा। स्तर्हिता। स्तर्ढा। अतृंहीत् इडागम पक्ष में। पक्ष मे वृद्धि अनुस्वार का परसवर्ण अताङ्क्षीत्। इषु धातु

इच्छाजनक व्यापार में है । 'इच्छति' यहाँ 'इषुगमि' से छकारादेश, 'छे च' से तुक् (त्) जश्त्व – द् श्चुत्व ज् चर्त्व च् इच्छति । 'त द ज च्' यह क्रम है । एषिता । एष्टा । यहाँ 'तीषसह' सूत्र से विकल्प इडागम हुआ । लुङ् में 'आटश्च' से वृद्धि ऐषीत् । मिष धातु स्पर्धा में है, अन्य को परास्त करने की इच्छाजनकव्यापार को स्पर्धा कहते हैं । किल धातु श्वेतिमायुक्त करने में एवं क्रीडाजनक व्यापार में है । तिल स्नेहन में है । चिल वसन में है । चल धातु विलसन में है । इल धातु स्वप्न एवं क्षेपण में है । विल संवरण में है । दन्त्योष्ठ्यादि है। बिल धातु भेदनार्थक है । णिल धातु गहनार्थक है । अभिप्राय को प्रकट करने में हिल धातु है । उञ्छवृत्ति में शिल एवं षिल धातु है । मिल धातु आलिङ्गन में है ।

लिख धातु लिखना = अक्षरविन्यास में है । लिखति पत्रं कमलेशः । रमेशो लिलेख लेखम् । कुट धातु कौटिल्य में है = कुटिलताजनक व्यापार में । चुकुटिथ में 'गाङ्कुटादिभ्यः' से ङित्त्व बाधन है अतः गुण निषेध हुआ । उत्तमपुरुष में 'णलुत्तमो वा' से रूपद्वय । 'कुटिता' में ङित्-त्वात् गुण का अभाव हुआ । पुट धातु संश्लेषण = आलिङ्गन में है । कुच धातु संकोचन में है। गुज शब्द में है । गुड रक्षा में है । डिप धातु निन्दा में है । छुर धातु छेदन में हैं । छुर्यात् में 'नभकुर्' से दीर्घ का निषेध से 'हलि च' से दीर्घ न हुआ । स्फुट विकसन में है । मुट आक्षेप में एवं मर्दन में है । त्रुट धातु छेदन में है ।

'वा भ्राश' सूत्र से श्यन् विकल्प से पक्ष में 'तुदादिभ्यः' से श विकरण से 'लट् लोट् लङ् विधिलिङ्' से श्यन् एवं शघटित रूपद्वय होते हैं । त्रुट्यति । त्रुटति । तुट धातु कलह कर्म में है । चुट छुट धातु छेदन में है । जुड धातु बन्धन में है । कड धातु मद में है । लुट धातु आलिङ्गन में है । कुड सान्द्रता में है । कुडिता यहाँ ङित्त्वात् गुणाभाव है । कुड बाल्य में है । पुट उत्सर्ग में है । घुट प्रतिघात में है । तुड भेद अर्थ में है । थुड स्थुड संवरण = स्वीकार में हैं । खुड छुड संवरण में है । स्फुर फुल सञ्चलन में है । एवं स्फुरण में भी है । स्फुल धातु सञ्चलन में है ।

२५३८ स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः ८।३।७६।

षत्वं वा स्यात् । निःष्फुरति । निःस्फुरति । स्फर इत्यकारोपधं केचित्पठन्ति । पस्फार । १०२ । स्फुड चुड व्रुड संवरणे । १०५ । क्रुड भृड निमज्जन इत्येके ।१०७। गुरी उद्यमने । अनुदात्तेत् , गुरते । जुगुरे । गुरिता ।१०८। णू स्तवने । दीर्घान्तः । परिणूतगुणोदयः ।

इतश्चत्वारः परस्मैपदिनः । नुवति । अनुवीत् । १ । धू विधूनने । धुवति । गु पुरीषोत्सर्गे । जुगुविथ । जुगुथ । गुता । गुष्यति । अगुषीत् । 'ह्रस्वादङ्गात्' अगुताम् । अगुषुः । ३ । ध्रु गतिस्थैर्ययोः । ध्रुव इति पाठान्तरम् । आद्यस्य ध्रुवतीत्यादि गुवतिवत् । द्वितीयस्तु सेट् दुध्रुविथ । ध्रुविता । ध्रुविष्यति । ध्रुव्यात् । अध्रुवीत् । अध्रुविष्टाम् । ४ । कुङ् शब्दे । दीर्घान्त इति कैयटादयः । कुविता । अकुविष्ट । ह्रस्वान्त इति न्यासकारः । कुता । अकुत । वृत् । कुटादयो वृत्ताः ।

पृङ् व्यायामे । प्रायेणायं व्याङ्पूर्वः । रिङ्, इयङ्, व्याप्रियते ।

व्यापप्रे । व्यापप्राते । व्यापरिष्यते । व्यापृत । व्यापृषाताम् । १ । मृङ् प्राण-त्यागे ।

नि निर् वि इन उपसर्गों से पर स्फुर एवं स्फुल् धातु के सकार को षकारादेश विकल्प से होता है। कोई स्फर् अकारोपध इसको पढ़ते हैं। स्फुटादि तीन संवरण में हैं। निमज्जन में क्रुड् भृड् धातु हैं। गुरी उद्यमन में है। अनुदात्तेत् धातु है। गुरते। णू स्तवन में है। दीर्घान्त यह है। नैषध महाकाव्य में नल का विशेषण है परिणूतगुणोदयः = स्तुत्य गुणयुक्त अर्थ है। 'परिणूत' यहाँ 'श्रयुकः किति' से इट् का निषेध हुआ। यहाँ से चार धातु परस्मैपदी है। नुवति। अनुवीत्। उवङ् कुटादित्वप्रयुक्त ङित्व। धू धातु कम्पनार्थक है। गु धातु मलविमोचन अर्थ में है। अगुताम् यहाँ 'ह्रस्वादङ्गात्' से सिच् का लोप हुआ। ध्रु गति में एवं स्थिरताजनक व्यापार में है। कहीं ध्रुव ऐसा पाठ भी है। यह सेट् है। कुङ् शब्द में है, कूङ् दीर्घान्त पाठ है। कुटादि समाप्त हुए। पृङ् व्यायाम में है। प्रायः यह वि एवं आङ् पूर्वक ही होता है रिङ् एवं इयङ् से व्याप्रियते। लुङ् में व्यापृत 'ह्रस्वादङ्गात्' से सकारलोप है। मृङ् प्राणत्याग में है।

२५३९ म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च १।३।६१।

लुङ्लिङोः शितश्च प्रकृतिभूतान्मृङस्तङ् नान्यत्र । ङित्वं स्वरार्थम् । म्रियते । ममार । ममर्थ । मम्रिव । मर्तासि । मरिष्यति । मृषीष्ट । अमृत ।

अथ परस्मैपदिनः सप्त । रि पि गतौ । अन्तरङ्गत्वादियङ् । रियति । पियति । रेता । पेता । २ । धि धारणे । ३ । क्षि निवासगत्योः । ४ । षू प्रेरणे । सुवति । सविता । ५ । कॄ विक्षेपे । किरति । किरतः । चकार । चकरतुः । करिता । करीता । कीर्यात् । अकारीत् ।

सूत्र में शित् की अनुवृत्ति है, यह नियमार्थ है, 'अनुदात्तङित' से आत्मनेपद सिद्ध था। मृङ् लिङ् एवं शित् प्रत्यय उनकी प्रकृतिभूत जो मृङ् धातु उस से पर जो लकार उसके ही स्थान में तङ् आत्मनेपद होता है, अन्यत्र नहीं। इस नियम से लिट्, लुट्, लट्, लङ्, यहां परस्मैपद संज्ञक ही प्रत्यय होते हैं। ममार। मर्ता। मरिष्यति। 'ऋद्धनोः स्ये' से इट् अमरिष्यत्। आत्मनेपद—लट् म्रियते, रिङ्, इयङ्। म्रियताम्, अम्रियत, म्रियेत, मृषीष्ट, अमृत।

विमर्श—यहाँ शङ्का करते हैं कि मृङ् में ङित्व न करते अर्थात् 'मृ' यही पढते। 'म्रियते-र्लुङ्लिङोश्च' सूत्र को नियमार्थ न कर विध्यर्थ ही करते तब होता, "विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान्" विधि एवं नियम जहां सम्भव रहे वहाँ विधि सूत्र मानना ही अधिक श्रेष्ठ है, नियम में प्राप्त सामान्य सूत्र के बाधनार्थ नियामकशास्त्रीय उद्देश्यतावच्छेदकव्यापक जो रूप, एवं नियम्यशास्त्रीय उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य जो रूप तदतिरिक्तत्व से नियम्य (सामान्य) शास्त्रीय उद्देश्य में संकोचकर प्राप्त को अप्राप्तकर स्वयं कार्य करना यही नियम शास्त्र की विधिमुख से से प्रवृत्ति पक्ष है। इसमें गौरव है। अतः म्रियते विध्यर्थ होगा पुनः ङित् ग्रहण क्यों किया ?, इस शङ्का का समाधान इस प्रकार है—'मा हि मृत' यहां ङित् धातु से पर लकारस्थानिक सार्वधातुक प्रत्यय को अनुदात्तत्वविधानोत्तर धातु का ऋकार उदात्त हुआ, सूत्र है अनुदात्त विधायक—"तास्यनुदात्तेत् ङिदुपदेशाल्ल सार्वधातुकमनुदात्तम्"। ङित्वाभाव में तो प्रत्यय स्वर से तकाराकार उदात्त होकर शेषनिघात से धातु का अवयव ऋकार अनुदात्त होता।

अनुदात्त विधायक सूत्र है, "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" इस पद में उदात्त या स्वरित का विधान हो वहां उस उदात्त एवं स्वरित अच् को छोड़कर अवशिष्ट अच् को यह निघात = अनुदात्तबोधन करता है। मा के योग में अडागम का अभाव हुआ, 'तास्यनुदात्तेत्' सूत्र में ङित्करण सामर्थ्य से सिच् लोप असिद्ध नहीं होता है, अत् ङित् से पर सार्वधातुक है ही। 'मा' का योग न करते तो 'अमृत' होता 'धातोः' से आदि अवयव 'अट्' का अकार उदात्त होता 'मृ' अनुदात्त होता 'मृ' अनुदात्त होता ङित् ग्रहण व्यर्थ होता अतः 'मा हि मृत' उदाहरण दिया है।

'तिङ्ङतिङः' से निघात की प्रवृत्ति होने पर ङित् ग्रहण व्यर्थ पुनः होता अतः 'तिङ्ङतिङः' इसकी अप्रवृत्ति के लिए एवं 'हि च' निषेधक शास्त्र की प्रवृत्त्यर्थ 'हि' शब्द का प्रयोग किया है। हि के योग में अनुदात्त नहीं होता है—'हि च' निघात निषेधक सूत्र है। जब स्वरार्थ ङित् ग्रहण आवश्यक है तो 'म्रियतेः' सूत्र नियमार्थक ही है, "फलमुखं गौरवं न दोषाधायकम्" इस न्याय से।

नियामक शास्त्र की विधि मुख से प्रवृत्ति होती है यह एक पक्ष है। निषेधमुख से प्रवृत्ति है, यह दूसरा पक्ष है, द्वितीय पक्ष का वहां ही अवलम्बन होता है, जहाँ नियामकशास्त्र की वैयर्थ्य-सम्भावना हो। या 'स्नुषाश्वश्रून्याय' की प्रवृत्ति है = अर्थात् व्यर्थ व्यापार प्रतीयमान हो। स्नुषा = पुत्रवधूः। श्वश्रूः = सास। कोई स्त्री किसी के यहां तक्र लेने गई थी, पतोहू ने कहा कि तक्र (मट्ठा) नहीं है वह वापस आ रही थी रास्ते में उस 'पतोहू' की सास मिली उसने पूर्व वृत्तान्त कहा। तब उसको सुनकर सास उस स्त्री को पुनः अपने घर लायी और कहा कि तक्र नहीं है, पूछने पर कहा कि गृहस्वामिनी मैं हूँ मना करूँ या वस्तु का प्रदान करूँ सर्वाधिकार मेरा सुरक्षित ही है 'स्नुषा' को अधिकार नहीं है मना करने का भी यह न्यायस्वरूप है। अर्थात् व्यर्थ व्यापार।

परस्मैपदी धातु सात हैं। रि पि धातु गति में है। लघूपध गुण की अपेक्षा इयङ् अन्तरङ्ग है। रियति। पियति। पेता। धारण में धि धातु है। निवास एवं गति में क्षि धातु है। पृथ्वी-वाचक 'क्षिति' शब्द की सिद्धि इससे होती है। क्षियन्ति जनाः यत्र सा क्षितिः = मानवनिवास का अधिकरण स्थान मानव उपलक्षणविधया भासमान है, अन्य का भी संग्रह होता है। यहां क्षियन्ति = निवसन्ति अर्थ है। प्रेरण में पू धातु है। कॄ धातु विक्षेप में है, 'ऋत इद्धातोः' से इत्व रपरत्व से किरति। चकार। 'वॄतो वा' करीता। करिता। अकारीत्।

२५४० किरतौ लवने ६।१।१४०।

उपात् किरतेः सुडागमः स्याच्छेदेऽर्थे। उपस्किरति। अडभ्यासव्यवसायेऽपि। ॐ सुट्कात् पूर्व इति वक्तव्यम्। ॐ उपास्किरत्। उपचस्कार।

छेदन अर्थ में उप उपसर्ग से पर 'कॄ' को सुट् आगम होता है, 'उपात् प्रतियत्ने' से दिग्योग लक्षण पञ्चम्यन्त 'उपात्' की अनुवृत्ति यहां है। अतः उप एवं धातु इनके मध्य में व्यवधानकर्ता वर्ण रहे वहां सुट् अप्राप्त था अतः अट् एवं अभ्यास का व्यवधान में भी सुट् आगमार्थ सूत्र है 'अडभ्यासव्यवायेऽपि'। वह सुट् ककार से पूर्व में होता है।

२५४१ हिंसायां प्रतेश्च ६।१।१४१।

उपात् प्रतेश्च किरतेः सुट् स्यात् हिंसायाम्। उपस्किरति। प्रतिस्किरति।

६। गॄ निगरणे।

चकार से उप का संग्रह हुआ। उप एवं प्रति से पर कॄ धातु को सुट् आगम हिंसा में होता है। गॄ धातु निगरण में है।

२५४२ अचि विभाषा ८।२।२१।

गिरते रेफस्य लत्वं वा स्यादजादौ। गिरति। गिलति। जगाल। जगार। जगलिथ। जगरिथ। गलीता। गरीता। गलिता। गरिता। ७ दृङ् आदरे। आद्रियते। आदद्रे। आदद्रिषे। आदर्ता। आदरिष्यते। आदृषीष्ट। आदृत। आदृषाताम्। १। धृङ् अवस्थाने। ध्रियते २।

अजादि प्रत्यय पर में रहते गॄ धातु के रेफ को लकार विकल्प से होता है। लुट् में वॄतो वा से इडागम का विकल्प से दीर्घ होता है।

दृङ् धातु आदर में है। रिङ् इयङ् आद्रियते। धृङ् अवस्थान में है। ध्रियते।

अथ परस्मैपदिनः षोडश। प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्। पृच्छति। पप्रच्छ। पप्रच्छतुः। पप्रच्छिथ। पप्रष्ठ। प्रष्टा। प्रक्ष्यति। अप्राक्षीत्। १। वृत्। किरादयो वृत्ताः। सृज विसर्गे। "विभाषा सृजिदृशोः"। ससर्जिथ। सस्रष्ठ। स्रष्टा। स्रक्ष्यति। "सृजिदृशोर्झल्यमकिति" इत्यमागमः। सृजेत्। सृज्यात्। अस्राक्षीत्। २। टुमस्जो शुद्धौ। मज्जति। ममज्ज। ममज्जिथ। मस्जिनशोर्झलीति नुम्। ❀ मस्जेरन्त्यात् पूर्वो नुम् वाच्यः ❀। संयोगादिलोपः, ममङ्क्थ। मङ्क्ता। मङ्क्ष्यति। अमाङ्क्षीत्। अमाङ्क्ताम्। अमाङ्क्षुः। ३।

रुजो भङ्गे। रोक्ता। रोक्ष्यति। अरौक्षीत्। अरौक्ताम्। ४। भुजो कौटिल्ये। रुजिवत्। ५ छुप स्पर्शे। छोप्ता। अच्छौप्सीत्। ६। रुश रिश हिंसायाम्। ताल्व्यान्तौ। रोष्टा। रोक्ष्यति। रेष्टा। रेक्ष्यति। ८ लिश गतौ। अलिक्षत्। ९। स्पृश संस्पर्शने। स्प्रष्टा। स्पर्ष्टा। स्प्रक्ष्यति। स्पर्क्ष्यति। अस्प्राक्षीत्। अस्पार्क्षीत्। अस्पृक्षत्। १०। विच्छ गतौ। 'गुपूधूपे'त्यायः। आर्धधातुके वा। विच्छायति। विच्छायाञ्चकार। विविच्छ। ११।

१६ परस्मैपदी धातु का प्रदर्शन करते है। प्रच्छ धातु ज्ञीप्सा में है। 'ग्रहिज्या' से सम्प्रसारण हुआ एवं पूर्वरूप पृच्छति। पप्रच्छ। पप्रच्छतु। इडागम भारद्वाज मत में हुआ थल् में पप्रच्छिथ। में व्रश्चेति षकार से पप्रष्ठ ष्टुत्व हुआ। 'प्रच्छ ता' षत्व ष्टुत्व से प्रष्टा। 'षढोः' से ककार प्रक्ष्यति। अप्राक्षीत्। किरादि धातु समाप्त हुए। सृज धातु त्याग में है। थल् में 'विभाषा सृजि' से विकल्प इडागम हुआ। ससर्जिथ। पक्ष में षत्व ष्टुत्व 'सृजिदृशोः' से अमागम, यण् सस्रष्ठ। स्रष्टा। स्रक्ष्यति। सृजेत्। सृज्यात् यहां कित्व से अमागमाभाव हुआ। 'अस् अज् स् ईत्' यण्, हलन्त लक्षणा वृद्धि षत्व कत्व क्षत्व अस्राक्षीत्।

टुमस्जो धातु शुद्धि में है। सकार का शकार उसका जश् भाव से मज्जति। ममज्जिथ। पक्ष में 'मस्जिनशोः' से नुम् आगम हुआ, वह नुम् अन्त्य जकार के पूर्व में होता है सकार के वाद। यह वार्तिक 'मिदचोऽन्त्यात्' का बाधक है। संयोग के आदि सकार का 'स्कोः' सूत्र से लोप हुआ। नकार का अनुस्वार जकार का गकार जश्त्व से चर्त्व से ककार परसवर्ण ङकार 'ममङ्क्थ'।

मङ्क्ता । अमाङ्क्षीत् । हलन्तलक्षणा वृद्धि नुम् । रुज् धातु भङ्ग में है । अरौक्षीत् में वृद्धि षत्व कत्व षत्व क्षत्व । 'अरौक्ताम्' में सकार लोप हुआ । भुज धातु कुटिलता में है । रुज् के समान रूप है । छुप् स्पर्श में है । रुश एवं रिश् हिंसा में है । यह तालव्यान्त है । लिश गति में है । लुङ् में च्लि को क्सादेश षत्व कत्व क्षत्व अलिक्षत् ।

स्पृश् धातु संस्पर्शन में है । 'अनुदात्तस्य' से अम् विकल्प से होता है, यण् से स्प्रष्टा । पक्ष में गुण स्पर्ष्टा । लुङ् में अम् पक्ष में यण् वृद्धि षत्व कत्व क्षत्व अप्राक्षीत् । अम् के अभाव में अस्पाक्षीत् । 'स्पृशमृष' से विकल्प सिच् में पूर्वोक्त रूपद्वय । पक्ष में क्सादेश से अस्पृक्षत् । विच्छ गति में है । 'गुपूधूप' से आय होता है, वह आर्धधातुक में विकल्प से होता है । विच्छायति । विच्छायाञ्चकार । पक्ष में विविच्छ ।

विश प्रवेशने । विशति । वेष्टा । १२ । मृश आमर्शने । आमर्शनं स्पर्शः । अम्राक्षीत् । अमार्क्षीत् । अमृक्षत् । १३ । णुद प्रेरणे । कर्त्रभिप्रायेऽपि फले परस्मैपदार्थः पुनः पाठः । १४ । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । सीदति इत्यादि भौवादिकवत् । इह पाठो नुम्विकल्पार्थः । सीदन्ती । सीदती । ज्वलादौ पाठस्तु णार्थः । सादः । स्वरार्थश्च । शबनुदात्तः । शस्तूदात्तः । १५ । शद्लृ शातने । स्वरार्थ एष पुनः पाठः । १५ । शता तु नास्ति, शदेः शित इत्यात्मनेपदोक्तेः । १६ ।

अथ षट् स्वरितेतः । मिल सङ्गमे । 'मिल संश्लेषणे' इति पठितस्य पुनः पाठः कर्त्रभिप्राये तदर्थः । मिलति । मिलते । मिमेल । मिमिले । १ मुच्लृ मोक्षणे ।

विश धातु प्रवेशन में है । मृश स्पर्श में है । ऋदुपध लक्षण अमागम यण् वृद्धि षत्व कत्व क्षत्व अम्राक्षीत् । पक्ष में अमार्क्षीत् । सिच् पक्ष में क्सादेश में अमृक्षत् । णुद प्रेरणा में है । क्रियाजन्यफल कर्तृगामि रहे वहां भी परस्मैपदार्थ पुनः पाठ इसका यहां किया है । षद्लृ विशरण में, गति में, अवसादन में है । 'पाघ्राध्मा' से सीद आदेश लट् लोट् लङ् विधिलिङ् में होता है । भ्वादिवत् रूप हुए । यहां इसका पाठ नुम्विकल्पार्थ है—सीदन्ती । सीदती । ज्वलादि में पाठ णप्रत्ययार्थ है यथा—सादः । एवं स्वरार्थ भी है । शप् करने पर 'अनुदात्तौ' से अनुदात्त है । शप्रत्यय उदात्त प्रत्ययस्वर से है । शद्लृ शातन में है । स्वरार्थ पुनः इसका यहां पाठ है । शविकरण उदात्त है : इसको शतृ प्रत्यय नहीं होता है, क्योंकि 'शदेः शितः' सूत्र से यह आत्मनेपदी है ।

६ धातु स्वरितेत् है । मिल धातु संगम में है । पूर्व में श्लेषण में यह पठित धातु है, क्रियाजन्य फल कर्तृगामी रहे वहां आत्मनेपदार्थ इसका पाठ है । मिलति । मिलते । मुच्लृ धातु मोक्षण मोचन अर्थ । में है ।

२५४३ शे मुचादीनाम् ७।१।५९।

नुम् स्यात् । मुञ्चति । मुञ्चते । मोक्ता । मुच्यात् । मुक्षीष्ट । अमुचत् । अमुक्त । अमुक्षाताम् । २ लुप्लृ छेदने । लुम्पति । लुम्पते । अलुपत् । अलुप्त । ३ । विद्लृ लाभे । विन्दति । विन्दते । विवेद । विविदे । व्याघ्रभूत्यादिमते तु

सेट्कोऽयम् । वेदिता । भाष्यादिमतेऽनिट्कः । वेत्ता । परिवेत्ता । परिवर्जने । ज्येष्ठं परित्यज्य दारान् अग्नींश्च लब्धवानित्यर्थः । तृन् तृचौ । ४ ।

लिप उपदेहे । उपदेहो वृद्धिः । लिम्पति । लिम्पते । लेप्ता । लिपिसिचीत्यङ् । तङि तु वा । अलिपत् । अलिपत । अलिप्त । ५ । षिच क्षरणे । सिञ्चति । सिञ्चते । असिचत् । असिचत । असिक्त । अभिषिञ्चति । अभ्यषिञ्चत् । अभिषिषेच । ६ ।

मुच् आदि धातुओं को शप्रत्यय पर में रहते नुम् आगम होता है। "अथ मुञ्चति संसारं श्रीसम्पूर्णानन्दः 'संस्कृतविश्वविद्यालयसंस्थापकः मुञ्चते वा"। यहाँ नुम्, अनुस्वार एवं परसवर्ण हुआ। लुङ् में लृदित्वप्रयुक्त 'पुषादि' से अङ् हुआ। अमुक्त में 'झलः' से सकार लोप। लुप्लृ धातु छेदन में है। विद्लृ लाभ में है। व्याघ्रभूति आदि आचार्यों के मत में यह धातु सेट् है। अतः वेदिता। भाष्यमत में यह अनिट् है। वेत्ता। 'परिवेत्ता' में परि वर्जनार्थक है। धर्मशास्त्र में परिपूर्वक विद् से तृज् प्रत्ययान्त 'परिवेत्ता' दोषविशेष है—ज्येष्ठ भ्राता को छोड़कर लघु भ्राता विवाह एवं अग्न्याधान जहाँ करता है वह लघुभ्राता 'परिवेत्ता' दोषभागी होता है। तृन्नन्त या तृजन्त यह रूप है।

लिप् उपदेहे। उपदेहो वृद्धिः। लिम्पति। लिम्पते। लेप्ता। 'लिपि सिचि' से लुङ् अङ नित्य परस्मैपद में अलिपत्। आत्मनेपद में अङ् विकल्प से। षिच् क्षरण में है। धातु के आदि षकार का सकारादेश हुआ। नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण सिञ्चति। लुङ् में 'लिपि सिचि' से अङ् असिचत्। आत्मनेपद में विकल्प से— असिचत। असिक्त।

अथ त्रयः परस्मैपदिनः। कृती छेदने । कृन्तति । चकर्त । कर्तिता । कर्तिष्यति । कर्त्स्यति । अकर्तीत् । १ । खिद उपघाते । खिन्दति । चिखेद । खेत्ता । अयं दैन्ये दिवादौ रुधादौ च । २ । पिश अवयवे । पिंशति । पेशिता । अयं दीपनायामपि । त्वष्टा रूपाणि पिंशतु । ३ । इति मुचादयः, तुदादयश्च ।

इति तुदादयः

अब तीन परस्मैपदी धातु है। कृती छेदन में है। नुम् कृन्तति। 'सेऽसिचि' से विकल्प इट् हुआ। कर्तिष्यति। कर्त्स्यंति। अकर्तीत 'नेटि' से वृद्धिनिषेध, गुण रपरत्व। खिद उपघात में है। नुम्। खिन्दति। यह धातु दैन्य में दिवादि एवं में है। पिश धातु अवयव में है। यह दीपनार्थक भी है। 'पिंशतु = दीपयतु' यह अर्थ है। मुचादि एवं तुदादि समाप्त हुए।

पं० श्री बालकृष्ण पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में तुदादिप्रकरण समाप्त।



अथ रुधादिप्रकरणम्

रुधिर् आवरणे। नव स्वरितेत इरितश्च।

संयोगजनक जो व्यापार उसका जो अभावजनक व्यापार वह रुधिर् धातु का अर्थ है अर्थात् आवरण में यह धातु है। संयोगजनकव्यापाराभावानुकूलो व्यापारो रुध्धात्वर्थः। नवधातु स्वरितेत् हैं, अर्थात् उभयपदी हैं। एवं 'इर्' की इत्संज्ञायुक्त है।

२५४४ रुधादिभ्यः श्नम् ३।१।७८।

शपोऽपवादः। मित्त्वादन्त्यादचः परः, नित्यत्वाद् गुणं बाधते। रुणद्धि। श्नसोरल्लोपः। णत्वस्यासिद्धत्वादनुस्वारः। परसवर्णः तस्यासिद्धत्वाण्णत्वं न, न पदान्तेति सूत्रेणानुस्वारपरसवर्णयोरल्लोपो न स्थानिवत्। रुन्धः। रुन्धन्ति। रुन्धे। रोद्धा। रोत्स्यति। रोत्स्यते। रुणद्धु। रुन्धात्। रुन्धि। रुणधानि। रुणधै। अरुणत्। अरुन्धाम्। अरुणत्। अरुणः। अरुणधम्। अरुधत्। अरौत्सीत्। अरुद्ध॥ १॥

रुध् आदिगण पठित धातुओं से पर 'श्नम्' विकरण होता है। यह शप् का बाधक है, उत्सर्ग एवं अपवाद इन दोनों का समानविषयकत्व नियम है अतः कर्त्रर्थक सार्वधातुक पर में रहे वहां ही श्नम् विकरण होता है। 'श्नम्' में शकार की इत्संज्ञा लोप हुआ, मकार की इत संज्ञा लोप से यह प्रत्यय मित है अतः 'मिदचोऽन्त्यात्परः' सूत्र से अन्त्याच् से पर 'न' होता है।

यह विकरण लघूपधगुण को नित्यत्व के कारण बाध करता है। नकार को णकारादेश एवं धकार को जश् से दकारादेश रुणद्धि। रुनध तस् यहाँ 'श्नसोः' से अकार के लोप के बाद णकारादेश प्राप्त है, किन्तु असिद्ध के कारण अनुस्वार हुआ ततः परसवर्ण हुआ। वह परसवर्ण असिद्ध है अतः णकार न हुआ। 'न पदान्त' सूत्र से अकार लोप का 'अचः परस्मिन्' से स्थानिवद्भाव न हुआ, 'रुन्ध् तस्' यहाँ तकारको धकार 'झरः' से धकारलोप रुन्धः। रुन्धन्ति, 'श्नसोः' से अकार लोप है। आत्मनेपद में 'रुनध् ते' अकारलोप धकारादेश धकारलोप अनुस्वार परसवर्ण रुन्धे। रोद्धा धत्व जश्त्व लघूपधगुण। रोत्स्यति, पूर्ववत् कार्य, खरि च से चर्त्व। आत्मनेपद में रोत्स्यते। लोट् में रुणद्धु। तातङ् पक्ष में 'रुनध्तात्' यहाँ न लोप अनुस्वार परसवर्ण धत्व धकारलोप रुन्धात्। हि में रुन्धि, हि को धि आदेश हुआ। रुणधै—हट् एकार ऐकार। अरुधत्। अरुणः—'सिपि धातोरुर्वा' विकल्प रुभाव। लुङ् मे अरौत्सीत्। हलन्तलक्षणा वृद्धि जश्त्व चर्त्व 'अरुद्ध' यहां सकारलोप धत्व जश्त्व हुआ। अङ् पक्षमें अरुधत्। 'इरितो वा से विकल्प से अङ्।

भिदिर् विदारणे। भिनत्ति। भिन्ते। भेत्ता। भेत्स्यते। अभिनत्। अभिनः। अभिनदम्। अभिन्त। अभिदत्। अभैत्सीत्। अभित्त। २। छिदिर् द्वैधीकरणे। अच्छिदत्। अच्छैत्सीत्। अच्छित्त। ३। रिचिर् विरेचने। रिणक्ति। रिङ्क्ते। रिरेच। रिरिचे। रेक्ता। अरिणक्। अरिचत्। अरैक्षीत्। अरिक्त। ४। विचिर् पृथग्भावे। विनक्ति। विङ्क्ते। ५।

क्षुदिर् सम्पेषणे। क्षुणत्ति। क्षुन्ते। क्षोत्ता। अक्षुदत्। अक्षौत्सीत्। अक्षुत्त। ६। युजिर् योगे। योक्ता। ७। उछृदिर् दीप्तिदेवनयोः। छृणत्ति। छृन्ते। चच्छर्द। सेऽसिचीति वेट्। चच्छृदिषे। चच्छृत्से। छर्दिता। छर्दिष्यति। छर्त्स्यति। अच्छृदत्। अच्छर्दीत्। अच्छर्दिष्ट। ८। उतृदिर् हिंसानादरयोः। तृणत्तीत्यादि। ९। कृती वेष्टने। परस्मैपदी। कृणत्ति। आर्धधातुके तौदादिकवत्। १०। ञिइन्धी दीप्तौ। त्रयः आत्मनेपदिनः।

भिदिर् धातु विदारण में है। द्विधाभवनजनक व्यापार इसका अर्थ है। 'भिनत्ति' चर्त्व से से दकार का तकारादेश। भिन्तः। भिन्ते। लङ् में सिप् में रु विकल्प से–अभिनः। अभिनत्। लुङ् में च्लि को 'इरितो वा' से अङ् विकल्प से हुआ 'अभिदत्' पक्ष में अभैत्सीत्। आत्मनेपद में अभित्त। छिदिर् द्वैधीकरण में है। रिचिर् विरेचन में है। विचिर् पृथग्भाव में है। सम्पेषण में क्षुदिर् है। लुङ् में विकल्प से अङ् पक्षमें सिच् एवं वृद्धि अक्षुदत्, अक्षौत्सीत्।

युजिर् योग = सम्बन्धार्थक है। दीप्ति एवं देवन में च्छृद् धातु है। इर् की इत्संज्ञा। सादि आर्धधातुक में 'सेऽसिचि' से विकल्प इडागम होता है। इस को लुङ् में अङ् अच्छृदत्। अच्छर्दीत् नेटीति वृद्धिनिषेध हुआ। उतृदिर् हिंसा एवं अनादर में है। कृती वेष्टन में है। परस्मैपदी यह है। आर्धधातुक में तुदादिगणपठित इसके रूप हैं। दीप्ति में इन्धी है। तीन धातु आत्मनेपदी हैं।

२५४५ श्नान्नलोपः ६।४।२३।

श्नमः परस्य नस्य लोपः स्यात्। श्नसोरल्लोपः। इन्धे। इन्त्से। इन्धिता। इन्धै। ऐन्ध। ऐन्धाः। १। खिद दैन्ये। खिन्ते। खेत्ता। २। विद विचारणे। विन्ते। वेत्ता। ३।

श्नम् से पर नकार का लोप होता है। 'श्नसोः' स अकार का लोप कर के इन्धे तकार को धकार एवं धातु के धकार का लोप, अनुस्वार परसवर्ण हुआ।

खिद धातु दैन्य अर्थ में है। खिन्ते। खेत्ता। विद् धातु विचारण में है। विन्ते। वेत्ता।

अथ परस्मैपदिनः। शिष्लृ विशेषणे। शिनष्टि। शिंष्टः। शिंषन्ति। शिशेषिथ। शेष्टा। शेक्ष्यति। हेर्धिः। जश्त्वम्। 'झरो झरि' इति वा डलोपः। अनुस्वारपरसवर्णौ शिण्ढि शिण्ड्ढि। शिनषाणि। अशिनट्। लृदित्वादङ्। अशिषत्। १। पिष्लृ सञ्चूर्णने। शिषिवत्। पिनष्टि। २। भञ्जो आमर्दने। भनक्ति। बभञ्जिथ। बभङ्क्थ। भङ्क्ता। ३। भुज पालनाभ्यवहारयोः। भुनक्ति। भोक्ता। भोक्ष्यति। अभुनक्। ४। तृह हिंसि हिंसायाम्।

शिष्लृ धातु विशेषण में है। शिनष्टि। लोट् मध्यम पुरुष एकवचन में 'शिष् हि' 'हुझल्भ्यः' से धि आदेश, थकार को जश्त्व, झरो झरि से विकल्प डकार का लोप, अनुस्वार, परसवर्ण शिण्ढि। पक्ष में शिण्ड्ढि। यहां अनुस्वार एवं परसवर्ण करने में अकार लोप का स्थानिवद्भाव 'अचः परस्मिन्' से प्राप्त था किन्तु न हुआ 'न पदान्त' सूत्र से स्थानिवद्भाव का निषेध हुआ।

लुङ् में अङ् 'अशिषत्' । पिष्लृ धातु सञ्चूरण में है । शिष् के समान रूप है । भञ्ज धातु आमर्दन में है । भुज धातु पालन एवं भोजन में है । तृह एवं हिसि धातु हिंसा में है ।

२५४६ तृणह इम् ७।३।९२।

तृहः श्नमि कृते इमागमः स्याद् हलादौ पिति । तृणेढि । तृण्ढः । ततर्ह । तर्हिता । अतृणेट् । हिनस्ति । जिहिंस । हिंसिता । ६ । उन्दी क्लेदने । उनत्ति । उन्तः । उन्दन्ति । उन्दाञ्चकार । औनत् । औन्ताम् । औन्दन् । औनः । औनत् । औनदम् । ७ । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । अनक्ति । अङ्क्तः । अञ्जन्ति । आनञ्ज । आनञ्जिथ । आनङ्क्थ । अङ्क्ता । अञ्जिता । अङ्धि । अनजानि । आनक् ।

हलादि पित प्रत्यय पर रहते श्नम् विकरणयुक्त तृ ह् को इमागम होता है । 'तृणह' इस सौत्रनिर्देश से 'तृण' के उत्तर इम् आगम हुआ । लट् में 'तृण इह् ति' यहां गुण, ढत्व, धत्व, ष्टुत्व ढलोप तृणेढि । 'तृण्ढः' यहां 'श्नसोः' से अकारलोप कर पूर्ववत् कार्य । अतर्हीत् । हिनस्ति । उन्दी धातु आर्द्रीभाव में है । लिट् में 'इजादेः' से आम् उन्दाञ्चकार । अञ्जू व्यक्ति में म्रक्षण में कान्ति में, एवं गति में है । ऊकारेत् होने से वलादि आर्धधातुक में विकल्प से इडागम होता है । थल् में सिद्धान्त पक्ष में क्रादिनियम से विकल्प इडागमविधायक का बाधकर एक ही 'आनञ्जिथ' रूप होता है । न शब्द वा शब्द से प्राप्त यावत् इट् का क्रादिनियम नियमन करता है । लुट् में दो रूप—अञ्जिता । पक्ष में अङ्क्ता । हि को धि आदेश अङ्धि ।

२५४७ अञ्जेः सिचि ७।२।७१।

अञ्जेः सिचो नित्यमिट् स्यात् । आञ्जीत् । ८ । तञ्चू संकोचने । तञ्चिता । तङ्क्ता । ६ । ओविजी भयचलनयोः । विनक्ति । विङ्क्तः । विज इडिति ङित्त्वम्, विविजिथ । विजिता । अविनक् । अविजीत् । १० । वृजी वर्जने । वृणक्ति । वर्जिता । ११ । पृची संपर्के । पृणक्ति । पपर्च । १२ ।

इति रुधादयः ।

अञ्ज धातु से पर सिच् को नित्य इडागम होता है । यह 'स्वरति' सूत्र का बाधक है । आञ्जीत् एकरूप । तञ्चू संकोचन में है, ऊदित् लक्षण विकल्प इट् वलादि आर्धधातुक को होता है । ओविजी भय एवं गत्यर्थक है । 'विविजिथ' यहाँ 'विज इट्' से ङित्त्व है, अतः गुणाभाव हुआ । विजिता । यहाँ भी गुणाभाव । लुङ् में 'अविजीत्' वृजी वर्जन में है । पृची संपर्क में है ।

पं० श्री बालकृष्ण पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में रुधादि प्रकरण समाप्त ।

अथ तनादिप्रकरणम्

अथ सप्त स्वरितेतः। तनु विस्तारे। 'तनादिकृञ्भ्य उः' तनोति। तन्वः। तनुवः। तनुते। ततान। तेने। तनु। अतानीत्। अतनीत्।

यहाँ से सात धातु स्वरित की इत्संज्ञा वाले उभयपदी हैं। तनु धातु विस्तारजनकव्यापारार्थक है। तनादिगणपठित एवं कृञ् धातु को शप् के विषय में उकार विकरण होता है। उकार की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक संज्ञा हुई। तनोति, गुण 'सार्वधातुक' सूत्र से हुआ। 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्' से उकार का विकल्प से लोप हुआ। तन्वः। तनुवः। आत्मनेपद में तनुते। लिट् में 'अत उपधायाः' वृद्धि 'ततान'। आत्मनेपद में लिट् में एत्वाभ्यासलोप तेने। तनिता। तनिता। तनिष्यति। तनिष्यते। तनोतु। 'तनु' में 'उतश्च प्रत्ययात्' से हि का लोप। तनुताम्। अतनोत्। अतनुत। तनुयात्। तन्वीत। तन्यात्। तनिषीष्ट। 'अतानीत्' 'अतनीत्' यहाँ 'अतो हलादेः' से विकल्प से वृद्धि सकारलोप दीर्घ।

२५४८ तनादिभ्यस्तथासोः २।४।७९।

तनादेः सिचो वा लुक् स्यात् तथासोः। थासा साहचर्यादेकवचनतशब्दो गृह्यते। तेनेह न–यूयम् अतनिष्ट। अनुदात्तोपदेशेत्यनुनासिकलोपः। तङि अतत। अतनिष्ट। अतथाः। अतनिष्ठाः। १।

त एवं थास् पर में रहते तनादि से पर सिच् का विकल्प से लोप होता है।

यहाँ मध्यमपुरुष का बहुवचनवाला 'त' का ग्रहण नहीं है किन्तु थास् के साहचर्य से प्रथमपुरुष एकवचन 'त' ही ग्रहण है। अतः यूयम् अतनिष्ट यहाँ सकार का लोप विकल्प से इस सूत्र से न हुआ। आत्मनेपद में अतत अतनिष्ट दो रूप हुए। 'अतत' में नकार का लोप 'अनुदात्तोपदेश' से सकार का लोप इस से विकल्प से, पक्ष में अतनिष्ट। 'अतथाः' यहां सकार-नकार-लोप हुआ। पक्ष में अतनिष्ठाः।

षणु दाने। सनोति। सनुते। 'ये विभाषा' सायात्। सन्यात्। जनसनेत्यात्वम्–असात। असनिष्ट। असाथाः। असनिष्ठाः। २। क्षणु हिंसायाम्। क्षणोति। क्षणुते। ह्म्यन्तेति न वृद्धिः–अक्षणीत्। अक्षत। अक्षणिष्ट। अक्षथाः। अक्षणिष्ठाः। ३। क्षिणु च।

उप्रत्ययनिमित्तको लघूपधगुणः "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इति न भवतीत्यात्रेयादयः। भवत्येवेत्यन्ये। क्षिणोति। क्षेणोति। क्षेणितासि। क्षेणितासे। अक्षेणीत्। अक्षित, अक्षेणिष्ट। ४। ऋणु गतौ। ऋणोति। अर्णोति। ऋणुतः। अर्णुतः। ऋण्वन्ति। अर्णवन्ति। आनर्ण। आनृणे। अर्णितासि। आर्णीत्। आर्त। आर्णिष्ट। आर्थाः। आर्णिष्ठाः। ५। तृणु अदने। तृणोति। तर्णोति। तृणुते। तर्णुते। ६। घृणु दीप्तौ। जघर्ण। जघृणे॥ ७॥

अथ द्वावनुदात्तेतौ। वनु याचने। वनुते। ववने। चान्द्रमते परस्मैपदी। वनोति। ववान। १। मनु अवबोधने। मनुते। मेने। २। डुकृञ् करणे। करोति। अत उत्सार्वधातुके। कुरुतः। यण्। 'न भकुर्छुराम्' इति न दीर्घः। कुर्वन्ति।

षणु धातु दान में है। षकार को सकारादेश हुआ। सनोति। आशीर्लिङ् में 'ये विभाषा' से आत्व वैकल्पिक सायात्। पक्ष में सन्यात्। असात यहां 'जनसन' से आत्व हुआ। पक्ष में असनिष्ट। त थ में विकल्प से सिच् का लोप है। क्षणु हिंसामें है। लुङ् में अक्षणीत् 'ह्म्यन्त' से वृद्धि का निषेध हुआ।

क्षिणु धातु भी हिंसा में है। उकार आर्धधातुक प्रत्यय निमित्तक गुण अनित्य है। 'ओर्गुणः' यहां 'ओरव्' न्यास करते गुणग्रहणसामर्थ्य से यह परिभाषा ज्ञापित होती है कि—"संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इति अतः गुणाभाव यह आत्रेयादिक मत है।

वस्तुतः यह परिभाषा नहीं है उस मत में गुण होता है। यह मतभेदप्रयुक्त गुणाभाव एवं गुण से रूपद्वय होते हैं। यथा क्षिणोति। क्षेणोति। अक्षेणीत् लुङ् में। ऋणु गति में है। ऋणोति गुणाभाव। पक्ष में गुण अर्णोति। तृणु अदन में है। गुणाभाव तृणोति। गुण तर्णोति। घृणु दीप्ति में है। जघर्ण। आत्मनेपद में जघृणे। ७।

अब दो धातु अनुदात्तेत् हैं वनु याचन में है। वनुते। पक्ष में ववने। वादित्व प्रयुक्त 'नशसदद' से एत्वाभ्यास लोप न हुआ। चान्द्रमत में यह परस्मैपदी है। वनोति। ववान। मनु धातु अवबोधन में है। मनुते। मेने। २।

डुकृञ् धातु करणमें है। कृ उ ति। गुण से अर् उकार का गुण करोति। कुरुतः, यहां उकारनिमित्तक गुण कर 'अत उत्सार्वधातुके' अकार को उकारादेश हुआ तस् ङित् है अतः उकार का गुण न हुआ। 'कुर्वन्ति' यहां प्राप्त दीर्घ का 'न भकुर्छुराम्' से निषेध हुआ।

२५४९ नित्यं करोतेः ६।४।१०८।

प्रत्ययोकारस्य नित्यं लोपः स्याद् वमोः परयोः। कुर्वः। कुर्मः। चकर्थ। चकृव। चकृषे। कर्ता। करिष्यति।

व एवं म पर रहते कृ धातु से पर उकार का नित्यलोप होता है। यथा—कुर्वः। कुर्मः। 'करिष्यति' में 'ऋद्धनोः स्ये' से इट् हुआ।

२५५० ये च ६।४।१०९।

कृञ उलोपः स्याद् यादौ प्रत्यये परे। कुर्यात्। आशिषि क्रियात्। कृषीष्ट। अकार्षीत्। तनादिभ्य इति लुकोऽभावे ह्रस्वादङ्गादिति सिचो लोपः। अकृत। अकृथाः।

यकारादि प्रत्यय पर में रहते कृञ् से पर उकार का लोप होता है। कुर्यात्। आशीर्लिङ् में रिङ् एवं दीर्घाभाव से क्रियात्। कृषीष्ट उश्च से कित्व प्रयुक्त यहां गुणाभाव हुआ। अकार्षीत्। 'सिचि वृद्धिः' से वृद्धि हुई। 'तनादिभ्यः' से लुक् के अभावपक्ष में सकार का 'ह्रस्वादङ्गात्' से लुक् हुआ—अकृत। अकृथाः।

२५५१ संपरिभ्यां करोतौ भूषणे ६।१।१३७।

भूषण अर्थ में सम् एवं परि से पर कृ धातु को सुट् आगम होता है।

२५५२ समवाये च ६।१।१३८।

संपरिपूर्वस्य करोतेः सुट् स्याद् भूषणे सङ्घाते चार्थे। संस्करोति = अलङ्करोतीत्यर्थः। संस्कुर्वन्ति = सङ्घीभवन्तीत्यर्थः। संपूर्वस्य क्वचिदभूषणेऽपि सुट्—'संस्कृतं भक्षा' इति ज्ञापनात्। 'परिनिविभ्यः' इति षः। परिष्करोति। सिवादीनां वा—पर्यष्कार्षीत्। पर्यस्कार्षीत्।

संपरिपूर्वक कृधातु को सुट् आगम होता है, भूषण अर्थ एवं संघात अर्थ में। संस्करोति = वह अपने को अलंकृत करता है। विप्राः संस्कुर्वन्ति = संघीभवन्ति = ब्राह्मण इकट्ठे होते हैं। 'संस्कृतं भक्षाः' यह सूत्र = 'निर्देश से संपूर्वक कृ धातु को कचित = शिष्टप्रयोग में अभूषण अर्थ में भी सुट् आगम होता है। परिष्करोति। निविभ्यः से षकार हुआ।

'परि अस्कार्षीत' यण् 'सिवादीनाम्' से विकल्प से षकारादेश हुआ। पर्यष्कार्षीत। पर्यस्कार्षीत।

२५५३ उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु च ६।१।१३९।

उपात् कृञः सुट् स्यादेष्वर्थेषु, चात्प्रागुक्तयोरर्थयोः। प्रतियत्नो गुणाधानम्। विकृतमेव वैकृतं विकारः। वाक्यस्याध्याहारः = आकाङ्क्षितैकदेशपूरणम्। उपस्कृता कन्या = अलङ्कृतेत्यर्थः। उपस्कृता ब्राह्मणाः = समुदिता इत्यर्थः। एधो दकस्योपस्कुरुते = गुणाधानं करोतीत्यर्थः। उपस्कृतं भुङ्क्ते = विकृतमित्यर्थः। उपस्कृतं ब्रूते = वाक्याध्याहारेण ब्रूते इत्यर्थः।

उप उपसर्ग से पर कृञ् धातु को सुट् आगम होता है गुणाधान में, विकार में, आकांक्षितैकदेशपूरण में, अलङ्कार में, एवं समुदित अर्थ में।

प्रतियत्न का अर्थ गुणों का ग्रहण करना है यथा—एधोदकस्य उपस्कुरुते = काष्ठ जल की आर्द्रता को ग्रहण करता है, अन्यदीय गुण का ग्रहण अर्थ है। स्वार्थ में विकृत से अण् प्रत्यय से वह विकारार्थक है—यथा 'उपस्कृतं भुङ्क्ते' यहां विकृत वस्तु का भक्षण अर्थ है। उपस्कृतं ब्रूते यहां साकाङ्क्ष एक पदार्थ के बाद अपर पदार्थ की उत्थिताकांक्षा रहे तब उसकी पूर्ति के लिए आकांक्षितार्थ बोधक पदोच्चारण किया जाय। 'उपस्कृता कन्या' यहां अलंकृता कन्या में सुट्। उपस्कृता ब्राह्मणाः यहां समुदितार्थ में सुट्।

२५५४ सुट्कात् पूर्वः ६।१।१३५।

अडभ्यासव्यवायेऽपीत्युक्तम्। संचस्कार। 'कात् पूर्वः' इत्यादि भाष्ये प्रत्याख्यातम्। तथाहि—पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते। अन्तरङ्गत्वात् सुट्। ततो द्वित्वम्। एवञ्च 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः।' संचस्करतुः।

'कृसृभृ' इति सूत्रे, ऋतो भारद्वाजस्येति सूत्रे च '※ कृञोऽसुट इति वक्तव्यम् ※' तेन ससुट् कात् परस्येट् संचस्करिथ। संचस्करिव। गुणोर्तीति

सूत्रे नित्यं छन्दसीति सूत्रान्नित्यमित्यनुवर्तते, नित्यं यः संयोगादिस्तस्येत्यर्थात् सुटि गुणो न। संस्क्रियात्। ऋतश्च संयोगादेरिति लिङ्सिचोर्नेट्, 'एकाच उपदेशे' इत्यनुवर्त्य 'उपदेशे यः संयोगादिः' इति व्याख्यानात्। संस्कृषीष्ट। समस्कृत। समस्कृषाताम्। १।

इति तनादिप्रकरणम्।

सम्, परि, उप से पर अट् एवं अभ्यास के व्यवधान में भी कृ धातु के ककार के पूर्व में सुट् आगम होता है। संचस्कार। कात् पूर्व इत्यादि का भाष्य में प्रत्याख्यान है। इसको कहते हैं—प्रथम धात्वर्थ उपसर्गार्थ का सम्बन्ध होता है अतः धातु एवं उपसर्गसंज्ञानिमित्तक कार्य अन्तरङ्ग है। अतः प्रथम सुट् करके बाद में द्वित्वादि कार्य होता है। इस पक्ष में संयोगादि धातु होने से 'ऋतश्च संयोगादेः' से गुण कर 'संचस्करतुः' हुआ। 'कृसृभृ' सूत्र में एवं 'ऋतो भारद्वाजस्य' इस सूत्र में सुट् से रहित 'कृ' ऐसा कहना चाहिये। इस कारण ससुट्क धातु के उत्तर इट् होता है, यथा—सञ्चस्करिथ। सञ्चस्करिव। 'गुणोर्ति' सूत्र में 'नित्यं छन्दसि' से नित्यम् की अनुवृत्ति होती है।

अतः नित्य जो संयोगादि अर्थात् औपदेशिक संयोगादि धातु को गुण होता है, यहाँ तो सुट् होने से संयोगादित्व निष्पन्न हुआ है अतः गुण नहीं होता है जैसे—संस्क्रियात्। 'ऋतश्च संयोगादेः' सूत्र से लिङ् एवं सिच् को इट् आगम नहीं होता है, इस सूत्र में 'एकाच उपदेशे' से 'उपदेशे' की अनुवृत्ति है अतः धातूपदेश में जो संयोगादि उससे इडागम होता है—इस व्याख्या से संस्कृषीष्ट, समस्कृत यहां इडागम न हुआ।

पं० श्री बालकृष्ण पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में तनादि प्रकरण समाप्त।



अथ क्र्यादिप्रकरणम्

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये ।

डुक्रीञ् धातु द्रव्य का विनिमय अर्थ में है। गुणाश्रय या क्रियाश्रय को द्रव्य कहते हैं। समवायेन गुणं प्रति तादात्म्येन द्रव्यं कारणम्। समवाय सम्बन्ध से गुण की उत्पत्ति के प्रति स्वरूप सम्बन्ध से द्रव्य कारण है। द्रव्य को कारणत्वसिद्धि के लिए ही वह नियम माना है कि 'क्षण-मुत्पन्नं द्रव्यं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति।' इस नियम से कारणीभूत द्रव्य की पूर्व में सिद्धि कर पश्चात् गुणोत्पत्ति में कारणता उसमें है। विनिमय = बदले में जो वस्तु देकर अन्य वस्तु ली जाय उसे कहते हैं।

२५५५ क्र्यादिभ्यः श्ना ३।१।८१।

क्रीणाति। क्रीणीतः। ई हल्यघोः। ईत्वात्पूर्वं झेरन्तादेशः। परत्वान्नित्यत्वादन्तरङ्गत्वाच्च। एवं ह्रस्यादुभावः। ततः श्नाभ्यस्तयोरित्याल्लोपः। क्रीणन्ति। क्रीणीते। क्रीणाते। क्रीणते। चिक्राय। चिक्रियतुः। चिक्रियिथ। चिक्रेथ। चिक्रियिव। चिक्रियिषे। क्रेता। क्रेष्यति। क्रीयात्। क्रेषीष्ट। अक्रैषीत्। अक्रेष्ट।। १। प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च। कान्तिः = कामना। प्रीणाति प्रीणीते। २। श्रीञ् पाके। ३। मीञ् हिंसायाम्। 'हिनुमीना'। प्रमीणाति। प्रमीणीतः। 'मीनातिमिनोती'त्येज्विषये आत्त्वम्। ममौ। मिम्यतुः। ममिथ। ममाथ। मिम्ये। माता। मास्यति। मीयात्। मासीष्ट। अमासीत्। अमासिष्टाम्। अमास्त। षिञ् बन्धने। सिनाति। सिनीते। सिषाय। सिष्ये। सेता।। ५। स्कुञ् आप्रवणे।

क्र्यादि गण पठित धातु से उत्तर श्ना विकरण शप् के विषय में होता है। 'श्ना' में शकार की इत्संज्ञा लोपकर सार्वधातुक संज्ञा हुई। क्रीणाति। क्रीणीतः। 'ई हल्यघोः' से ईकारादेश आकार को हुआ।' 'क्रीणा + झि' यहाँ ईत्व एवं अन्तादेश दोनों एक समय प्राप्त हैं, किन्तु पर-नित्य-अन्तरङ्ग अन्तादेश है। वह पूर्व हुआ, आकार का 'श्नाभ्यस्तयोः' से लोपकर 'क्रीणन्ति' रूप हुआ। इसी प्रकार आत्मनेपद में भी ईत्व को बाध कर परत्वादि से 'अदभ्यस्तात्' से अद् हुआ एवं आकार लोप हुआ क्रीणते बहुवचन में। लिट् में चिक्राय। चिक्रियतुः यहाँ 'अचिश्नु' से इयङादेश है। भारद्वाजमत में इट्, सूत्रकारमत में थल् में इडभाव चिक्रयिथ। चिक्रेथ। लुट् में क्रेता। क्रेता। क्रेष्यति। क्रेष्यते। क्रीणातु। क्रीणीताम्। अक्रीणात्। अक्रीणीत। क्रीणीयात्। क्रीण्वीत। क्रीयात्। क्रेषीष्ट। अक्रैषीत्। अक्रेष्ट। अक्रेष्यत। अक्रेष्यत।

प्रीञ् धातु तर्पण में एवं कामना अर्थ में है। इसके रूप क्री के समान ही हैं। श्रीञ् धातु पाक अर्थ में है। मीञ् हिंसा में है। 'प्रमीणाति' यहाँ 'हिनुमीना' से णकार हुआ। लिट् में मीनातिमिनोति से एज् विषय में आकारादेश ईकार को होता है। ममौ, 'मा' से पर णल् को 'आत औ

णलः' से औकार द्वित्वादि कर 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि हुई। 'मिम्यतुः' यहाँ एज् विषयाभाव से आत्वाभाव द्वित्वादि, यण् हुआ। ममिथ यहाँ आकार लोप। पक्ष में ममाथ सूत्रकार मत में इट् का अभाव है। आत्मनेपद में मिम्ये। माता। माता। मास्यति। मास्यते। मीयात्। मासीष्ट। 'अमी स् ईत्' आत्व सक् इट् 'अमास् इ स् ई 'त' सकार लोप दीर्घ अमासीत्। अमासिष्टाम्। आत्मनेपद में अमास्त।

षीञ् धातु बन्धन में है। सकारादेश सिनाति। सिनीते। सिष्ये। सेता। स्कुञ् धातु सम्यक् प्लवन में है।

२५५६ स्तन्भुस्तुन्भुस्कन्भुस्कुन्भुस्कुञ्भ्यः श्नुश्च ३।१।८२।

चात् श्ना। स्कुनोति। स्कुनुते। स्कुनाति। स्कुनीते। चुस्काव। चुस्कुवे। स्कोता। अस्कौषीत्। अस्कोष्ट। ६। स्तन्भ्वादयश्चत्वारः सौत्राः। सर्वे रोधनार्था इत्येके माधवस्तु प्रथमतृतीयौ स्तम्भार्थौ द्वितीयो निष्कोषणार्थः। चतुर्थो धारणार्थ इत्याह। सर्वे परस्मैपदिनः। नलोपः। विष्टभ्नोति। विष्टभ्नाति। अवष्टभ्नोति। अवष्टभ्नाति। अवतष्टम्भ। जृस्तम्भिवति अङ्वा, व्यष्टभत्-व्यष्टम्भीत्। स्तुभ्नोति। स्तुभ्नाति।

स्तन्भु, स्तुन्भु, स्कन्भु, स्कुन्भु स्कुञ् इन से पर श्नुविकरण होता है एवं चकार से श्ना भी होता है। लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् में श्नु एवं श्ना घटित रूपद्वय।

स्तन्भ्वादि चार धातु केवल सूत्रपठित हैं। धातुपाठ में सम्प्रति पाठ इनका नहीं है। उदित्करण से अनुमान होता है कि पुरा इनका पाठ था किन्तु लेखक के प्रमाद से इनका पाठ भ्रष्ट हो गया है। उदित् करण रूप कार्य से धातुस्वरूपकारणानुमान यहां है। वे सभी रोधनार्थ में हैं। ऐसा कोई कहते हैं। माधवाचार्य कहते हैं कि प्रथम एवं तृतीय रोधनार्थक है, द्वितीय अन्तःस्थित वस्तु को बहिःनिस्सारणार्थक है। एवं चतुर्थ धारणार्थक है। सभी वे परस्मैपदी हैं। 'अनिदिताम्' से नलोप हुआ, एवं 'स्तन्भेः' से षकार हुआ। विष्टभ्नोति। लुङ् में जृस्तन्भु से च्लि को अङ् विकल्प से हुआ। व्यष्टभत्। पक्ष में व्यष्टम्भीत्। स्तुभ्नोति। स्तुभ्नाति।

२५५७ वेः स्कभ्नातेर्नित्यम् ८।३।७७।

वेः परस्य स्कभ्नातेः सस्य षः स्यात्। विष्कभ्नोति। विष्कभ्नाति। स्कुभ्नोति। स्कुभ्नाति।

वि उपसर्ग पूर्वक स्कम्भ धातु के अवयव सकार को षकारादेश होता है।

२५५८ हलः श्नः शानज्झौ ३।१।८३।

हलः परस्य श्नः शानजादेशः स्याद्धौ परे।

स्तभान। स्तुभान। स्कभान। स्कुभान। पक्षे स्तभ्नुहीत्यादि। युञ् बन्धने। युनाति। युनीते। योता। ७। क्नूञ् शब्दे। क्नूनाति। क्नूनीते। क्नविता। ८। द्रूञ् हिंसायाम्। द्रूणाति। द्रूणीते। पूञ् पवने।

हिपर रहते हल् से पर श्ना के स्थान में शानच् आदेश होता है। पक्ष में श्नु भी होता है वहां 'स्तभ्नुहि' हुआ। यहां हल् धातु का अवयव लेना। श्नानुवृत्ति शित्व शानच् में स्थानिवद्-भाव से अतिदेश होकर सार्वधातुक संज्ञा हो ही जाती पुनः शानच् के स्थान में आनच् करना उचित है अतः शानच् के शित्व का भाष्यकार ने प्रत्याख्यान किया है।

युज् धातु बन्धन में है। क्नुस् शब्द में है। द्रूञ् हिंसा में है। पूञ् धातु पवन पवित्रता में है।

२५५९ प्वादीनां ह्रस्वः ७।३।८०।

शिति परे। पुनाति। पुनीते। पविता। १०। लूञ् छेदने। लुनाति। लुनीते। ११ स्तॄञ् आच्छादने। स्तृणाति। स्तृणीते। तस्तार। तस्तरतुः। स्तरीता। स्तरिता। स्तृणीयात्। स्तृणीते। आशिषि स्तीर्यात्। लिङ्सिचो-रिति वेट्। 'न लिङि' वृत इटो लिङि दीर्घो न स्यात्। स्तरिषीष्ट। उश्चेति कित्त्वम्, स्तीर्षीष्ट।

सिचि च परस्मैपदेष्विति न दीर्घः, अस्तारीत्। अस्तारिष्टाम्। अस्तरिष्ट-अस्तीर्ष्ट-अस्तरीष्ट। १२। कॄञ् हिंसायाम्। कृणाति। कृणीते। चकार। चकरे १३। वॄञ् वरणे। वृणाति। वृणीते। ववार। ववरे। वरीता। वरिता। आशिषि 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' वूर्यात्। वरिषीष्ट। वूर्षीष्ट। अवारीत्। अवारिष्टाम्। अवरीष्ट। अवरिष्ट। अवूर्ष्ट। १४। धूञ् कम्पने। धुनाति। धुनीते। दुधविथ। दुधोथ। दुधुविव। धविता। धोता। स्तुसुधूञ्भ्य इनीट्। अधावीत्। अधविष्ट। अधोष्ट। १५।

शित् प्रत्यय पर रहने प्वादि धातुओं का ह्रस्व होता है। यथा पुनाति-पुनीते आदि में दीर्घ ऊकार का ह्रस्व उकार हुआ। स्तॄञ् धातु आच्छादन में है। 'तस्तार' यहां हलादि शेष को 'शर्पूर्वाः खयः' ने बाध किया। तस्तरतुः 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः। वृतो वा' से विकल्पदीर्घ, स्तरीता। स्तरिता। आत्मनेपद में स्तृणीते। स्तरिषीष्ट, 'लिङ्सिचो' से विकल्प इट् एवं न लिङि से 'वृतो वा' से प्राप्त वि० दीर्घ का निषेध हुआ। पक्ष में 'उश्च' से कित्व हुआ स्तीर्षीष्ट। लुङ् में दीर्घ न हुआ 'सिचि च परस्मैपदेषु' से निषेध के कारण—अस्तारीत। अस्तारिष्टाम्। आत्मनेपद में इट् वि० से एवं दीर्घ वि० से तीन रूप हुए—अस्तरीष्ट। अस्तरिष्ट। अस्तीर्ष्ट।

हिंसा में कॄञ् है। वॄञ् स्वीकार में है। आशीर्लिङ् में 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से ऋकार को उकार एवं दीर्घ वूर्यात। वरीषीष्ट। वरिषीष्ट। वूर्षीष्ट। इट् वि० दीर्घ वैसे। लुङ् में अवारीत। अवरीष्ट। अवरिष्ट। अवूर्ष्ट। कम्पन में धूञ् है। वलादि आर्धधातुक में 'स्वरति' से विकल्प इट्। दुधविथ। दुधोथ। दो रूप हुए, वस्तुतः क्रयादि नियम से एक ही रूप 'दुधविथ'। धोता। धविता। लुङ् में 'स्तुसुधूञ्भ्यः' से नित्य इट्-अधावीत। अधविष्ट। पक्ष में अधोष्ट।

अथ ल्वन्तात्यन्ताः परस्मैपदिनः। शॄ हिंसायाम्। शॄदॄप्रां ह्रस्वो वेति ह्रस्व-पक्षे यण्। अन्यदा ऋच्छत्यॄतामिति गुणः। शश्रतुः। शशरतुः। श्र्युकः किङीति निषेधस्य क्र्यादिनियमेन बाधः। शशरिव। शश्रिव। शरीता। शरिता। शृणीहि। शीर्यात। अशारिष्टाम्। १। पॄ पालनपूरणयोः। पप्रतुः। पपरतुः।

आशिषि पूर्यात्। २। वृ वरणे भरण इत्येके। ३। भृ भर्त्सने। भरणेऽप्येके। हिंसायाम्। मृणाति। ममार। ५। ज वयोहानौ। ७। झॄ इत्येके। ८। धॄ इत्यन्ये। ६। नॄ नये। १०। कॄ हिंसायाम्। ११। ऋृ गतौ। ऋणाति। अरांचकार। अरीता। अरिता। आर्णात्। आर्णीताम्। ईर्यात्। आरीत्। आरिष्टाम्। १२। गॄ शब्दे। १३। ज्या वयोहानौ। 'ग्रहिज्या'।

वध धातु तक परस्मैपदी धातुगण है। शॄ धातु हिंसा में है, ह्रस्व शृणाति। लिट् में शशार। 'शश्रुः' यहां 'शृदॄप्राम्' से विकल्प ह्रस्वकर यणादेश हुआ। पक्ष में दीर्घ ऋकारान्त होने से 'ऋच्छत्यॄताम्' से गुण—शशरतुः। शशरिव यहां 'श्र्युकः' से प्राप्त इट् निषेध को बाधकर क्रयादि नियम से इडागम हुआ। ह्रस्वपक्ष में शश्रिव। दीर्घ पक्ष में गुण शशरिव। लुट् में शरीता शरिता इत्यादि।

पॄ पालन में एवं पूरण में है। वॄ धातु वरण या भरण में है। भॄ भर्त्सन में है भरण में भी है। मॄ हिंसा में है। ऋ गति में है। गॄ शब्द में। ज्या धातु अवस्था की हानि में है। ग्रहिज्या से इसमें सम्प्रसारण होता है। सम्प्रसारण एवं पूर्वरूप करके जिनाति यहां है।

२५५९ हलः ६।४।२।

अङ्गावयवाद् हलः परं यत्सम्प्रसारणं तदन्ताङ्गस्य दीर्घः स्यात्। इति दीर्घे कृते 'प्वादीनां ह्रस्वः' जिनाति। जिज्यौ। जिज्यतुः। १४। री गतिरेषणयोः। रेषणं वृकशब्दः। ली श्लेषणे। 'विभाषा लीयतेः' इत्येज् विषये आत्वं वा। ललौ। लिलाय। लाता-लेता। १६। व्ली वरणे। व्लिनाति। १७। प्ली गतौ। १८। वृत्। ल्वादयो वृत्ताः। प्वादयोऽपीत्येके। व्री वरणे। १६। भ्री भये। भरण इत्येके। २०। क्षीष् हिंसायाम्। एषां त्रयाणां ह्रस्वः। केषांचिन्मते तु न। २१। ज्ञा अवबोधने। 'ज्ञाजनोर्जा'। जानाति। दीर्घनिर्देशसामर्थ्यान्न ह्रस्वः। २२। बन्ध बन्धने। बध्नाति। बबन्धिथ। बबन्ध। बन्धा। बन्धारौ। भन्त्स्यति। बधान। अभान्त्सीत्। पूर्वत्रासिद्धमिति भष्भावात् पूर्वं झलो झलीति सिज्लोपः। प्रत्ययलक्षणेन सादिप्रत्ययमाश्रित्य भष्भावो न, प्रत्ययलक्षणं प्रति सिज्लोपस्यासिद्धत्वात्। अबान्द्धाम्। अभान्त्सुः। २३। वृङ् संभक्तौ। वृणीते। वव्रे। ववृषे। ववृढ्वे। वरीता। वरिता। अवरीष्ट। अवरिष्ट। अवृत। १। श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः।

अङ्ग का अवयव हल् से पर सम्प्रसारणान्त अङ्ग का अवयव अन्त्याच् का दीर्घ होता है। इससे दीर्घ कर 'प्वादीनाम्' से ह्रस्व हुआ—जिनाति। ज्या णल्–औकारादेश द्वित्व सम्प्रसारण, पूर्वरूप वृद्धि जिज्यौ। ज्या + अतुस् सम्प्रसारण पूर्वरूप दीर्घ ह्रस्व द्वित्व यण् जिज्यतुः। री गति एवं वृकशब्द में है। ली धातु आलिङ्गन में है। 'ललौ' 'विभाषा लीयतेः' से एज् विषय में आकारादेश विकल्प से होता है। पक्ष में लिलाय। लाता। लेता। १६। वरण में व्ली धातु है। प्ली गति में है। वृत् = समाप्त ल्वादि हुए। कोई वृत् = समाप्त प्वादि ऐसा कहता है। वरण में व्री

है। भय में भ्री है। हिंसा में क्षीष् है। इन तीन का ह्रस्व होता है या नहीं होता है मतभेद आचार्यों का है। ज्ञाधातु ज्ञानार्थक है। ज्ञा को जादेश होता है 'ज्ञाजनोर्जा' सूत्र से।

जा आदेश में दीर्घ निर्देश करण सामर्थ्य से 'प्वादीनाम्' से ह्रस्व न हुआ। बध धातु बन्धन में है। बध्नाति। भारद्वाजमत में बबन्धिथ। पक्ष में बबन्ध। बन्धा भष्भाव भन्त्स्यति। 'बधान' 'हलः' से श्ना को शानच् हिलोप हुआ। लुङ् में अबन्ध् स् ईत् हलन्तलक्षणा वृद्धि; भष्भाव धकार को जश्त्व से दकार कर चर्त्व से तकार। 'अबन्ध् स् ताम्' हलन्तलक्षणा वृद्धि, 'झलो झलि' से सकार लोप हुआ, उसका प्रत्ययलक्षण से भष्भाव न हुआ, क्योंकि प्रत्यय लक्षण के प्रति सिच् लोप असिद्ध है। धकार को दकार जश्त्व से अबान्द्धाम्। अभान्त्सुः। वृङ् धातु संभक्ति में है। वृणीते। वव्रे। वरीता। वरिता। अवरीष्ट। अवरिष्ट। अवृत। श्रन्थ विमोचन एवं प्रतिहर्ष में है।

इतः परस्मैपदिनः। श्रथ्नाति। श्रन्थिग्रन्थीत्यादिना कित्त्वपक्षे एत्वाभ्यासलोपावप्यत्र वक्तव्यौ–इति हरदत्तादयः। श्रेथतुः। श्रेथुः। इदं कित्त्वं पितामपीति सुधाकरमते। श्रेथिथ। अस्मिन्नपि पक्षे णलि शश्राथ। उत्तमे तु तु शश्राथ। शश्रथेति माधवः। तत्र मूलं मृग्यम्। १। मन्थ विलोडने। २। श्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे। अर्थभेदात् श्रन्थेः पुनः पाठः। रूपं तूक्तम्। ४। कुन्थ संश्लेषणे। संक्लेशे इत्येके। कुथ्नाति। चुकुन्थ। ५। कुथेति दुर्गः। चुकोथ। ६। मृद क्षोदे। मृद्नाति। मृदान। ७। मृड च। अयं सुखेऽपि। ष्टुत्वम्। मृड्णाति। ८। गुध रोषे। गुध्नाति। ९। कुष निष्कोषे। कुष्णाति। कोषिता।

परस्मैपदि धातु यहां से है। श्रथ्नाति। श्रेथतुः। श्रन्थि ग्रन्थि से कित्त्व पक्ष में एत्वाभ्यास लोप होता है। यह हरदत्तादि का मत है। पित् विषयक यह कित्त्वपक्ष में श्रेथिथ। यह सुधाकर का मत है। इस पक्ष में भी णल् में शश्राथ। उत्तम मे शश्राथ, शश्रथ दो रूप हैं यह माधवाचार्य के मत में, मूल अन्वेष्य है। मन्थ विलोडन में है। श्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भ में है। अर्थभेदप्रयुक्त पुनः पाठ है। रूप तो कह चुके हैं। कुन्थ संश्लेषण में है। संक्लेश में भी है। कुथ्नाति। कुथ ऐसा दुर्गाचार्य कहते हैं। मृद क्षोद में है। मृद्नाति। मृदान यहाँ श्ना को शानच् हुआ। मृड धातु सुख में भी है। मृड्णाति यहाँ ष्टुत्व हुआ। गुध रोष में है। गुध्नाति। कुष निष्कोष में है। कुष्णाति कोषिता।

२५६० निरः कुषः।

निरः परात् कुषो वलादेरार्धधातुकस्य इड् वा स्यात्। निष्कोषिता। निष्कोष्टा। निरकोषीत्। निरकुक्षत्। १० क्षुभ सञ्चलने। क्षुभ्नादिषु च, क्षुभ्नाति। क्षुभ्नीतः। क्षोभिता। क्षुभान। ११। णभ तुभ हिंसायाम्। नभ्नाति। तुभ्नाति। नभते। तोभते इति शपि। नभ्यति। तुभ्यतीति श्यनि। १३। क्लिशू विबाधने। शादिति श्चुत्वनिषेधः।

क्लिश्नाति। क्लेशिता। क्लेष्टा। अक्लेशीत्। अक्लिक्षत्। १४। अश भोजने। अश्नाति। आश। १५। उध्रस उञ्छे। उकार इत्। ध्रस्नाति। १६। उकारो धात्ववयव इत्येके। उध्रसाञ्चकार। १७। इष आभीक्ष्ण्ये। पौनःपुनयं

भृशार्थो वा आभीक्ष्ण्यम्। इष्णाति। तीषसहेत्यत्र सहिना साहचर्यादकारविकरणस्य तौदादिकस्यैव इषेर्ग्रहणं न तु इष्यतीष्णात्योरित्याहुः। एषिता। वस्तुतस्तु इष्णातेरपि इड्विकल्प उचितः।

तथा च वार्तिकम्— ❀ इषेस्तकारे श्यन्प्रत्ययात् प्रतिषेध इति ❀। १८। विष विप्रयोगे। विष्णाति। वेष्टा। १९। प्रुष प्लुष स्नेहनसेवनपूरणेषु। प्रुष्णाति। प्लुष्णाति। २१। पुष पुष्टौ। पोषिता। २२। मुषी स्तेये। मोषिता। २३। खच भूतप्रादुर्भावे। भूतप्रादुर्भावोऽतिक्रान्तोत्पत्तिः। खच्ञाति। वान्तोऽयमित्येके।

निर् से पर जो कुष् धातु उससे पर जो वलादि आर्धधातुक उसको इट् विकल्प से होता है। निष्कोषिता। पक्ष में निष्कोष्टा। लुङ् में निरकोषीत्। क्सादेश से निरकुक्षत्। क्षुभ धातु सञ्चलन में है। क्षुभ्नाति यहाँ णत्व का क्षुभ्नादित्व प्रयुक्त निषेध है। णभ एवं तुभ धातु हिंसा में है। क्र्यादि, स्वादि, दिवादि में इनका पाठ से 'श्ना', 'शप्' 'श्यन्' होते हैं। क्लिशू विशिष्ट बाधा = कष्ट में है। दीर्घ ऊकारेत् में वलादि आर्धधातुक में 'स्वरति' सूत्र से विकल्प इडागम होता है। अश भोजन में है।

उध्रस में उकार इत् या धातु का अवयव यह दो मत है, उञ्छ अर्थ में है। इष आभीक्ष्ण्य में है। एषिता यहां 'तीषसह' की अप्रवृत्ति है। वहां सहधातु साहचर्य से अकारविकरणक तौदादिक का ही ग्रहण है। श्यन् या श्नाविकरणक का ग्रहण नहीं है। वस्तुतः श्नाविकरणक इष् को भी इट् विकल्प है। क्योंकि वार्तिककार कहते हैं कि श्यन् विकरणक इष् को इट् निषेध होता है अर्थात् दिवादि इष् को ही। विषधातु वियोग में है। स्नेहन, सेवन, पूरण में प्रुष प्लुष धातु है। पुष पुष्टि में है। मुषी स्तेयकरण में है। खच् प्रादुर्भाव में है। च् के योग में नकार को चुत्व से ञकार होता है खच्ञाति। कोई इसको वान्त कहते हैं।

२५६१ च्छ्वोः शूडनुनासिके च ६।४।१९।

सतुक्कस्य छस्य वस्य च क्रमात् श् ऊठ् एतावादेशौ स्तोऽनुनासिके क्वौ झलादौ च क्ङिति। खौनाति। चखाव। खविता। शानचः परत्वादूठि कृते हलन्तत्वाभावान्न शानच्। खौनीहि। २४। हिठ च। ष्टुत्वम्, हिठ्णाति। २५। ग्रह उपादाने। स्वरितेत्। ग्रहिज्या। गृह्णाति। गृह्णीते।

अनुनासिक, क्वि, झलादि कित् या ङित् प्रत्यय पर रहते तुक् विशिष्ट छकार एवं वकार को क्रमशः शकार एवं ऊठ् आदेश होता है। खव् + ना + ति। ऊठ् वको वृद्धि खौनाति। खौनीहि— यहां शानच् को बाधकर परत्व के कारण ऊठ् हुआ, ऊठ् करने के बाद हलन्तत्व के अभाव से शानच् न हुआ। हिठ धातु का ष्टुत्व से हिठ्णाति। ग्रह धातु ग्रहणार्थक है। यह स्वरितेत् है। उभयपदी है। गृह्णाति यहां 'ग्रहिज्या' सूत्र से सम्प्रसारण एवं पूर्वरूप तथा णत्व कर रूप सिद्धि। गृह्णीते। 'ई हल्' सूत्र से ईत्व।

२५६२ ग्रहोऽलिटि दीर्घः ७।२।३७।

एकाचो ग्रहेर्विहितस्येटो दीर्घः स्यात् न तु लिटि। ग्रहीता। लिटि तु जग्रहिथ। गृह्यात्। ग्रहीषीष्ट। ह्म्यन्तेति न वृद्धिः—अग्रहीत्। अग्रहीष्टाम्। अग्रहीष्ट। अग्रहीषाताम्। अग्रहीषत। १।

इति क्र्यादिप्रकरणम्।

एकाच् ग्रह् धातु से विहित इट् का दीर्घ होता है, किन्तु लिट् सम्बन्धी इट् का दीर्घ नहीं होता है। ग्रहीता। लिट् में दीर्घाभाव यथा जग्रहिथ। लुङ् में हकारान्तत्व प्रयुक्त वृद्धि का 'ह्म्यन्त' से निषेध हुआ—अग्रहीत्। अग्रहीष्ट।

पं० श्रीबालकृष्ण पञ्चोलिविरचितरत्नप्रभा में क्र्यादि प्रकरण समाप्त।



अथ चुरादिप्रकरणम्

चुर् स्तेये।

चुर् धातु स्तेय अर्थ में है। स्तेयपदार्थ = "अन्याय पूर्वक परस्वत्व का गुप्तरीत्या स्वायत्तीकरणरूप व्यापारार्थक" है।

२५६३ सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वचवर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्यो णिच् ३।१।२५।

एभ्यो णिच् स्यात्। चूर्णान्तेभ्यः प्रातिपदिकाद् धात्वर्थ इत्येव सिद्धे तेषामिह ग्रहणं प्रपञ्चार्थम्। चुरादिभ्यस्तु स्वार्थे। पुगन्तेति गुणः। सनाद्यन्ता इति धातुत्वम्। तिप् शबादि गुणायादेशौ चोरयति।

सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच-वर्म-वर्ण-चूर्ण एवं चुरादि इनसे स्वार्थ में णिच् प्रत्यय होता है। सत्याप से लेकर चूर्ण तक के प्रातिपदिकों से "प्रातिपादिकात् धात्वर्थे" से णिच् प्रत्यय सिद्ध ही था इनका सूत्र में णिच् प्रत्यय विधानार्थ ग्रहण स्पष्टार्थ ही है।

चुरादि से णिच् "अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति" से प्रकृत्यर्थ में होता है, जिन प्रत्ययों का शास्त्रकार ने अर्थबोधन नहीं किया है वे प्रत्यय प्रकृत्यर्थ में ही होते हैं—"अर्थबोधकत्वविशिष्टआचार्यसङ्केतसम्बन्धेन प्रत्ययपदवत्त्वम् = प्रत्ययत्वम्" अतः अर्थबोधकता णिच् को अवश्य है, पृथक् विशेषार्थ नहीं अतः प्रकृत्यर्थे = स्वार्थे यह कहा है। चुर् + णिच् णकार चकार की इत्संज्ञा लोप है। 'आर्धधातुकं शेषः' से इकार की आर्धधातुक संज्ञा हुई। 'पुगन्त' से लघूपधगुण 'चोरि' की 'सनाद्यन्ताः' से धातुसंज्ञा लट् तिप् शप् गुण अय् आदेश चोरयति। चोरयतः। चोरयन्ति। चोरयसि। चोरयथः। चोरयथ। चोरयामि। चोरयावः। चोरयामः।

२५६४ णिचश्च १।३।७४।

णिजन्तादात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले। चोरयते। चोरयामास। चोरयिता। चोर्यात्। चोरयिषीष्ट। णिश्रीति चङ्। णौ चङ्योति ह्रस्वः, द्वित्वम्, हलादिशेषः दीर्घो लघोरित्यभ्यासदीर्घः। अचूचुरत्। अचूचुरत। १।

ण्यन्ततदादि से आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय लकारके स्थान में होते हैं क्रियाजन्यफल क्रिया का जनक साधनगामि रहने पर। यहां क्रियापद से धात्वर्थ व्यापार गृहीत है व्यापार जनक है, फलजन्य है, व्यापार का जनक कर्ता आदि कारक है।

यहां केवल कर्तृकारक का ही ग्रहण है। चोरी से प्राप्तधन तस्कर को प्राप्त रहे वहां आत्मनेपद इससे होता है। चोरी से प्राप्त धन चोर को न प्राप्त होकर अन्यपुरुष को वह प्राप्त रहे वहां परस्मैपद होता है। चोरयते। लिट् में चोरयामास। चोरयिता। आशीर्लिङ् में णि का लोप होता है सूत्र है 'णेरनिटि'। चोर्यात्। लुङ् में 'अचुर् इ अत्' यहां च्लिको चङ् हुआ है, लघूपध गुण कर 'णौ चङि' से ह्रस्व कर द्वित्व कर हलादि शेष से रेफ की निवृत्ति हुई। 'दीर्घो लघोः' से अभ्यास में स्थित उकार का दीर्घ—अचूचुरत्। अचूचुरत।

विमर्श—इस सूत्र में उपात्त शब्दों के उदाहरण नाम धातु में स्पष्ट होंगें। सूत्र में सत्याप ग्रहण 'आपुक्' के लिए है। 'रमणीयं घटं करोति' की तरह रमणीयं रूपयति। यहां सापेक्ष में भी सामर्थ्याभाव में णिच् करने के लिए रूपादि ग्रहण किया है। "अर्थवेदयोरुपसंख्यानम्" वार्तिक में ही सत्य का ग्रहण से 'आपुक्' आगमसिद्ध सत्य को था, पुनः यहां सत्याप ग्रहण व्यर्थ है। 'शब्दवैर' सूत्र से करण की अनुवृत्ति करके करण में णिच् प्रत्यय विधान न करना, 'करणे' का मध्य में विच्छेद है अतः इस सूत्र में 'करणे' की अनुवृत्ति सम्भव नहीं है।

चिति स्मृत्याम्। चिन्तयति। अचिचिन्तत्। चिन्तेति पठितव्ये इदित्करणं णिचः पाक्षिकत्वे लिङ्गम्। तेन चिन्त्यात चिन्त्यते इत्यादौ नलोपो न। चिन्तति। चिन्तेत्। एतच्च ज्ञापकं सामान्यापेक्षमित्येके। 'अत एक हल्' इत्यत्र वृत्तिकृता जगाण जगणतुरित्युदाहृतत्वात। विशेषापेक्षमित्यपरे। अत एवाधृशद्वेत्यस्य न वैयर्थ्यम्। २। यत्रि संकोचे। यन्त्रयति। यन्त्रेति पठितुं शक्यम्।

यत्तु इदित्करणाद् यन्त्रतीति माधवेनोक्तं तच्चिन्त्यम्। एवं कुद्रितद्रिमत्रिषु। ३। स्फुडि परिहासे। स्फुण्डयति। इदित्करणात् स्फुण्टति। स्फुटीति पाठान्तरम्। स्फुण्टयति। ४। लक्ष दर्शनाङ्कनयोः ५। कुद्रि अनृतभाषणे। कुन्द्रयति। ६। लड उपसेवायाम्। लाडयति। ७। मिदि स्नेहने। मिन्दयति। मिन्दति। ८। ओलडि उत्क्षेपणे। ओलण्डयति। ओलण्डति। ९। ओकार इदित्येके। लण्डयति। लण्डति। १०। उकारादिरयमित्यन्ये उलण्डयति। ११। जल अपवारणे। १२। लज इत्येके। १३। पीड अवगाहने। पीडयति।

चिति धातु स्मृतिजनक व्यापारार्थक है। अनुभव जन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं। पूर्वानुभूतपदार्थ का कालान्तर में उद्बुद्ध संस्कार से स्मरणात्मक ज्ञान होता है। 'चिति' में इकार की अन्त्य में इत्संज्ञा प्रयुक्त 'इदितो नुम् धातोः' से नुम् आगम होता है।

यहां शङ्का करते हैं कि 'चिन्त' ऐसा ही धातुपाठ में धातु पढ़ते पुनः इदित् करण क्यों किया। वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'णिच् विकल्प से होता है'। अतः आशीर्लिङ्में णिच्रहित इसका 'चिन्त्यात्' रूप होता है, वहां यह धातु इदित् होने से 'अनिदिताम' सूत्र से नकार का लोप न हुआ। एवं 'चिन्त्यते' कर्मणि लट् यहां भी नलोप न हुआ। णिच् के अभाव में रूप—चिन्तति। चिन्तेत् हुआ।

यह ज्ञापक सामान्यापेक्ष है चुरादि गणपठित धातुमात्र से णिच् विकल्प से होता है। "असति बाधके ज्ञापकानां सामान्यापेक्षत्वम्" प्रबल बाधक प्रमाण न रहे वहां ज्ञापक से ज्ञाप्य वचन सामान्य ही होता है क्योंकि विशेष ज्ञान में सामान्य ज्ञान की अपेक्षा होती है। एवं विशेष ज्ञान की अतः ज्ञानद्वयप्रयुक्त गौरव है। सामान्यापेक्ष में केवल सामान्य पदार्थ का ही ज्ञान से लाघव है। पूर्वोक्त वचन लाघवमूलक ही है।

इस सामान्य ज्ञाप्य वचन णिच् विकल्प से 'अत एकहल्' सूत्र पर 'गण' धातु का 'जगाण' 'जगणतुः' प्रयोगों की सिद्धि हुई। यह वृत्तिकार का मत है। एवं उचित भी है।

कोई कहते हैं कि विशेषापेक्ष यह ज्ञापक है— इसी को इदित् करण से णिच् विकल्प, अन्य को नहीं। यदि सामान्यापेक्ष ज्ञापक पक्ष मान कर सर्व चुरादि को णिच् विकल्प होता तो णिच्-विकल्पार्थ विशेष वचन जो 'आधृषाद्वा' किया है वह व्यर्थ सिद्ध होता। अतः विशेष ज्ञापन ही है। सामान्य ज्ञाप्य वचन से कार्य निर्वाह होता 'आधृषाद् वा' व्यर्थ ही है यह आलोचक कहते हैं। यन्त्रि धातु संकोच में है यहां भी 'यन्त्र' ऐसा पढते इदित् करण णिच् विकल्प में प्रमाण है। एक ज्ञाप्यवचनार्थ अनेक ज्ञापन न कर एक से ज्ञाप्य वचन की सिद्धि करके अन्यान्य का प्रत्याख्यान ही उचित है। यन्त्रयति। 'यन्त्रेति पठितुम् शक्यम्' माधव ने णिच् विकल्प करके 'यन्त्रति' ऐसा प्रयोग कहा है वह चिन्त्य है, यहां चिन्त्य कहना ही चिन्तनीय है, अर्थात् माधवोक्ति उचित ही है। 'कुन्द्र' 'तन्द्र' 'मन्त्र' यही पढ़ना उचित था। स्फुटि परिहास में है। यहां इदित् करण से णिच् विकल्प है। लक्षधातु दर्शन में एवं अङ्कन में है। कुद्रि मिथ्या भाषण में है। कुन्द्रयति। लड धातु उपसेवा में है। लाडयति। मिदि स्नेहन में है। इदित् करण से पक्ष में मिन्दति। उपरिभाग में फेंकना अर्थ में 'ओलडि' धातु है। ओकार धात्ववयव है। कोई ओकार की इत्संज्ञा करते हैं कोई इसको उकारादि धातु मानते हैं। जलधातु अपवारण में है। लज भी इसी अर्थ में है। पीड अवगाहन में है। पीडयति।

२५६५ भ्राज-भास-भाष-दीप-जीव-मील-पीडामन्यतरस्याम् ७।४।३।

एषामुपधाया ह्रस्वो वा स्याच्चङ्परे णौ। अपीपिडत्। अपिपीडत्। १४। नट अवस्यन्दने। अवस्यन्दनम्=नाट्यम्। १५। श्रथ प्रयत्ने। प्रस्थाने इत्येके। १६। बध संयमने बाधयति। बन्धेति चान्द्रः। १७। पॄ पूरणे। पारयति। दीर्घोच्चारणं णिचः पाक्षिकत्वे लिङ्गम्। तद्धि सेट्कत्वाय। एवं पृणाति-पिपर्त्तिभ्यां परितेत्यादिसिद्धावपि परति परत इत्यादिसिद्धिः फलम्। १८। ऊर्ज बलप्राणनयोः। १९। पक्ष परिग्रहे। २०। वर्ण चूर्ण प्रेरणे। २१। वर्ण वर्णन इत्येके। २२। प्रथ प्रख्याने। प्राथयति। "नान्ये मितोऽहेतौ" इति वक्ष्यमाणत्वान्नास्य मित्त्वम्।

भ्राज-भास-भाष-दीप-जीव-मील-पीड इनकी उपधा का ह्रस्व विकल्प से होता है चङ् परक णि पर रहते। अपीपिडत् यहां लघु पदक अभ्यास होने से 'दीर्घो लघोः' से दीर्घ हुआ। अपिपीडत् यहां अभ्यास के इकार का ह्रस्वाभाव से दीर्घ न हुआ। नट धातु नाट्यकर्म में है। श्रथ प्रयत्न में है। कोई गमनार्थक कहते हैं। बध धातु संयमन में है। बाधयति। चन्द्राचार्य बन्धधातु मानते हैं। पॄ धातु पूरण में है। यहां ण्यन्त अनेकाच् है, अतः इट् का निषेध प्राप्त ही नहीं पुनः सेट् इसको बनाने के लिए किया हुआ दीर्घ ऋकार का उच्चारण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि इस पॄ धातु से णिच् विकल्प से होता है।

इसी परिस्थिति में णिच् रहित एकाच् होने पर यदि दीर्घ ग्रहण न करेंगे तो इट् का निषेध हो जायगा। अतः दीर्घ ऋकार का ग्रहण यहां किया है उदात्तत्व बोधन द्वारा इट् के लिए। क्र्यादि गण पठित एवं जुहोत्यादि पठित धातु से परिता आदि प्रयोग की सिद्धि होती ही है पुनः यहां पॄ का पाठ णिच् विकल्प से 'परति' 'परतः' 'परन्ति' इसकी सिद्धि के लिए है।

ऊर्ज बलयुक्त प्राणयुक्त अर्थ में है। पक्ष धातु परिग्रह में। वर्ण एवं चूर्ण धातु प्रेरणा में है। प्रथ धातु प्रख्यान में है। प्राथयति। यहाँ मित्व नहीं अतः ह्रस्वाभाव हुआ मित्त्वाभाव बोधक वचनार्थ यह है कि स्वार्थिक णिच् प्रत्यय पर रहते ज्ञपादि पाँच धातुओं से अतिरिक्त धातु मित् संज्ञक नहीं है। स्वार्थे = स्वार्थे।

२५६६ अत्स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तृस्पशाम् ७।४।९५।

एषामभ्यासस्य अकारान्तादेशः स्याच्चङ्परे णौ। इत्वापवादः। अपप्रथत्। २३। पृथ प्रक्षेपे। पर्थयति।

चङ् परक णिच् प्रत्यय पर रहते स्मृ-दृ-त्वर्-प्रथ-म्रद-स्तृ-स्पश् इनके अभ्यास घटक अच् को अत् आदेश होता है। यह 'सन्यतः' से प्राप्त इत्वका अपवाद है। अपप्रथत्। पृथ प्रक्षेप में है। पर्थयति।

२५६७ उर्ऋत् ७।४।४।

उपधाया ऋवर्णस्य स्थाने ऋत्स्याद् वा चङ्परे णौ। इररारामपवादः। अपीपृथत्-अपपर्थत्। पथ इत्येके। पाथयति। षम्ब सम्बधने। सम्बयति। अससम्बत्। २६। शम्ब च। अशशम्बत। २७। साम्ब इत्येके। २८। भक्ष अदने। २९। कुट्ट छेदनभर्त्सनयोः। पूरण इत्येके। कुट्टयति। पुट्ट चुट्ट अल्पीभावे। ३२। अट्ट षुट्ट अनादरे। अट्टयति। अयं दोपधः। ष्टुत्वस्यासिद्धत्वान्नन्द्रा इति निषेधः। आट्टिटत्। ३४।

चङ् परक णिपर रहते धातु के उपधाभूत ऋकार के स्थान में ऋकारादेश विकल्प में होता है। ऋकार को ऋकारविधान का क्या फल इस शङ्का की निवृत्ति के लिए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि यह सूत्र इर् अर् आर् का अपवाद है। यथा—ऋकारोपध में 'उपधायाश्च' सूत्र से इर् प्राप्त है उसे बाधकर अत् किया—अचीकृतत्। 'अमीमृजत्' यहाँ 'मृजेर्वृद्धिः' से आर् प्राप्त था उसको बाधकर अत् किया। अन्य ऋकारोपध धातुओं के ऋकार को गुण से अर् प्राप्त था उसको बाधकर अत् हुआ। 'अपीपृथत्' आदि में गुण न हुआ। यहाँ अन्यतम शास्त्र बाध्य है एवं यह सूत्र बाधक है। पक्ष में गुण अपपर्थत्।

पथ धातु प्रक्षेप में है। पाथयति। सम्बन्ध में षम्ब धातु है, षकार को सकारादेश सम्बयति। शम्ब धातु इसी अर्थ में है। भक्ष धातु अदन में है। कुट्ट छेदन एवं भर्त्सन में है। पूरणार्थक भी है। अल्पीभाव में पुट्ट चुट्ट धातु हैं। अनादर अर्थ में अट्ट षुट्ट धातु है। अट्टयति। 'अद्ट्' ऐसा यह धातु धातुपाठ में दकार उपधा युक्त है। ष्टुत्व से दकार को टकार हुआ है। वह ष्टुत्व लुङ् में 'चङि' सूत्र से द्वित्व की दृष्टि में असिद्ध है अतः 'नन्द्राः' सूत्र से संयोग के आदि दकार का द्वित्व न हुआ किन्तु द्वितीयैकाच् घटित वृक्षप्रचलन न्याय से केवल 'टि' का द्वित्व होकर आद् टिटि अत् णिका लोप ष्टुत्व से आट्टिटत् रूप हुआ। यदि दोपध न मानते तो 'ट्टि' का द्वित्व से अनिष्ट रूप 'आटिट्टत्' होता।

लुण्ठ स्तेये। लुण्ठयति। लुण्ठतीति। लुठ स्तेये इति भौवादिकस्य। ३५। शठ श्वठ असंस्कारगत्योः। ३ । श्वठि इत्येके। ३८। तुजि पिजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु। तुञ्जयति। पिञ्जयति। इदित्करणात् तुञ्जति। पिञ्जति। ४०।

तुज पिजेति केचित् । ४२ । लजि लुजि इत्येके । ४४ । पिस गतौ । पेसयति । पेसतीति तु शपि गतम् । षान्त्व सामप्रयोगे । ४६ । श्वल्क वल्क परिभाषणे । ४८ । ष्णिह स्नेहने । स्फिट इत्येके । ५० । स्मिट अनादरे । अषोपदेशत्वान्न षः । असिस्मिटत् । ५१ । ष्मिङ् अनादरे इत्येके । ङित्त्वस्यावयवेऽचरितार्थत्वाण् णिजन्तात्तङ् । स्माययते । ५२ । श्लिष श्लेषणे । ५३ । पथि गतौ । पन्थयति । पन्थति । ५४ । पिच्छ कुट्टने । ५५ ।

छदि संवरणे । छन्दयति । छन्दति । ५६ । श्रण दाने । प्रायेणायं विपूर्वः । विश्राणयति । ५७ । तड आघाते । ताडयति । ५८ । खड खडि कडि भेदने । खाडयति । खण्डयति । खण्डयति । कण्डयति । कण्डति । ६१ । कुडि रक्षणे । ६२। गडि वेष्टने । रक्षण इत्येके । ६३ । कुठि इत्यन्ये । अवकुण्ठयति । अवकुण्ठति । गुठि इत्यपरे । ६५ । खुडि खण्डने । ६६ । वठि विभाजने । वडि इत्येके । ६८ । मडि भूषायां हर्षे च । ६९ । भडि कल्याणे । ७० ।

लुण्ठ धातु स्तेय अर्थ में है । भ्वादि में लुठ धातु स्तेय में कह चुके हैं । शठ श्वठ असंस्कार एवं गति में है । कोई 'श्वठि' मानता है । तुजि, पिजि धातु हिंसा में, बल में आदान में, निकेतन = निवास में है । इदित् करण से णिच् विकल्प से तुञ्जति पिञ्जति । तुज पिज् ऐसा भी है । लजि, लुजि भी धातु पूर्वोक्तार्थ में है । पिस धातु गति में है । भ्वादि का पेसति रूप है । षान्त्व धातु सामप्रयोग में है । श्वल्क वल्क परिभाषण में है । ष्णिह धातु स्नेहन में है । स्फिट भी इसी अर्थ में है । स्मिट अनादर में है । षोपदेश का अभाव से षकारादेश न हुआ 'असिस्मिटत्' ।

ष्मिङ् अनादर में है । यहां ङकारानुबन्ध केवल धातु में अकृतार्थ होने से ण्यन्त से आत्मनेपदार्थ हुआ—"अवयवेऽचरितार्थोऽनुबन्धः समुदायस्योपकारको भवति" अतः स्माययते । श्लिष आलिङ्गन में है । पथि गति में है । इदित से णिच् विकल्प हुआ । पिच्छ कुट्टन में है । छदि संवरण में है, णिच् विकल्प इसका हुआ इदित् करण से । श्रण दान अर्थ में प्रायः वि उपसर्ग पूर्वक ही प्रयुक्त है ।

तड आघात में है । खडादि तीन धातु भेदन में है । कुडि रक्षण में है । गुडि वेष्टन में है । रक्षण में भी है । कुठि भी इसी अर्थ में है । 'गुठि' भी धातु है । खण्डन में खुडि धातु है । विभाजन में वठि धातु है । मडि भूषा में है एवं हर्ष में । भडि कल्याण अर्थ में है ।

छर्द वमने । ७१ । पुस्त बुस्त आदरानादरयोः । ७३ । चुद संचोदने । ७४। नक्क धक्क नाशने । णोपदेशलक्षणे पर्युदस्तोऽयम् । प्रनक्कयति । ७६ । चक्क चुक्क व्यथने । ७८ । क्षल शौचकर्मणि । ७९ । तल प्रतिष्ठायाम् । ८० । तुल उन्माने । तोलयति । तोलयामास । अतूतुलत् । कथं तुलयति तुलना इत्यादि । 'अतुलोपमाभ्याम्' इति निपातनादङन्तस्य तुलाशब्दस्य सिद्धौ ततो णिच् । ८१ । दुल उत्क्षेपे । ८२ । पुल महत्त्वे । ८३ । चुल समुच्छ्राये । ८४ । मूल रोहणे । ८५ । कल बिल क्षेपे । ८७ । बिल भेदने । ८८ । तिल स्नेहने । ८९ । चल भृतौ । ९० । पाल रक्षणे । ९१ । लूष हिंसायाम् । ९२ । शुल्ब माने । ९३ ।

शूर्प च । ९४ । चुट छेदने । ९५ । मुट सञ्चूर्णने । ९६ । पडि पसि नाशने । पण्डयति । पण्डति । पंसयति । पंसति । ९८ । व्रज मार्ग संस्कारगत्योः ।१००। शुल्क अतिस्पर्शने । १०१ । चपि गत्याम् । चम्पयति । चम्पति । १०२ । क्षपि क्षान्त्याम् । क्षम्पयति । क्षम्पति । १०३ । छजि कृच्छ्रजीवने । १०४ । श्वर्त- गत्याम् । १०५ । श्वभ्र च । १०६ । ज्ञप मिच्च । अयं ज्ञाने ज्ञापने च वर्तते ।

छर्द धातु वमनार्थक है। पुस्त एवं बुस्त आदर में एवं अनादर में है। चुदधातु संचोदन में है । नक्क एवं धक्क धातु नाशन में है । णोपदेश धातु में 'अनक्क' ऐसा पर्युदास से यह णोपदेश नहीं है अतः प्रनक्कयति यहां णत्व न हुआ । चक्क एवं चुक्क पीडा में है। क्षल धात पवित्रता में है। तल प्रतिष्ठा में है । ८० ।

तुल उन्मान में है । तोलयति । लुङ् में अतूतुलत् होता है। तुलयति एवं तुलना वे प्रयोग कैसे हुए ? तोलयति तोलना ऐसा होना चाहिये ?, समाधान करते हैं कि अङ् प्रत्ययान्त 'तुला' शब्द स्त्रीलिङ्ग में टाबन्त है, 'अतुलोपमाभ्याम्' निपातन से उससे णिच् प्रत्यय तुलयति ण्यन्त से युच् प्रत्यय तुलना । दुल उपरि भाग में फेंकना अर्थ में है ।

पुल महत्त्व में । चुल समुच्छ्राय में है। मूल चढ़ने में है। कल बिक्षेप में है। क्षेपः = निन्दा । बिल भेदन में है। तिल स्नेहन में है। चल भृति में है। पाल रक्षण में है। लुप हिंसा है । शुल्व मान में है । शूर्प भी मान में है । चुट छेदन में है । मुट सञ्चूर्णन में है । पडि-पसि नाशन में है । इदित से णिच् विकल्प । व्रज एवं संस्कार और गति में है। शुल्क अति स्पर्शन में है । चपि गति में । इदित से णिच् विकल्प से पक्ष में चम्पति । क्षपि क्षान्ति में है। पक्ष में क्षम्पति । छजि कष्ट पूर्वक जीवनधारण में है। श्वर्त धातु गति में है। श्वभ्र भी गति में है। ज्ञप् धातु मितसंज्ञक है, अर्थ है—ज्ञान या ज्ञापन । ज्ञापन = बोधन कराना।

२५६८ मितां ह्रस्वः ६।४।९२।

मितामुपधाया ह्रस्वः स्याण्णौ परे। ज्ञपयति । १०७ । यम च परिवेषणे । चात् मित । परिवेषणमिह वेष्टनम् । न तु भोजना, नापि वेष्टना। यमयति चन्द्रम् = परिवेष्टत इत्यर्थः । १०८ । चह परिकल्कने । चहयति । अचीचहत् । कथादौ वक्ष्यमाणस्य तु अदन्तत्वेनाग्लोपित्वाद् दीर्घसन्वद्भावौ न। अच- चहत् । चप इत्येके । चपयति । ११० । रह त्यागे इत्येके । अरीरहत् । कथा- देस्तु अररहत् । १११ । बल प्राणने । बलयति । ११२ । चिञ् चयने ।

णिच् पर रहते मित् संज्ञक धातुओं की उपधा का ह्रस्व होता है । ज्ञाप् इ अति ह्रस्व ज्ञपयति । यम धातु परिवेषण में है चकार से मित् संज्ञक भी है ।

परिवेष्टन का अर्थ यहां परिवेष्टन है । भोजन करवाना = परोसना नहीं घेरना अर्थ है । चन्द्र को परिवेष्टित करता है यमयति चन्द्रम् । चह धातु परिकल्कन में है। कथादि में अदन्त है अकार का 'अतो लोपः' से लोप हुआ है अतः वह अग्लोपी होने से सन्वद्भाव एवं दीर्घरूप कार्यभागी नहीं है। यह अग् लोपी नहीं है यह दोनों में विशेषता है । इसका लुङ् में अचीचहत । कथादि वाले का अचचहत । कोई चपधातु इसी अर्थ में मित है ऐसा मानते हैं। चपयति । रह त्याग में है । अरीरहत । कथादि का रूप अररहत है । बल प्राणन में है । बलयति । चिञ् धातु चयनार्थक है ।

२५६९ चिस्फुरोर्णौ ६।१।५४।

आत्वं वा स्यात्।

णिपर रहते चि एवं स्फुर् को आत्व विकल्प से होता है।

२५७० अतिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुग्णौ ७।३।३६।

चपयति। चाययति। ञित्करणसामर्थ्यादस्य णिज्विकल्पः। चयति। चयते। प्रणिचयति। प्रनिचयति। प्रणिचयते। प्रनिचयते। नान्ये मितोऽहेतौ। अहेतौ = स्वार्थे णिचि ज्ञपादिभ्योऽन्ये मितो न स्युः। तेन शमादीनाममन्तत्वप्रयुक्तं मित्त्वं न। ११३। घट्ट चलने। ११४। मुस्त संघाते। ११५। खट्ट संवरणे। ११६। षट्ट स्फिट्ट चुबि हिंसायाम्। ११९। पुल सङ्घाते। १२०। पूर्ण इत्येके। पुणेत्यन्ये। १२१। पुंस अभिवर्धने। १२२। टकि बन्धने। टङ्कयति। टङ्कति। धूस कान्तिकरणे। धूसयति। दन्त्यान्तः। मूर्धन्यान्त इत्येके। तालव्यान्त इत्यपरे। १२४। कीट वर्णे। १२५। चूर्ण संकोचने। १२६। पूज पूजायाम्। १२७। अर्क स्तवने। तपन इत्येके। १२८। शुठ आलस्ये। १२९। शुठि शोषणे। शुण्ठयति। शुण्ठति। १३०। जुड प्रेरणे। १३१। गजमार्ज शब्दार्थौ। गाजयति। मार्जयति। १३३। मर्च च। मर्चयति। १३४। घृ प्रस्रवणे। स्रावण इत्येके। १३५। पचि विस्तारवचने। पञ्चयति। पञ्चति। पञ्चते इति व्यक्तार्थस्य शपि गतम्। तिजनिशाने तेजयति। १३७। कृत संशब्दने।

अति ह्री व्ली री क्नूयी क्ष्मायी आकारान्त धातुओं के णि पर रहते पुक् आगम होता है। चि + इ + अ + ति। आत्व, पुक्-प् मित्त्व ह्रस्व गुण अयादेश = चपयति। आत्वाभाव पक्ष में चययति। ञित् करण क्यों किया? ञित् धातु से अव्यवहित लकार यहां सम्भव नहीं है। इकार का मध्यम व्यवधान है, 'स्वरित' सूत्र की अप्राप्ति है, वह ञित् ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि इसको णिच् विकल्प से होता है। णिच् के अभाव पक्ष में ञित् आत्मनेपदार्थ चरितार्थ हुआ—चयते। 'शेषे विभाषा' से णत्व वैकल्पिक हुआ—प्रणिचयति। प्रनिचयति।

स्वार्थिक णिच् पर में रहते ज्ञपादि पाँच धातुओं से अतिरिक्त धातु मित्संज्ञक नहीं है अतः शम् आदि धातु अमन्त होते हुए भी मित्संज्ञक न हुए अतः वहां ह्रस्व नहीं हुआ। घट्ट चलन में है। मुस्त सङ्घात में है। खट्ट संवरण में है। षट्ट स्फिट्ट एवं चुबि हिंसा में है। पुल संघात में है। पूर्ण भी संघात में है। पुण संघात में है। पुंस अभिवर्धन में है। टकि बन्धन में है, इदित करण से णिच् इसको वैकल्पिक है। धूस धातु कान्ति करण में है। दन्त्य या मूर्धन्य या तालव्य अन्त में है ऐसा यहां मतभेद है। कीट वर्ण में है। चूर्ण संकोचन में है। पूज पूजा में है। स्तवन = स्तुति में अर्क है। तपन अर्थ में भी है। शुठ आलस्य में है। शोषण में शुठि है, इदित करण णिच् वैकल्पिक में प्रमाण है। जुड प्रेरण में है। गज मार्ज शब्दार्थक है। मर्च भी शब्दार्थक है। घृ धातु प्रस्रवण में है। कोई स्रावण में है यह ऐसा कहते हैं। विस्तार वचन में पांच धातु है। इदित से णिच् विकल्प। पञ्चयति। पञ्चति। पञ्चते—यह शप् विकरणक भ्वादि है। तिज निशान में है। तेजयति। कृत संशब्दनार्थक है।

२५७१ उपधायाश्च ।७।१।१०१।

धातोरुपधाभूतस्य ऋत इत् स्यात्, रपरत्वम्। उपधायाञ्चेति दीर्घः। कीर्तयति। उर्ऋत्—अचीकृतत्। अचिकीर्तत्। १३८। वर्ध छेदन-पूरणयोः। १३६। कुबि आच्छादने। कुम्बयति। कुभि इत्येके। १४१। लुबि तुबि अदर्शने। अर्दने इत्येके। १४३।

ह्लप व्यक्तायां वाचि। क्लपेत्येके। १४५। चुटि छेदने। १४६। इल प्रेरणे। एलयति। ऐलिलत्। १४७। म्रक्ष म्लेच्छने। १४८। म्लेच्छ अव्यक्तायां वाचि। १४६। ब्रूस बर्ह हिंसायाम्। १५१। केचिदिह गर्ज गर्द शब्दे। गर्ध अभिकाङ्क्षायाम् इति पठन्ति। १५४। गुर्द पूर्वनिकेतने। १५६। जसि रक्षणे। मोक्षण इति केचित्। जंसयति। जंसति। १५७। ईड स्तुतौ। १५८। जसु हिंसायाम्। १५६। पडि संघाते। १६०। रुष रोषे। रुठ इत्येके। १६२। डिप क्षेपे। १६३। ष्टुप समुच्छ्राये। १६४।

धातु के उपधा में स्थित ऋकार के स्थान में इत् आदेश होता है, वह रपर होकर लक्ष्य में आता है अर्थात् इर्। 'उपधायां च' से दीर्घ होता है—कीर्तयति। लुङ् में उर्ऋत् से विकल्प करके ऋकार के स्थान में ऋकारादेश होता है दो रूप हुए - अचीकृतत्। पक्ष में अचिकीर्तत्। वर्ध धातु छेदन एवं पूरण में है। कुबि आच्छादन में है। कुभि इसी अर्थ में है। अदर्शन में लुबि तुबि धातु है, अर्दन में भी वे हैं।

ह्लप् व्यक्त वचन में है क्लप् भी इसी अर्थ में है। छेदन में चुटि है। प्रेरण में इल है। म्रक्ष म्लेच्छन में है। म्लेच्छ अव्यक्त वाणी में है। ब्रूस बर्ह हिंसा में है। कोई यहां शब्द अर्थ में गर्ज गर्द पढते हैं एवं अभिकाङ्क्षा में गर्ध को पढते हैं। गुर्द धातु पूर्व निकेतन में है। जसि रक्षण में है। कोई मोक्षण अर्थ में इसे कहते हैं। इदित करण णिच् वैकल्पिक में प्रमाण है। ईड उत्कर्षगुण बोधन में है। जसु हिंसा में है। पिडि सङ्घात में है ऐसा कुछ कहते हैं। रुष धातु रोष में है। रुठ रोष में है। डिप क्षेप = निन्दा में है। ष्टुप समुच्छ्राय में है।

आकुस्मादात्मनेपदिनः। कुस्मनाम्नो वेति वक्ष्यते तमभिव्याप्येत्यर्थः। अकर्तृगामिफलार्थमिदम्। चित सञ्चेतने। चेतयते। अचीचितत। १। दशि दंशने। दंशयते। अददंशत। इदित्त्वात् णिजभावे दंशति। आकुस्मीयमात्मनेपदं णिच्सन्नियोगेनैवेति व्याख्यातारः। नलोपे सञ्जिसाहचर्याद्‌ भ्वादेरेव ग्रहणम्। २। दसि दर्शनदंशनयोः। दंसयते। दंसति। दसेत्यप्येके। ४। डप डिप सङ्घाते।६। तन्त्रि कुटुम्बधारणे। तन्त्रयते। चान्द्रास्तु धातुद्वयमिति मत्वा कुटुम्बयते इत्युदाहरन्ति। ८। मत्रि गुप्तपरिभाषणे। ६। स्पश ग्रहणसंश्लेषणयोः। १०। तर्ज भर्त्स तर्जने। १२। वस्त गन्ध अर्दने। वस्तयते। गन्धयते। १४। विष्क हिंसायाम्। हिष्कइत्येके। १६। निष्क परिमाणे। १७। लल ईप्सायाम्। १८। कूण संकोचने। १६। तूण पूरणे। २०। भ्रूण आशाविशङ्कयोः। २१।

कुस्म धातु तक आत्मनेपदी धातुओं का निर्देश करते हैं। 'कुस्मनाम्नो वा' यह बाद में कहा जायगा वहां तक सब धातु आत्मनेपदीय है। यह क्रियाजन्यफल कर्तृगामि न रहें वहां भी आत्मनेपद के लिए है। चित धातु संकोचन में है। दशि दंशन में है। इदित् प्रयुक्त णिच् विकल्प है। पक्ष में दंशति। णिच सन्नियोगशिष्ट ही कुस्म तक धातु आत्मनेपदीय है ऐसा व्याख्याकारों का मत है। णिच् के अभाव में परस्मैपदी ही रहेगा। नलोपविधायक वचन में सञ्जि धातु के साहचर्य से भ्वादिगणपठित तक ही ग्रहण है इससे नलोप नहीं हुआ। दसि दर्शन एवं दंशन अर्थ में है। णिच् विकल्प इदित् प्रयुक्त। दस धातु भी पूर्व अर्थ में है। डप डिप संघात में है। तत्रि धातु कुटुम्ब धारण में है। तन्त्रयते। चान्द्र आचार्य 'कुटुम्ब' धातु स्वतन्त्र धारण में है। ऐसा मानकर 'कुटुम्बयते' कहते है। मात्र धातु गुप्त परिभाषण में है। स्पश धातु ग्रहण एवं संश्लेषण में है। तर्ज भर्त्स तर्जन में हैं। वस्त एवं गन्ध धातु अर्दन में है। विष्क हिंसा में है। किसी के मत से हिस्क धातु है। निष्क धातु परिमाण में हैं। लल धातु ईप्सा में है। कूण संकोचन में है। तूण पूरण में है। भ्रूण धातु आशा एवं विशङ्का में है।

शठ श्लाघायाम्। २२। यक्ष पूजायाम्। २३। स्यम वितर्के। २४। गूर उद्यमने। २५। शम लक्ष आलोचने। नान्ये मित इति मित्त्वनिषेधः। शामयते। २७। कुत्स अवक्षेपणे। २८। त्रुट छेदने। कुट इत्येके। ३०। गल स्रवणे। ३१। भल आभण्डने। ३२।

कूट आप्रदाने। अवसादने इत्येके। ३३। कुट्ट प्रतापने। ३४। वञ्चु प्रलम्भने। ३५। वृष शक्तिबन्धने। शक्तिबन्धनं प्रजननसामर्थ्यं शक्तिसम्बन्धश्च। वर्षयते। ३६। मद तृप्तियोगे। मदयते। ३७। दिवु परिकूजने। ३८। गृ विज्ञाने। गारयते। ३९। विद चेतनाख्याननिवासेषु। वेदयते। ४०।

सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नम् शेष्विदं क्रमात्॥ १॥

मान स्तम्भे। मानयते। ४१। यु जुगुप्सायाम्। यावयते। ४२। "कुस्म नाम्नो वा" कुस्मेति धातुः कुत्सितस्मयने वर्तते। कुस्मयते। अचुकुस्मत। ४३। अथवा कुस्मेति प्रातिपदिकं ततो धात्वर्थे णिच्। इत्याकुस्मीयाः।

शठ श्लाघा में है। यक्ष पूजा में है। स्यम वितर्क में है। उद्यमन में गूर है। आलोचन में शम एवं लक्ष है। यह अमन्तत्व प्रयुक्त मित्संज्ञा प्राप्त थी किन्तु 'नान्ये मितः' से निषेध हुआ अतः मित्संज्ञा के अभाव से ह्रस्व न हुआ—'शामयते' रूप हुआ। अवक्षेपण में कुत्स धातु है। त्रुट धातु छेदन में है। कुट भी छेदन में है।

जल धातु स्रवण में है। भल आभण्डन में है। कूट धातु आप्रदान में है। नाश में भी है। प्रतापन में कुट्ट है। प्रलम्भन में वञ्चु धातु है। शक्तिबन्धन में वृष है। उत्पादन के सामर्थ्य को या शक्तिसम्बन्ध को प्रजनन कहते हैं। तृप्तियोग में मद धातु है। परिकूजन में दिवु धातु है। विज्ञान में गृधातु है। चेतना, आख्यान एवं विवास में विद धातु है। वेदयते। यह धातु सत्ता में दिवादि है। 'विद्यते' रूप होता है। ज्ञान में 'वेत्ति' अदादि है। विचारण में 'विन्ते' श्नम् विकरण हैं रुदादि है। शविकरणक तुदादि विन्दति विन्दते है। इस प्रकार यह श्यन्, लुक्, श्नम्, शविकरण अनेकविध है।

मानधातु स्तम्भ में है। मानयते। युधातु निन्दा में है। कुस्म धातु कुत्सित स्मयन में है। अथवा कुस्म प्रातिपादक से णिच् होता है धात्वर्थ में। कुस्मीय धातु समाप्त हुआ।

चर्च अध्ययने। १। बुक्क भाषणे। २। शब्द उपसर्गादाविष्कारे च। चाद्-भाषणे। प्रतिशब्दयति = प्रतिश्रुतमाविष्करोतीत्यर्थः। अनुपसर्गाच्च। आविष्कारे इत्येव। शब्दयति। ३। कण निमीलने। काणयति। णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः। काण्यादीनां वेति विकल्प्यते। अचीकणत्। अचकाणत्। ४। जभि नाशने। जम्भयति। जम्भति। ५। षूद क्षरणे। सूदयति। असूषुदत्। ६। जसु ताडने। जासयति। जसति। ७। पश बन्धने। पाशयति। ८। अम रोगे। आमयति। 'नान्ये मित' इति निषेधः। अम गत्यादौ शपि गतः। तस्माद् हेतुमण्णौ न कम्यमिचमामिति निषेधः। आमयति। चटस्फुट भेदने। विकासे शशपोः। स्फुटति। स्फोटते इत्युक्तम्। ११। घट संघाते। घाटयति। १२। हन्त्यर्थाश्च।

नवगण्यामुक्ता अपि हन्त्यर्थाः स्वार्थे णिचं लभन्त इत्यर्थः। दिवु मर्दने। उदित्त्वाद् देवतीत्यपि। १३। अर्ज प्रतियत्ने। अयमर्थान्तरेऽपि। द्रव्यम् अर्जयति। १४। घुषिर् विशब्दने। घोषयति। "घुषिरविशब्दने" इति सूत्रे 'अविशब्दने' इति निषेधाल्लिङ्गादनित्योऽस्य णिच्। घोषति। इरित्वादङ् वा। अघुषत्। अघोषीत्। ण्यन्तस्य तु अजूघुषत्। १५। आङः क्रन्द-सातत्ये। भौवादिकः क्रन्दधातुराह्वानाद्यर्थ उक्तः, स एवाङ्पूर्वो णिचं लभते सातत्ये। आक्रन्दयति। अन्ये तु 'आङ्पूर्वो घुषिः क्रन्द-सातत्ये' इत्याहुः। आघोषयति।

अध्ययन में चर्च धातु है। भाषण में बुक्क धातु है। उपसर्गपूर्वक शब्द धातु आविष्कार अर्थ में ही णिच् प्रत्यय को प्राप्त करता है। यह भाषण अर्थ में भी चकार से है। प्रतिज्ञात वस्तु को प्रकट करता है वह। आविष्कार में अनुपसर्ग = उपसर्गरहित शब्द धातु से णिच् होता है। शब्दयति। कण निमीलन में है। काणयति। लुङ् में 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' से विकल्प से होता है, विकल्प विधायक वचन—"काण्यादीनां वा" है। अचीकणत्। अचकाणत्। जभि नाशन में है। इदित्प्रयुक्त णिच् विकल्प है। षूद क्षरण में है। जसु ताडन में है। उदित् करण णिज् विकल्प में प्रमाण है। पश बन्धन में है। अम रोग में है, यह अमन्तत्व प्रयुक्त प्राप्त मित्त्व का 'नान्ये-मितः' से निषेध से आमयति। भ्वादि शप् विकरण अम् धातु से 'हेतुमति च' से णिच् करने पर 'न कम्यमिचमाम्' से मित् संज्ञा के निषेध से 'आमयति' रूप हुआ। चट धातु भेदन में है। यह धातु विकासार्थक तुदादि एवं भ्वादि है, क्रमशः शविकरण एवं शप् विकरण युक्त है। घट सङ्घात में है। नवगण में उक्त दमनार्थक धातुओं से भी विकल्प करके णिच् होता है। मर्दन में दिवु धातु है, उकारेत् से विकल्प णिच् इससे होता है।

गुणाधान में अर्ज धातु है। एवं सम्प्राप्त करना इस अर्थ में भी है द्रव्यम् अर्जयति = प्राप्नोति रमेशः। अर्जयति—संगृह्णाति। घुषि अविशब्दन में है। विशब्दन का अर्थ है प्रतिज्ञान तदभिन्न को अविशब्द न कहते हैं। इसको णिच् विकल्प से अविशब्द में होता है। इसमें

प्रमाण यह है—"घुषिरविशब्दने" सूत्र से घुष् से निष्ठा प्रत्यय को इडागम का निषेध होता है प्रतिज्ञान भिन्न रूप अविशब्दन में विशब्दार्थ इससे अनन्तर निष्ठा नहीं है, णिच् प्रत्यय से व्यवधान होने से। अतः 'घुषिर् अविशब्दने' इस भौवादिक से ही निष्ठा को इडागम निषेध होगा विशब्द में निषेध का क्या प्रयोजन है=अर्थात् प्रयोजनाभाव ही है। 'विशब्दन' में णिच् निषेध इस प्रतिषेध से अनित्य इसको णिच् है यह ज्ञापन होता है। कोई इरित् करण से णिच् विकल्प है ऐसा कहते हैं। घोषयति। घोषति। इरित् होने से अङ् विकल्प से होता है—अघुषत्। अघोषीत्। ण्यन्त घुषि का अजूघुषत् रूप हुआ।

भ्वादि गण में क्रन्द धातु आह्वान आदि अर्थ में पूर्व पठित है, वह आङ्पूर्वक सातत्य अर्थ में णिच् को प्राप्त करता है। आक्रन्दयति। अन्य आचार्य कहते हैं कि आङ् पूर्वक घुषि धातु क्रन्द सातत्य अर्थ में णिच् युक्त है। आघोषयति।

लस धातु शिल्पयोगे। १७। तसि भूष अलङ्करणे। अवतंसयति। अवतंसति। भूषयति। १९। मोक्ष असने। मोक्षयति। २०। अर्ह पूजायाम्। २१। ज्ञा नियोगे। आज्ञापयति। २२। भज विश्राणने। २३। शृधु प्रसहने। अशशर्धत्। अशीशृधत्। २४।

यत निकारोपस्कारयोः। २५। रक लग आस्वादने। रघ इत्येके। रगेत्यन्ये। २९। अञ्चु विशेषणे अञ्चयति। उदित्त्वमिड्विकल्पार्थम्। अत एव विभाषितो णिच्। अञ्चति। एवं शृधु जसुप्रभृतीनामपि बोध्यम्। ३०। लिगि चित्रीकरणे। लिङ्गयति। लिङ्गति। ३१। मुद संसर्गे। मादयति सक्तून् घृतेन। ३२। त्रस धारणे। ग्रहण इत्येके, वारणे इत्यन्ये। ३३।

उध्रस ऊञ्छे। उकारो धात्ववयव इत्येके नेत्यन्ये। ध्रासयति उध्रासयति। । ३५। मुच प्रमोचने मोदने च। ३६। वस स्नेहच्छेदोपहरणेषु। ३७। चर संशये। ३८। च्यु सहने, हसने इत्येके। च्यावयति। च्युसेत्येके। च्योसयति। ४०। भुवोऽवकल्कने। अवकल्कनं मिश्रीकरणमित्येके, चिन्तनमित्यन्ये। भावयति। ४१। कृपेश्च। कल्पयति। ४२।

शिल्प योग में लस धातु है। "क्रियाकौशलं शिल्पम्"। अलंकरण में तसि एवं भूष धातु है। तसि में इदित् करण से णिच् विकल्प से होता है। अवतंसति।

मोक्ष क्षेपणार्थक है। पूजा में अर्ह है। नियोग में ज्ञा धातु है, आङ्पूर्वक में आज्ञापयति। विश्राणन में भज है। प्रसहन अर्थ में शृधु है, लुङ् में उऋत् से विकल्प ऋकार पक्ष में अर् अशीशृधत्-अशशर्धत्। यत धातु निकार एवं उपस्कार अर्थ में।

यत्न या प्रैष को निकार कहते हैं। क्रिया निघण्टौ च।

"यत्ने प्रैषे निराकारे पादपे चाप्युपस्कृतौ। नित्योऽयं धान्यधनयोः, प्रतिदाने"।

यत्नादि चार अर्थ में यत धातु का प्रयोग करना चाहिये। निस् से पर यत धातु का प्रयोग करने पर वह धान्यार्थक है, तथा धनार्थक है, एवं प्रतिदान में है। यथा ऋणं निर्यातयति=प्रतिददाति।

आस्वादन में रक्त एवं लग है। रघ धातु भी आस्वादन में है। अन्चु विशेषण में है। उदित प्रयुक्त णिच् विकल्प है। 'उदितो वा' से इट् विकल्पार्थ कृत उदित से अव्यवहित करवा नहीं मिलेगा मध्य में व्यवधान कर्ता णिच् रहेगा। अतः उदित ग्रहण वैयर्थ्य मूलक यह ज्ञापन हुआ कि इससे णिच् विकल्प होता है। अञ्चति। इसी प्रकार शृधु जसु में भी समझना चाहिये। चित्रीकरण में लगि है विकल्प से इदित करण से णिच् होता है इसको। मुद सम्बन्ध में है। घृत = घी से सक्तु को युक्त करता है। त्रस धारण में या ग्रहण में है। या वारण में है। उन्छवृत्ति में उधस धातु है। उकार धातु का अवयव है ऐसा कोई कहता है। धातु का अवयव उकार नहीं है। यह भी मत है। प्रमोचन एवं मोदन में मुच् धातु है। स्नेह में च्छेदन में अपहरण में वस् धातु है। संशय में चर् धातु है। सहन में या हसन में च्यु धातु है। च्युस् धातु भी है। मिश्रीकरण अर्थ में भू धातु है। कृप धातु भी मिश्रीकरण में हैं।

आस्वदः सकर्मकात्। स्वदिमभिव्याप्य सम्भवत्कर्मभ्य एव णिच्। ग्रस ग्रहणे। ग्रासयति फलम्। १। पुष धारणे। पोषयत्याभरणम्। २। दल विदारणे। दालयति। ३। पट पुट लुट तिजि मिजि पिजि लुजि भजि लघि त्रसि पिसि कुसि दशि कुशि घट घटि वृहि बर्ह बल्ह गुप धूप विच्छि चीव पुथ लोकृ णद कुप तर्क वृतु वृधु भाषार्थाः। पाटयति। पाटयति। लोटयति। तुञ्जयति। तुञ्जति। एवं परेषाम्। घाटयति। घण्टयति।

स्वदि धातुतक सकर्मक धातुओं से णिच् प्रत्यय होता है। ग्रहण अर्थ में ग्रस् धातु है। पुष धारण में है, वह आभूषणों का धारण करता है। विदारण में दल धातु है। पट से लेकर वृधु तक ३० धातु भाषा में है।

२५७३ नाग्लोपिशास्वृदिताम् ७।४।२।

णिच्यग्लोपिनः शास्तेर्ऋदितां च उपधाया ह्रस्वो न स्याच्चङ्परे णौ। अलुलोकत्। अलुलोचत्। वर्तयति। वर्धयति। उदित्त्वात् 'वर्तति' वर्धति। ५४। रुट-लजि-अजि-दसि-भृशि-रुशि-शीक-रुसि-नट-पुटि-जि-चि-रघि-लघि-अहि-रहि-महि च। ४६। लडि तड नल च। ५२। पूरी आप्यायने। ईदित्त्वं निष्ठायामिण्निषेधाय। अत एव णिज्वा। पूरयति। पूरति। ५३। रुज हिंसायाम्। ५४। ष्वद आस्वादने। स्वाद इत्येके। अभिष्वदत्। दीर्घस्य त्वषोपदेशत्वात् असिस्वदत्। ५६। इत्यास्वदीयाः।

णिच् पर रहते अग् लोपयुक्त धातु, एवं शास् धातु तथा ऋकारान्त धातु इनकी उपधा का ह्रस्व नहीं होता है चङ् परक णि पर रहते। यह 'णौ चङि' का निषेधक है। वृतु उदित् से णिच् विकल्प होता है 'वर्तति' रूप भी हुआ।

रुटि से लेकर, महि तक धातु भाषार्थक है। लडि तड नक वे भी भाषार्थक है। पूरी आप्यायन में है। ईकार की इत्संज्ञा से निष्ठा में इट् विकल्प से होता है अतः णिच् इसको विकल्प से करना चाहिये। पूरयति। पूरति। रुज हिंसा में है। ष्वद आस्वादन में है। स्वाद धातु भी आस्वादन में है। दीर्घोपध षोपदेश नहीं है अतः असिस्वदत रूप हुआ।

आ धृषाद्वा। इत ऊर्ध्वं विभाषितणिचो धृष-धातुमभिव्याप्य। युज पृच संयमने। योजयति। योजति। अयौक्षीत्। पर्चयति। पर्चति। पचिता। अपर्चीत्। २ अर्च पूजायाम्। ३। षह मर्षणे। साहयति।

"स एवायं नागः सहति कलभेभ्यः परिभवम्"। ४।

ईर क्षेपे। ५। ली द्रवीकरणे। लाययति। लयति। लेता। ६। वृजी वर्जने। वर्जयति। वर्जति। ७। वृजी वर्जने। वर्जयति। वर्जति। वृञ् आवरणे। वारयति। वरति। वरते। वरिता। वरीता। ८।

जॄ वयोहानौ। जारयति। जरति। जरीता। जरिता। ज्रि च। ज्राययति। ज्रयति। ज्रेता। १०। रिच वियोजनसम्पर्चनयोः। रेचयति। रेचति। रेक्ता। ११। शिष असर्वोपयोगे। शेषयति। शेषति। शेष्टा। अशिक्षत्। अयं विपूर्वोऽतिशये। १२। तप दाहे। तपयति। तापति तप्ता। १३। तृप तृप्तौ। सन्दीपने इत्येके। तर्पयति। तर्पति। तर्पिता। १४। छृदि संदीपने इत्येके तर्पयति। तर्पति। तर्पिता। १४। छृदी सन्दीपने। छर्दयति। छर्दति। छर्दिता। छर्दिष्यति। सेऽसिचीति विकल्पो न, साहचर्यात्तत्र रौधादिकस्यैव ग्रहणात्। १५।

धृष धातु तक अब यहां से विकल्प णिच् होता है। युज पृच् संयमन में हैं। योजयति। पक्ष में युर्जति। अर्च पूजा में है। सहन में यह धातु है। धात्वादेः से सकार यह वह हाथी है जो अपने बच्चों से अपना पराभव को सहन करता है। यहां 'सहति' प्रयोग णिच् रहित का हुआ है। "सर्वतो विजयमिच्छेत शिष्यात् पुत्राद्वा इच्छेत् पराभवम्"। अर्थात पिता से या गुरु से उत्कर्ष युक्त पुत्र या शिष्य होने की इच्छा रखनी चाहिये। ईर क्षेप = निन्दा में है। ली द्रवीकरण में है। वृजी वर्जन में है। वृञ् आवरण में है। जॄ वयोहानि में है। ज्रि भी इसी अर्थ में है। रिच् वियोजन एवं सम्पर्चन में है।

शिष असर्व उपयोग में है। यह वि उपसर्ग पूर्वक अतिशय अर्थ में है। तप धातु दाह में है। तापयति। तपति। तृपधातु तृप्ति में है। तृप तृप्ति एवं संदीपन में है। छृदी संदीपन में है। छर्दिष्यति एक ही रूप है। यहां 'सेऽसिचि' से विकल्प, इडागम नहीं होता है, क्योंकि साहचर्य से रुधादिगण पठित का ही ग्रहण होता है कृत रुधादि है अतः छृद भी रुधादि ही लिया गया।

चृप छृप दृप सन्दीपने इत्येके। चर्पयति। छर्पयति। १८। दृभी भये। दर्भयति। दर्भति। दर्भिता। १९। दृभ। सन्दर्भे। अयं तुदादावीदित्। २०। श्रथ मोक्षणे। हिसार्थमित्येके। २१। मी गतौ। माययति। मयति। मेता। २२। ग्रन्थ बन्धने। ग्रन्थयति। ग्रन्थति। २३। शीक आमर्षणे। २४। चीक च। २५ अर्द हिंसायाम्। स्वरितेत्। अर्दयति। अर्दति। अर्दसे। २६।

हिसि हिंसायाम्। हिंसयति। हिंसति। हिनस्तीति श्नमि गतम्। २७। अर्ह पूजायाम्। २८। आङः षद पद्यर्थे। आसादयति। आसीदाति। पाघ्रेति

सीदादेशः। आसत्ता। आसात्सीत्। २९। शुन्ध शौचकर्मणि। शुन्धिता। अशुन्धीत्। अशुन्धिष्टाम्। ३०। छद अपवारणे। स्वरितेत्। ३१। जुष परितर्कणे। परितर्कणम्=ऊहो हिंसा वा। परितर्पण इत्यन्ये। परितर्पणम्=परितृप्तिक्रिया। जोषयति। जोषति। प्रीतिसेवनयोः जुषते इति तुदादौ।

३२। धूञ् कम्पने। णावित्यधिकृत्य। धूञ्प्रीञोर्नुक् वक्तव्यः। धूनयति। धवति। धवते। केचित्तु धूञ् प्रीणोरिति पठित्वा प्रीणातिसाहचर्याद् धुनोतेरेव नुकमाहुः। धावयति। ३३। अयं स्वादौ क्र्यादौ तुदादौ च। स्वादौ ह्रस्वश्च। तथा च कविरहस्ये।

"धूनोति चम्पकवनानि धुनोत्यशोकं चूतं धुनाति धुवति स्फुटितातिमुक्तम्।
वायुर्विधूनयति चम्पकपुष्परेणून् यत्कानने धवति चन्दनमञ्जरीश्च"॥

चृप छृप दृप् संदीपन में है। भय में दृभी है। संदर्भ में दृभ धातु है। यह तुदादि में पठित ईकारेत्संज्ञक है। श्रथ मोक्षण में है। हिंसा में भी है। गति में भी धातु है। बन्धन में ग्रन्थ है। आमर्षण में शीक है। चीक भी इसी में है। अर्द हिंसा में है। स्वरितेत् से उभयपदी है। अर्दयति। अर्दति। अर्दते। हिंसा में हिसि है। रुधादि में इसका रूप हिनस्ति कह चुके है। अर्हं पूजा में है। आङ्पूर्वक षद धातु गति में है। इसको शप् विषय में 'पा घ्राध्मा से सीद' देश होता है। आसीदति। पवित्र कर्म में शुन्ध है। दूरीकरण में छद है। ऊहा एवं हिंसा में जुष है। परितर्पण=तृप्ति क्रिया में भी यह है। प्रीति एवं सेवन में इसे तुदादि में कह चुके हैं 'जोषते' इत्यादि।

धूञ् कम्पन में है णिच् में धूञ् एवं प्रीञ् को नुक् आगम होता है। धूनयति। धवति। धवते। कोई धूञ् एवं प्रीण पढ कर क्र्यादि प्री धातु साहचर्य में श्नाविकरणक धूञ् को ही नुक् आगम होता है ऐसा कहते हैं। धावयति। यह स्वादि में क्र्यादि में एवं तुदादि में पठित है। स्वादि में ह्रस्व है। कविरहस्य नामक ग्रन्थ में कहा है कि—

"चम्पक के वनों को वायु कम्पित करता है=धूनोति। अशोक वृक्ष को कम्पित करता है=धुनोति। आम्रवृक्ष को कम्पित करता है=धुनाति। चम्पक पुष्पों की धूलि को कम्पित करता है=धूनयति। उस वन में चम्पक की कलियों को वायु कम्पित करता है=धवति। संस्कृत व्याकरण में वायु शब्द पुंलिङ्ग है। स्त्रीलिङ्ग नहीं। हिन्दी जगत में स्त्रीलिङ्ग हवा शब्द के पर्याय से मानते हैं। आतमा शब्द में आत्मन् शब्द भी पुंलिङ्ग है। वातीति वायुः संस्कृत कोष में भी वायु को पुल्लिङ्ग ही कहा है।

प्रीञ् तर्पणे। प्रीणयति। धूञ् प्रीणोरिति हरदत्तोक्तपाठे तु प्राययति। प्रयति। प्रयते। ३४। श्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे। ३६। आप्लृ लम्भने। आपयति। आपिपत्। आपति। आप्ता। आपत् स्वरितोदयमित्येके। आपते। ३७। तनु श्रद्धोपकरणयोः। उपसर्गाच्च दैर्घ्ये। तानयति। वितानयति। तनति। वितनति। ३८। चन श्रद्धोपहननयोरित्येके। चानयति। चनति। ३९। वद सन्देशवचने। वादयति। स्वरितेत्। वदति। वदते। ववदतुः। ववदिथ। वद्यात्। अनुदात्तेदित्येके। ववदे। ४०।

वच परिभाषणे। वचति। वक्ता। अवाक्षीत्। ४१। मान पूजायाम्। मानयति। मानति। मानिता। विचारणे तु भौवादिको नित्यसन्नन्तः। स्तम्भे मानयते। इत्याकुस्मीयाः। मन्यते इति दिवादौ। मनुते इति तनादौ च। ४२। भू प्राप्तावात्मनेपदी। भावयते। भवते। णिच्सन्नियोगेनैवात्मनेपदमित्येके। भवति। ४३। गर्ह विनिन्दने। ४४। मार्ग अन्वेषणे। ४५। कठि शोके। उत्पूर्वोऽयमुत्कण्ठायाम्। कण्ठते। इत्यात्मनेपदी गतः। मृजू शौचालङ्करणयोः। मार्जयति। मार्जति। मार्जिता। मार्ष्टा। ४७। मृष तितिक्षायाम्। स्वरितेत्। मर्षयति। मर्षति। मर्षते। मृष्यति। मृष्यते इति दिवादौ। सेचने शपि मर्षति। ४८। धृष प्रसहने। धर्षयति। धर्षति। ४९। इत्याधृषीयाः।

प्रीञ् प्रीति जनक व्यापार में है। हरदत्त सम्मत पाठ स्वीकार करने पर तो प्रीका भी पाठ यहां मान कर प्राययति प्रयति प्रयते रूप होते हैं। सन्दर्भ में श्रन्थ एवं ग्रन्थ है। लम्भन में आप्लृ धातु है। लुङ् में अङ् आपत्। यह स्वरितेत् उभयपदी है इस मत में 'अप्यते' होता है। श्रद्धा एवं उपकरण में तनु है। उपसर्ग पूर्वक तन दीर्घता में है। श्रद्धा एवं उपहनन में चन है। संदेश वचन में वद धातु है। यह अनुदात्तेत है। वच परिभाषण में है। पूजा में मान धातु है। यही धातु सन्तत विचारण में है। स्तम्भ में 'मानयते' रूप होता है। आकुस्मीय धातु समाप्त हुए।

मन् धातु दिवादि एवं तनादि में है। भू धातु प्राप्ति में आत्मनेपदी है। णिच् जहाँ होगा वहीं आत्मनेपद भी होता है इस मत में णिच् रहित में 'भवति' प्रयोग होता है। गर्ह निन्दा में है। खोज करना या गवेषणा करना इसमें मार्ग धातु है। कठि शोक में है। उत उपसर्ग पूर्वक कठिधातु उत्कण्ठा में है। 'कण्ठते' यह आत्मने पद में गत है। मृजू पवित्रता में एवं अलंकरण में है। यह ऊदित है, णिच् रहित में वलादि आर्धधातुक में विकल्प इडागम युक्त है। मृष सहन में है। यह स्वरित् अर्थात उभयपदी है। 'मर्षति' रूप स्वादि का है। धृष प्रसहन में है। आधृषीय धातु समाप्त हुए।

अथादन्ताः। कथ वाक्यप्रबन्धे। अल्लोपस्य स्थानिवद्भावान्न वृद्धिः-कथयति। अग्लोपित्वान्न दीर्घसन्वद्भावौ। अचकथत्। १। वर ईप्सायाम्। वरयति। वारयतीति गतम्। गण संख्याने। गणयति।

ह्रस्व अकारान्त धातुओं का निर्देश करते हैं। कथधातु वाक्यप्रबन्ध में है।

यह अकारान्त धातुओं से णिच् प्रत्यय स्वार्थ में करके णिच् के इकार की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक संज्ञा होती है, आर्धधातुक इकार निमित्तक इकार का 'अतो लोपः' से लोप होता है यथा 'कथ् अ इ अ ति' इकार का लोप हुआ, वह परनिमित्तक है उसका स्थानिवद्भाव से 'अत उपधायाः' से वृद्धि न हुई गुण अयादेश से 'कथयति' इत्यादिरूप सिद्ध हुई। कथयाञ्चकार। कथयिता। कथयिष्यति। कथयतु। अचकथत्। कथयेत्। कथ्यात्। लुङ् में अचकथत् रूप होता है—'अकथ इ अत्' यहाँ 'अतो लोपः' से अकार लोप होने से णिच् निमित्तक 'अक्' लोपी यह है अतः सन्वद्भाव एवं 'दीर्घो लघोः' से दीर्घ न हुआ।

वर धातु प्राप्तिविषयणी इच्छा में है। वरयति रूप होता है, यहाँ भी अकारलोप हुआ है, उसका स्थानिवद्भाव से 'अत उपधायाः' से वृद्धि न हुई। वारयति यह रूप पूर्व में कहा है। गण

धातु संख्यान में है। 'गणयति' अकार लोप का स्थानिवद्भाव से उपधावृद्धि न हुई। गणयाञ्चकार। गणयिता। गणयिष्यति, गणयतु। अगणयत्। गणयेत्। गण्यात्। लुङ् में—अजीगणत्। अजगणत् रूप के लिए वक्ष्यमाण सूत्र है—

२५७४ ई च गणः ७।४।९७।

गणेरभ्यासस्य ईत् स्याच्चङ्परे णौ। चादत्। अजीगणत्। अजगणत्। ३।

गण धातु के अभ्यास को ईकारादेश होता है, चङ् परक णि प्रत्यय पर रहते, चकार से पक्ष में अत् होता है। दो रूप—अजीगणत्। अजगणत् हुए।

शठ श्वठ सम्यगवभाषणे। ५। पट वट ग्रन्थे। रह त्यागे। अररहत्। स्तनगदी देवशब्दे। स्तनयति। गदयति। अजगदत्। १०। पत गतौ वा। वा णिजन्तः। वाऽदन्त इत्येके। आद्ये पतयति। पतति। पताञ्चकार। अपतीत्। द्वितीये पातयति। अपीपतत्। ११। पष अनुपसर्गात्। गतावित्येव। पषयति। १२। स्वर आक्षेपे। स्वरयति। १३। रच प्रतियत्ने। रचयति। १४। कलगतौ संख्याने च। १५। चह परिकल्कने। परिकल्कनम्=दम्भः शाठ्यञ्च। १६। मह पूजायाम्। महयति। महतीति शपि गतम्। १७। सार कृप श्रथ दौर्बल्ये। सारयति। कृपयति। श्रथयति। २०। स्पृह ईप्सायाम्। २१। भाम क्रोधे। अबभामत्। सूच पैशून्ये। सूचयति। अषोपदेशत्वान्न षः। असूसुचत्। २३।

अच्छी तरह प्रवचन अर्थ में शठ एवं श्वठ धातु है। ग्रन्थ अर्थ में पट वट है। त्याग में रह धातु है। देवशब्द में स्तन एवं गदी है। गति में विकल्प से णिच् युक्त पत धातु है। कोई विकल्प से इसको अदन्त मानता है। अनुपसर्ग पष धातु गत्यर्थक है। आक्षेप में स्वर धातु है। प्रतियत्न में रच-धातु है। गति एवं संस्थान में कल धातु है। दम्भ एवं शठता में यह धातु है। पूजा में मह धातु है। महति भ्वादि का रूप है। सार कृप श्रथ दुर्बलता में हैं। स्पृह ईप्सा में है। क्रोध में भाम है। चुगली करना अर्थ में सूच धातु है। यह षोपदेश नहीं है।

खेट भक्षणे। तृतीयान्त इत्येके। खोट इत्यन्ये। २६। क्षोट क्षेपे। २७। गोम उपलेपने। अजुगोमत्। कुमार क्रीडायाम्। अचुकुमारत्। २९। शील उपधारणे। उपधारणम्=अभ्यासः। ३०। साम सान्त्वप्रयोगे। अससामत्। 'साम सान्त्वने' इत्यतीतस्य तु असीषमत्। ३१। वेल कालोपदेशे। वेलयति। ३२। काल इति पृथग्धातुरित्येके। कालयति। ३३। पल्यूल लवनपवनयोः। ३४। वात सुखसेवनयोः। गतिसुखसेवनेष्वित्येके। वातयति। अववातत्। ३५। गवेष मार्गणे। अजगवेषत्। ३६। वास उपसेवायाम्। ३७। निवास आच्छादने। अनिनिवासत्। ३८। भाज पृथक्कर्मणि। ३९। समाज प्रीतिदर्शनयोः। प्रीतिसेवनयोरित्यन्ये। समाजयति। ४०।

गलबिलाधः संयोगजनक व्यापाररूप भक्षण में खेट धातु है। कोई खोट धातु को भक्षणार्थक कहते हैं। उपलेपन अर्थ में गोम धातु है। क्रीडा अर्थ में कुमार धातु है। उपधारण अर्थ में शील

धातु है। अभ्यास रूप अर्थ को उपधारण कहते हैं। सुलह करने का व्यापार अर्थ में साम धातु है। सान्त्वन अर्थ में पूर्वपठित साम का रूप अनग्लोपी होने से सन्वद्भावादि कार्य से 'असीषमत्' लुङ् में हुआ है। काल के उपदेश = ज्ञान में वेल धातु है। कोई 'काल' ऐसा स्वतन्त्र धातु मानता है। काटना एवं पवित्र करना अर्थ में पल्यूल धातु है। सुख एवं सेवन अर्थ में या गति, सुख, सेवन में वात धातु का प्रयोग होता है। खोज करने में गवेष धातु है। वास उपसेवामें है। आच्छादन अर्थ में निवास धातु है। पृथक् कर्म अर्थ में भाज का प्रयोग है। प्रीति या दर्शन, या प्रीति एवं सेवन अर्थ में समाजधातु है।

ऊन परिहाणे। ऊनयति। 'ओः पुयण्जि' इति सूत्रे 'पययोः' इति वक्तव्ये वर्गप्रत्याहारजकारग्रहो ज्ञिङ्गम्—"णिचि अच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कार्ये" इति। यत्र द्विरुक्तावभ्यासोत्तरखण्डस्याद्योऽच् प्रक्रियायां परिनिष्ठिते रूपे वाऽवर्णो लभ्यते तत्रैवायं निषेधः, ज्ञापकस्य सजातीयापेक्षत्वात्, तेन 'अचिकीर्तत्' इति सिद्धम्। प्रकृते तु नशब्दस्य द्वित्वं तत उत्तरखण्डेऽल्लोपः। औननत्। मा भवान् ऊननत्। ४१।

ऊन धातु परिहाण अर्थ में है। यह ह्रस्व अकारान्त है, इससे णिच् अकार लोप हुआ—लट् में ऊनयति। लिट्में ऊनयाञ्चकार। ऊनयिता। ऊनयिष्यति। ऊनयतु। औनयत्। ऊनयेत्। ऊन्यात्।

लुङ् में ऊन से णिच् चङ् द्वित्व से परत्व एवं अन्तरङ्गत्व के कारण अल्लोप से 'अजादेर्द्वितीयस्य' से णिच् के साथ अर्थात् 'नि' शब्द के द्वित्व से 'औनिनत्' यह अनिष्ट रूप की आपत्ति होगी। इष्ट रूप है औननत् वह सिद्ध न होगा। 'न' शब्द का द्वित्व होने पर ही वह रूप जो इष्ट है हो सकता है। यहां णिच् द्वित्वनिमित्तक नहीं है, अतः "द्विर्वचनेऽचि" सूत्र का विषय नहीं है, अतः वह 'अतो लोपः' का निषेधक या स्थानिवद्भाव से स्थानिरूप का अतिदेश यहां नहीं कर सकता है। इसलिए इष्ट रूप सिद्धि के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि "ओः पुयण्ज्यपरे" यह सूत्र 'सन् पर में रहते जो अङ्ग उसका अवयव जो अभ्यास का उकार उसको इकारादेश होता है, अवर्ण है पर में जिनको ऐसा पवर्ग या यण् या जकार पर में रहते' इस अर्थ का प्रतिपादक सूत्र में 'पिपविषते' 'पिपविषति' इनमें अभ्यास उकार को द्वित्व करने के बाद इकारादेश के लिए 'पययोः' यही कहते वहां पवर्ग में वर्ग ग्रहण प्रत्याहार एवं जकार ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "णिचि = णिच् में अच् के स्थान में आदेश नहीं होता है यदि द्वित्वकर्तव्य हो तब"।

तात्पर्य यह है कि 'स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि' एवं 'सनीवन्तर्ध' इन सूत्रों से पुङ् एवं यु धातु से पर सन् को इडागम करने पर 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र से स्थानिवद्भाव या आदेशनिषेध पक्ष का समाश्रयण करके उभयत्र उवर्णान्त का ही द्वित्व होता है वहां अभ्यास में उकार का श्रवण न रहे, इष्ट इकार का ही श्रवण रहे एतदर्थ 'ओः पुयण्जि' में केवल 'पययोः' कहना चाहिये। वर्णादिग्रहण का जो फल—अबीभवत्, अमीमवत् अरीरवत् अलीलवत् अजीजवत् बिभावयिषति, मिमावयिषति, रिरावयिषति, लिलावयिषति इत्यादि प्रयोगों में णिच् के पश्चात् परत्व के कारण या अन्तरङ्गत्व के कारण वृद्धि आदि कार्य होकर द्वित्व करने पर अभ्यास में अकार ही है उकार तो सर्वथा दुर्लभ ही है, ऐसी परिस्थिति मे पूर्वोक्त उदाहरणों में अभ्यास के अकार को 'सन्यतः' सूत्र इकारादेश कर

देगा तब वर्गादिग्रहण व्यर्थ होकर ग्रन्थकार वर्णित पूर्वोक्तार्थ में ज्ञापक होता है। इस ज्ञापक का फल यह हुआ कि जहां 'ओः पुयण्जि' की प्राप्ति नहीं है वहां ही होगा, यथा—चुक्षावयिषति के लुङ् में 'अचुक्षवत्' 'औहुवत्'।

तुतावयिषति, लुङ् में अतूतवत्। नुनावयिषति। अनूनवत्। पुस्फारयिषति। अपुस्फुरत्। आत्ववै० अपुस्फरत्। इत्यादि प्रयोगों में अभ्यास में उकार का श्रवण रहा। ज्ञापन न करते तो अनिष्टरूपों की आपत्ति होती यथा—चिक्षावयिषति आदि। इन सब विषयों को लक्ष्य में रखकर यहां वार्तिककार ने कहा कि—

"ओः पुयणजिषु वचनं ज्ञापकं णौ स्थानिवद्भावस्य" यहां स्थानिवद्भाव पद उपलक्षण है—निषेध का भी। 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र में स्थानिवद्भाव पक्ष एवं निषेधपक्ष इन दो पक्षों में अन्यतर का समाश्रयण है, निषेध पक्ष उचित प्रतीयमान होता है। किन्तु स्थानिवद्भाव पक्ष भाष्यादि सम्मत है।

पूर्वोक्त ज्ञापन स्वीकार करने पर 'अचकीर्तत्' यही अनिष्ट रूप होगा, 'अचिकीर्तत्' यह इष्ट रूप की सिद्धि न होगी, क्योंकि संशब्दनार्थक कृत धातु से णिच् चङ् करने पर इरादेश से प्रथम ही 'कृत' का द्वित्व पूर्वोक्त ज्ञापनवश होगा तब 'उरत्' से अभ्यास ऋवर्ग को अकारादेश से 'अचकीर्तत्' ही अनिष्ट होगा इस शङ्का के निवारणार्थ ग्रन्थकार कहते हैं कि—

"जिस धातु की द्विरुक्ति होने पर अभ्यास के उत्तर खण्ड का आदिअच् प्रक्रिया दशा में अथवा परिनिष्ठित रूप में अवर्ण प्राप्त हो उस धातु में "णिचि अजादेशो न स्यात् द्वित्वे कर्तव्ये" यह निषेध प्रवृत्त होता है, कारण यह है कि ज्ञापक समानजातीय की अपेक्षा करता है। 'अचिकीर्तत्' रूप हुआ। 'चुक्षावयिषति' यहां साधनिका दशा=प्रक्रिया उसमें अवर्ण उत्तर खण्ड में नहीं है इसलिए कहा कि परिनिष्ठित दशा में। यहां 'वा' शब्द 'अनास्था' है अर्थात् किसी भी अवस्था में अवर्ण आदि अच् घटित द्वित्वनिष्पन्न उत्तर खण्ड रहना चाहिये यह तात्पर्य है, अमुकावस्था में यह कहना व्यर्थ ही है। सजातीयापेक्ष ज्ञापक है। इसका तात्पर्य यह है कि 'पुयण् जकार के द्वित्व निष्पन्न अभ्यास के उत्तर खण्ड अवर्णपरक है, अतः तथैव ज्ञापकानुसरण है। इसीलिए भाष्यकार ने पवर्गादि से अन्य हल् में भी अवर्णपरत्व जहां है वहां स्थानिवत्त्व का समाश्रयण किया है अतः 'अचिकीर्तत्' यहां अतिव्याप्ति न हुई।

यहाँ शङ्का होती है कि 'ओः पुयण् जि' सूत्र में णिच् नहीं है "णिचि अजादेशो न स्यात् द्वित्वे कर्तव्ये" इस ज्ञाप्यांश वचन में 'णिचि' का लाभ कैसे हुआ? यदि सामान्यतः "द्वित्वे कर्तव्ये अच्स्थानिक आदेशो न स्यात्' यह ज्ञापक वचन स्वीकार करने पर तो 'दिदवनीयिषति' इत्यादि में अभ्यास में उकार का श्रवण होने लगेगा? इस शंका का निरासार्थ समाधान यह है कि—

"येन नाव्यवधानं तेन व्यवहिते भवति" सूत्रारम्भसामर्थ्यात्—इस वचन से एक प्रत्यय मात्र का द्वित्वनिमितक का ही व्यवधान णिच् में ही सम्भव है अन्यत्र नहीं अतः सारांश यह हुआ कि धातु एवं चङ् इसके बीच में केवल व्यवधान करता णिच् मात्र का व्यवधान ही अपेक्षित रहता है। इससे 'णिचि' का ज्ञाप्यांशवचन में प्रवेश हुआ है। 'दिदवनीयिषति' में ल्युट् क्यच् आदि अनेक व्यवधानकर्ता है अतः ज्ञापक का वहां विषय ही नहीं है।

लुङ् में 'आ ऊन इ अत्' यहाँ चङि से अकार लोप पूर्व द्वित्व कर 'आटश्च' से वृद्धि द्वित्वोत्तर अकार उत्तर खण्डस्थ का लोप लोप 'औननत्' रूप हुआ माङ् के योग में आट् न होकर 'ऊननत्' रूप है। यह पङ्क्ति प्रसिद्ध है।

विमर्श—भाष्य में तो 'ओः पुयण् ज्यपि' वचनं ज्ञापकं 'णौ स्थानिवद्भावस्य' यद्येतद् ज्ञाप्यते 'अचिकीर्तत्' इत्यत्रापि प्राप्नोति, तुल्यजातीयस्य ज्ञापकम्, कश्च तुल्यजातीयः?, यथा जातीयकाश्चैते ?, अवर्णपराः" इत्युक्तम्। इसका सारांश यह है कि द्वित्वप्रवृत्ति वेला में अवर्णपरत्व-सम्पादक आदेश स्थानिक अच् को आदेश रहें तब ही स्थानिवत्त्व की प्रवृत्ति से तत्कालिक साजात्य का ग्रहण उचित है। इसका तात्पर्यार्थ यह हुआ कि अवर्णपरत्व सम्पादक आदेश स्थानित्व से तुल्यता है, अतः यहां स्थानिवद्भाव की प्रवृत्ति नहीं अतः 'औनिनत्' यही रूप हुआ। यही सिद्धान्त पक्ष है। न, "औननत्" आदेश अवर्णपरत्व सम्पादक यहां नहीं है। अवर्णपरत्व सम्पादक आदेश स्थानित्व से ही तुल्यता है यही सिद्धान्त है। यह सिद्धान्तज्ञान स्वरपतम जनज्ञानविषय है। परिनिष्ठित का लक्षण यह है "अप्रवृत्तनित्यविध्युद्देश्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वम्" अर्थात् अप्रवृत्त नित्यशास्त्र का उद्देश्यसे अघटितलक्ष्य को परिनिष्ठित कहते हैं यही सारांश है विकल्प स्थल में तो अभाव पक्ष में भी तत तत् शास्त्र सम्बन्धिनी उद्देश्यता तत्तद् लक्ष्य में है अतः लक्षण में नित्यविधि विशेषण दिया गया है।

ध्वन शब्दे। अदध्वनत्।४२। कूट परितापे। परिदाहे इत्यन्ये।४३। संकेत ग्राम कुण गुण चामन्त्रणे। चात् कूटोऽपि। कूटयति संकेतयति। ग्रामयति। कुणयति। गुणयति पाठान्तरम्। केत श्रावणे निमन्त्रणे च। केतयति। निकेतयति। कुण गुण चामन्त्रणे। चकारात् केतने। कूण संकोचने इति।४८। स्तेन चौर्ये। अतिस्तेनत्।४९।

आगर्वादात्मनेपादिनः। पद गतौ पदयते। अपपदत।१। गृह ग्रहणे। गृहयते।२। मृग अन्वेषणे। मृगयते। मृग्यतीति कण्ड्वादिः।३। कुह विस्मापने।४। शूर वीर विक्रान्तौ।६। स्थूल परिबृंहणे। स्थूलयते। अतुस्थूलत्।७। अर्थ उपयाच्ञायाम्। अर्थयते। आर्तथत्।८। सत्र सन्तानक्रियायाम्। असस्त्रत। अनेकाच्त्वान्न षोपदेशः। सिसत्रयिषते।९। गर्व माने। गर्वयते। अदन्तत्वसामार्थ्याण्णिज्विकल्पः। धातोरन्त उदात्तो लिट्याम् च फलम्। एवमग्रेऽपि।१०। इत्यगर्वीयाः।

ध्वनधातु शब्द में है। लुङ् में अदध्वनत। परिताप में कूट है। परिदाह में भी है। आमन्त्रण अर्थ में संकेत, ग्राम, कुण, गण् धातु है। कूट भी आमन्त्रण में है। श्रावण एवं निमन्त्रण में केत धातु है। कुण गुण आमन्त्रण एवं केतनार्थ में है। संकोचन में कूण है। चौर्य कर्म में स्तेन धातु है। लुङ् में शर्पूर्वाः खयः से 'हलादिः शेषः' के बाध से 'अतिस्तेनत्' रूप है।

यहां से गर्व तक आत्मनेपदी धातु है। गति में पदधातु है। ग्रहण में गृह धातु है। कण्ड्वादि का 'मृग्यति' प्रयोग बनता है। विस्मापन में कुहधातु है। विक्रान्ति में शूर एवं वीर धातु है।

परिबृंहण में स्थूल धातु है। उपयाच्ञा में अर्थ धातु है। सन्तान क्रिया में सत्र धातु है। यह अनेकाच् होने से षोपदेश नहीं है। गर्व मान अर्थ में है। अदन्तत्व सामर्थ्य से णिच् विकल्प से होता है। धातु के अन्त उदात्त एवं लिट् में आम् अदन्तत्व का फल है। इसी प्रकार वक्ष्यमाणों में भी समझना चाहिये। आगर्वीय धातु यहां समाप्त हुए।

सूत्र वेष्टने। सूत्रयति। असुसूत्रत।१। मूत्र प्रस्रवणे। मूत्रयति। मूत्रति।२।

रूक्ष पारुष्ये । ३ । पार तीर कर्मसमाप्तौ । अपपारत् । अतितीरत् । ५ । पुट-संसर्गे । पुटयति । ६ । धेक दर्शने इत्येके । अदिधेकत् । ७ । कत्र शैथिल्ये । कत्रयति । कत्रति । कर्तेत्यप्येके । कर्तयति । कर्तति । ६ ।

प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च । प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे णिच् स्यादिष्ठे यथा प्रातिपदिकस्य पुंवद्भाव-रभाव-टिलोप-विन्-मतुब् लोपयणादिलोप-प्रस्थ-स्फाद्यादेश-भसंज्ञास्तद्वण्णावपि स्युः ।

पटुमाचष्टे पटयति । परत्वाद् वृद्धौ सत्यां टिलोपः । अपीपटत् । "णौ चङि" इत्यत्र भाष्ये तु 'वृद्धेर्लोपो बलीयान्' इति स्थितम् । अपपटत् ।

तत् करोति तदाचष्टे । पूर्वस्य प्रपञ्चः । 'करोति' 'आचष्टे' इति धात्वर्थमात्रं णिजर्थः । लडर्थस्तु अविवक्षितः । तेनातिक्रामति । अश्वेनातिक्रामति-अश्वयति । हस्तिना अतिक्रामति-हस्तयति । धातुरूपञ्च । णिच् प्रकृतिर्धातुरूपं प्रतिपद्यते । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तथाच वार्तिकम्—

आख्यानात् कृतस्तदाचष्टे कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकमिति । कंसवधमाचष्टे कंसं घातयति । इह 'कंसं हन् इ' इति स्थिते ।

वेष्टन अर्थ में सूत्र धातु है । प्रस्रवण अर्थ में मूत्र धातु है ।

पारुष्य = कठोरता में रूक्ष धातु है । पार एवं तीर धातु कर्मसमाप्ति में है । पुटधातु संसर्ग में है । दर्शन में धेक धातु है । शिथिलता अर्थ में कत्र धातु है । कोई इसको कर्त ऐसा मानते हैं ।

प्रातिपदिक से धात्वर्थ में णिच् प्रत्यय होता है एवं इष्ठन्प्रत्यय पर रहते जो कार्य होता है तद्वत् णिच् है । अर्थात् इष्ठन्प्रत्यय पर में रहते पुंवद्भाव—"भस्याढे तद्धिते" से होता है, 'रऋतो हलादेः' से रभाव होता है, 'टेः' से टिलोप होता है, विन् प्रत्यय एवं मतुप् प्रत्यय का 'विन्मतोर्लुक्' से लुक् होता है, एवं 'प्रियस्थूल' से यणादिलोप होता है । एवं 'प्रियस्थिर' सूत्र से प्रस्थादि आदेश होते हैं । एवं 'यचि भम्' संज्ञा इष्ठन् में होती है वे सभी कार्य णिच् पर में रहते प्रकृति की होते हैं । यथाप्राप्त ।

स्पष्ट ज्ञानार्थ क्रमशः एक-एक उदाहरण का निर्देश करता हूँ ।

१—अतिशयेन पट्वी पटिष्ठा । यह पुंवद्भाव का उदाहरण है । २—क्रशिष्ठः यहाँ रभाव हुआ । ३—साधिष्ठः यहाँ टिलोप हुआ । ४—स्रजिष्ठः यहाँ विन् का लुक् । ५—एवं 'गविष्ठः' यहाँ मतुप् का लुक् हुआ । ६—स्थविष्ठ में स्थूल के ऊकार का लोप हुआ । प्रेष्ठः में प्रिय को प्र आदेश हुआ । ७—यहाँ भसंज्ञा होती है । जिस प्रकार तथैव णिच् में भी कार्य होता है । यह अतिदेश वचन आरोप बोधक है । णिच् में इष्ठन् प्रत्ययत्वारोपकर के शास्त्रातिदेश पक्ष में उन उन शास्त्रों से पूर्वोक्त कार्य सम्पादन कराता है । कार्यातिदेश में पूर्वोक्त कार्यों को यही अतिदेश वचन करता है । इन दोनों पक्षों में कार्य्यातिदेश पक्ष ही मुख्य है । जिसके लिए जो होता है वह अप्रधान एवं जिसके लिए वह प्रधान है, कार्य के लिए शास्त्रों का अतिदेश में शास्त्र अप्रधान एवं कार्य ही प्रधान है । यथा 'एक राजपुत्र के लिए अध्यापक' यहाँ केवल राजपुत्र के ही अध्यापनक्रिया के सम्पादनार्थ अध्यापक । यहाँ अध्यापक का अप्राधान्य एवं राजपुत्र का प्राधान्य स्पष्ट अवगत होता है । वह न पढे तो उस अध्यापक की स्थिति राजकुल में नहीं रह सकती है उस कार्य के लिए ।

इष्ठवद्भाव का फल प्रकृत में अब निर्दिष्ट करते हैं—पटुम् आचष्टे = इस अर्थ में 'पटु इति' यहां 'टेः' से टिलोप प्राप्त है एवं 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि एक समय प्राप्त है, वे दोनों अन्यत्र कृतार्थ है, अतः 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' से परत्व के कारण 'अचो ञ्णिति' से उकार की वृद्धि औकार हुई, तब 'टेः' से औकार का लोप हुआ—'पटयति' रूप हुआ। यहां 'औ' कार 'अक्' प्रत्याहार बोध्य नहीं है अतः अग्लोपी न कहा गया, तब लुङ् में सन्वद्भाव 'सन्यतः' इकारादेश एवं 'दीर्घो लघोः' से दीर्घ होकर 'अपीपटत्' रूप हुआ। यहां मतभेद से दो रूप हैं। एक पक्ष का निर्देश कर रूप कह चुके हैं।

अपर पक्ष यह है कि वृद्धि करने पर भी लोप 'टेः' से प्राप्त है, एवं वृद्धि के पूर्व में भी टिलोप प्राप्त है। परत्व यद्यपि वृद्धि में है, किन्तु कृताकृतप्रसङ्गविधित्वरूप नित्यत्व लोप में है, पर से नित्य शास्त्र बलवत् है अतः वृद्धि को बाधकर पटु का अवयव उकार का लोप णिच् निमित्तक होने से यह अग्लोपी कहा गया अतः सन्वदभाव, इकारादेश, इकार को दीर्घ आदि की अप्राप्ति से 'अपपटत्' यही रूप होता है। भाष्य में भी कहा गया है कि 'वृद्धेर्लोपो बलीयान्' इति।

विमर्श—यह अन्तिम पक्ष के समाश्रयण में 'मुण्डमिश्र' सूत्र से इकारान्त 'हलि' एवं 'कलि' को अदन्तत्व निपातन इसलिए किया गया है कि परत्व के कारण इकार की पूर्व वृद्धि हो कर लोप होने पर वे अग्लोपी नहीं होंगे 'अजहलत्' 'अचकलत्' इष्ट रूपों की सिद्धि न होकर 'अजीहलत्' 'अचीकलत्' ऐसे अनिष्ट रूप न हो जाय अतः प्रथम ही इकार को अकार कर अकार की वृद्धि आकार कर टिलोप करने पर भी वे दोनों 'अक्' लोपी हुए, अतः सन्वद्भावादि की अप्रवृत्ति से इष्ट रूपों की सिद्धि हुई। एवं रीति से अदन्तत्व निपातन सार्थक हुआ।

यदि 'वृद्धेर्लोपो बलीयान्' को मानेगें तो हलि एवं कलि के इकार का लोप होने से, स्वतः वे अक् लोपी हैं पुनः अदन्तत्व निपातन व्यर्थ होकर ज्ञापन करेगा कि "वृद्धौ सत्यां टिलोपः" अर्थात् वृद्धि करके ही टिलोप होता है। अपीपटत् रूप इस पक्ष में हुआ। भाष्यद्वय प्रामाण्य से दो रूप हुए ऐसा अनेक आचार्य कहते हैं।

तत् करोति—द्वितीयान्त प्रातिपदिक से णिच् होता है। यह वचन पूर्व में वर्णित जो 'प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे' गणसूत्र है उसका प्रपञ्च यह गणसूत्र है स्पष्ट ज्ञानार्थ अनुवादमात्र है अपूर्व नहीं है। करोति एवं आचष्टे से केवल यही ज्ञेय है कि धात्वर्थ में णिच् प्रत्यय की उत्पत्ति होती है। लडर्थ वर्तमान काल एकवचनादि यहां अविवक्षित है। अतः लडर्थ की अविवक्षा से कर्म में एवं भाव में द्वित्वादि विवक्षा में भी इसकी प्रवृत्ति होती है। एवं तृतीयान्त से भी अतिक्रमणादि अर्थ में प्रवृत्ति होती है। यथा अश्वेन अतिक्रामति = अश्वयति। हस्तयति। वाचा अतिक्रामति वाचयति यहां भत्वप्रयुक्त कुत्वाभाव है। यशस्विनम् आचष्टे यशसयति। स्रग्विणमाचष्टे स्रजयति।

धातुरूपञ्च—णिच् की प्रकृति धातुरूप को प्राप्त होती है। अर्थात् मूलभूत धातुस्वरूप जो प्रथम था वह प्रकार होता है। आदेशप्रयुक्त जो रूपान्तर हुआ है उसकी निवृत्ति होती है। इस गणसूत्र में जो चकार अनुक्तसमुच्चयार्थक है, उससे वक्ष्यमाण वचन लब्ध होता है—यथा—

आख्यान वाचक कृदन्त तदादि शब्द से 'आचष्टे' इस अर्थ में कृत्संज्ञक प्रत्यय का लुक्, एवं प्रकृति प्रत्यापत्ति = आदेशादि विकारों कर परित्याग करके स्वरूप में अवस्थान, एवं प्रकृति के समान कारण होता है। यथा 'कंसवधम् आचष्टे' यहां 'हनश्च वधः' से अप् प्रत्यय एवं हन् को वधादेश हुआ है, कृदन्त वध के योग में कर्मवाचक कर्म से 'कर्तृकर्मणोः कृति' से षष्ठी होती

है कंस अस् वध उपपद समास विभक्ति का लोप होकर एक समस्तपद कंसवध हुआ जो आख्यान वाचक है केवल कृदन्ततदादि 'वध' वह आख्यानवाचक नहीं है। वध में जो कृदन्ततदादित्व है वह कंसवध में आरोपित "कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्" परिभाषा से है। सामान्य कृद्ग्रहण रहे या कृद्विशेषग्रहण रहें वहां कृदन्ततदादित्व या कृदन्ततदादित्व का व्याप्य धर्म का गतिविशिष्ट या कारकविशिष्ट में आरोप होता है। अर्थात् तदादित्व से अतदादित्व की व्यावृत्ति नहीं होती है।

प्रकृत में कंसवध कृदन्ततदादिपरिभाषा के बल से हुआ उससे णिच् किया। 'आचष्टे' अर्थ में कृत प्रत्यय जो 'अप्' है उसका लुक् = अदर्शन हुआ। एवं वधादेश रूप विकार की निवृत्ति होकर 'हन्' मूल रूप की स्थिति हुई।

एवं प्राणवियोगजनक व्यापार रूप हननक्रिया का कर्म = प्राणवियोगरूप फलाश्रय रूप कर्मसंज्ञा वाचक प्रातिपदिक कंस से द्वितीया विभक्ति हुई "कंस अम् हन् इ अ ति" हुआ यहां वक्ष्यमाण सूत्र की प्रवृत्ति से नकार को तकारादेश होता है।

२५७५ हनस्तोऽचिण्णलोः ७।३।३२।

हन्तेस्तकारोऽन्तादेशः स्याच्चिण् णल्वर्जे ञिति णिति।

नन्वत्राङ्गसंज्ञा धातुसंज्ञा च कंसविशिष्टस्य प्राप्ता, ततश्चाड्द्वित्वयोर्दोषः। किञ्च कुत्वतत्त्वे न स्याताम्, "धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये" कार्यविज्ञानात्। सत्यम्, 'प्रकृतिवच्च' इति चकारो भिन्नक्रमः। कारकञ्च, चात् कार्यम्। हेतुमण्णिचः प्रकृतेर्हन्यादेर्हेतुमण्णौ यादृशं कारकं धातावनन्तरभूतं द्वितीयान्तं यादृशं च कार्यं कुत्वतत्त्वादि तदिहापीत्यर्थः। कंसमजीघतत्।

हन् धातु के अन्त्यवर्ण को तकारादेश होता है चिण् एवं णल् को छोड़कर ञित् एवं णित् प्रत्यय पर रहते। घातयति। यहाँ 'अत उपधायाः' से वृद्धि हुई, एवं 'हो हन्तेः' से कुत्व हुआ।

यहाँ शंका होती है कि कंसवध से णिच् प्रत्यय का विधान है, अतः णिच्प्रत्यय की प्रकृति कंसवध है, उसी की अङ्गसंज्ञा प्राप्त है एवं 'सनाद्यन्ताः' से धातुसंज्ञा भी कंसवध को प्राप्त है। यद्यपि संज्ञा से दोष नहीं किन्तु संज्ञाप्रयुक्त कार्य से यहाँ दोषप्रसक्ति है, अडागम लङादि में कंसवध समुदाय से पूर्व होगा, एवं इष्ट कुत्व एवं तत्व रूप कार्य नहीं होंगें, क्योंकि धातु का उच्चारण करके विधीयमान कार्य धातु से विहित प्रत्यय पर रहते ही होता है। एवं द्वित्वादि कार्य भी 'कम्' का होगा आदि अनेक दोषों की प्रसक्ति से इष्ट रूप की असिद्धि यहां प्रसक्त है। इन शंकाएँ एवं प्रसक्त दोषों के निराकरणार्थ यत्न यह है कि गणसूत्र में "प्रकृतिवच्च" का चकार भिन्नक्रम बोधक है अर्थात् अन्यत्र उक्त है उसका अन्यत्र सम्बन्ध करना चाहिये वह चकार 'कारकम्' के अनन्तर रख कर चकार से 'कार्यञ्च' अर्थात् चकार से कार्यका यहां संग्रह होता है। वह यह है—हेतुमत् णिच् का प्रकृति भूत हन् आदि धातु को हेतुमत् णिच् पर में रहते जैसा कारक अर्थात् धातु के अनन्तरभूत द्वितीयान्त एवं यादृश कार्य अर्थात् कुत्वतत्वादि होते हैं वैसा ही यहां धात्वर्थ णिच् में भी धातु के अनन्तरभूत द्वितीयान्त एवं कुत्वतत्वादि होंगें। इससे 'कंसम् अजीघतत्' रूप हुआ।

'अहन् इ अत्' द्वित्वादिकार्य, कुत्व एवं तकारादेश णिलोप हुआ। श्रीकृष्ण ने कंस का भूत काल में वध किया यह आख्यान प्रसिद्ध है।

कर्तृकरणाद् धात्वर्थे। कर्तृव्यापारार्थं यत् करणं न तु चक्षुरादिमात्रमित्यर्थः। असिना हन्ति असयत्। बष्क दर्शने। १। चित्र चित्रीकरणे। आलेख्यकरण इत्यर्थः। कदाचिद् दर्शने। चित्रेत्ययमद्भुतदर्शने णिचं लभते। चित्रयति। २। अंस समाघाते। ३। वट विभाजने। ४। लज प्रकाशने। वटि लजि इत्येके। वण्टयति। लञ्जयति। अदन्तेषु पाठबलाद् अदन्तत्वे वृद्धिरित्यन्ये। वण्टापयति। लञ्जापयति। ७। शाकटायनस्तु कथादीनां सर्वेषां पुकमाह। तन्मते कथापयति। गणापयति। इत्यादि। मिश्र सम्पर्के। ८। संग्राम युद्धे। अयमनुदात्तेत् अकारप्रश्लेषात्। अससंग्रामत।

। ६। स्तोम श्लाघायाम्। अतुस्तोमत। १०। छिद्र कर्णभेदने इत्यन्ये। कर्णेति धात्वन्तरमित्यन्ये। २। अन्ध दृष्ट्युपघाते। उपसंहार इत्यन्ये। आन्दधत्। दण्ड दण्डनिपातने। १४। अङ्क पदे लक्षणे च। आञ्चकत्। अङ्ग च आञ्जगत्। १६। सुख दुःख तत्क्रियायाम्। १८। रस आस्वादनस्नेहनयोः। १६। व्यय वित्तसमुत्सर्गे। अवव्ययत्। २०। रूप रूपक्रियायाम्। रूपस्य दर्शनं करणं वा रूपक्रिया। २१।

छेद द्वैधीकरणे। अचिच्छदत् २२। छद अपवारणे इत्येके छदयति। २३। लाभ प्रेरणे। २४। व्रण गात्रविचूर्णने। २५। वण वणक्रियाविस्तारगुणवचनेषु। वणक्रिया = वर्णकरणम्, सुवर्णं वर्णयति। कथां वर्णयति = विस्तृणातीत्यर्थः। हरिं वर्णयति = स्तौतीत्यर्थः। २६।

कर्तृनिष्ठ जो व्यापार उससे जन्य जो फल उसकी सिद्धि में जो प्रकृष्ट उपकारक तद्वाचक जो शब्द उससे णिच् प्रत्यय होता है। यहां केवल करण चक्षुः आदि न लेना अतः चक्षुरादि मात्र से करण से उत्तर नहीं किन्तु सब कारणों से णिच् होता है। 'चैत्रो हन्ति असिना शत्रुम्।' यहां चैत्र में रहने वाला व्यापार = प्राणवियोग जनक व्यापार है, उस व्यापार का जनक चैत्र एवं धात्वर्थ व्यापार में विशेषणीभूत प्राणवियोग रूप फल जो शत्रुनिष्ठ है उस फल के सम्पादक प्रकृष्टोपकारक असि = तलवार के व्यापारोत्तर ही प्राणवियोग रूप फल की सिद्धि हुई 'असिना हन्ति' असयति। यहां तृतीयान्त असि से णिच् धातुसंज्ञा का अवयव तृतीया विभक्ति रूप सुप् का लोप हुआ—असयति।

बष्क दर्शन में है। चित्र चित्रीकरण में है। आलेख्य करण में यह प्रयुक्त है। कभी दर्शन में भी प्रयुक्त है। अद्भुतदर्शन में चित्रशब्द से णिच् होता है। चित्रयति। अंस समाघात में है। विभाजन में वट धातु है। प्रकाशन में लज धातु है। वटि एवं लजि भी इसी अर्थ में है। इनका अदन्त में पाठ करण सामर्थ्य से वृद्धि होती है। यह आचार्यों का मत है। वृद्धिकर आकारान्तत्व प्रयुक्त पुक् आगम होगा।

मिश्र सम्पर्क में है। युद्ध में संग्राम है यह अनुदात्तेत् है, अकार के प्रश्लेष करण से। श्लाघा में स्तोम है। कर्णभेदन में छिद्र है। कोई इन्द्रियभेदन में यह है ऐसा कहते हैं। कोई कर्ण

स्वतन्त्र धातु है ऐसा कहते हैं। दृष्टि के उपघात में अन्धधातु है। उपसंहार में है ऐसा कहते हैं दण्ड के निपातन में दण्डधातु है। पद में एवं लक्षण में अङ्क धातु है। अङ्ग धातु भी पूर्वोक्तार्थ में है। सुखसाध्य क्रिया में सुखधातु एवं दुःखसाध्य क्रिया में दुःख धातु है। रस धातु आस्वादन में एवं स्नेहन में है। वित्त त्याग मे व्ययधातु है। रूप का दर्शन या करणरूप रूपक्रिया में रूप धातु है। छेद द्वैधीकरण में है। अपवारण में छद है। प्रेरणा में लाभ है। गात्र विचूर्णन व्रणधातु है। वर्ण क्रिया, विस्तार एवं गुणवचन में वर्णधातु है। वर्ण क्रिया का अर्थ वर्णकरण है, सुवर्णं वर्णयति यह उदाहरण है। कथां वर्णयति का अर्थ का वह विस्तार करता है। हरिं वर्णयति= स्तौति यह अर्थ है।

बहुलमेतन्निदर्शनम्। अदन्तधातुनिदर्शनमित्यर्थः। बाहुलकादन्येऽपि बोध्याः। तद् यथा पर्ण हरितभावे। अपपर्णत्। विष्क दर्शने। क्षप प्रेरणे। वस निवासे। तुत्थ आवरणे। एवमान्दोलयति। प्रेङ्खोलयति। विडम्बयति। अवधीरयतीत्यादि। तेनापठिता अपि सौत्र-लौकिक-वैदिका बोध्याः। अपरे तु 'नवगणीपाठो बहुलम्'।

अन्ये तु दशगणीपाठो बहुलमित्याहुः। तेनापठितेभ्योऽपि क्वचित् स्वार्थे णिच्। रामो राज्यमचीकरदिति यथेत्याहुः। चुरादिभ्य एव बहुलं णिजि-त्यर्थ इत्यन्ये। सर्वे पक्षाः प्राचां ग्रन्थे स्थिताः। 'णिङङ्गान्निरसने।' अङ्गवाचनः प्रातिपदिकान्निरसनेऽर्थे णिङ् स्यात्। हस्तौ निरस्यति - हस्तयते। पादयते। 'श्वेताश्वाश्वतरगालोडिताह्वरकाणामश्वतरेतकलोपश्च'। श्वेताश्वादीनां चतुर्णा-मश्वादयो लुप्यन्ते णिङ् च धात्वर्थे। श्वेताश्वमाचष्टे तेनातिक्रामति वा श्वेतयते। अश्वतरमाचष्टे अश्वयते। गालोडितम् = वाचां विमर्शः. तत्करोति-गालोडयते आह्वरयते। केचित्तु णिचमेवानुवर्तयन्ति तन्मते परस्मैपदमपि। पुच्छादिषु धात्वर्थ इत्येव सिद्धम्। णिजन्तादेव बहुलवचनाद् आत्मनेपदमस्तु। माऽस्तु पुच्छभाण्डेति णिङ्विधिः। सिद्धशब्दो ग्रन्थान्ते मङ्गलार्थः।

इति चुरादिप्रकरणम्। १०।

यहाँ अदन्त धातुओं का पाठ प्रदर्शन बहुल है। अर्थात इस गण में अपठित अन्य धातु भी अदन्त है ऐसा ज्ञान करना चाहिये। इस प्रकार यह—पर्णधातु हरितभाव में हैं। लुङ् में अपपर्णत्। दर्शन में विष्क धातु है। प्रेरण में क्षप है। निवास में वस है। आवरण में तुत्थ है। इसी प्रकार 'आन्दोल'-से आन्दोलयति आदि रूपों का ज्ञान करना चाहिये। कोई यह कहते हैं कि दशगण में पठित धातुओं का कथन बहुल से जानना। तेन गणों में अपठित धातुओं से भी स्वार्थ में णिच् होता है। यथा श्रीराम ने राज्य किया था अर्थ में 'अचीकरत्' घटित वाक्य का प्रयोग हुआ। कोई कहते हैं कि चुरादि गणपठित धातुओं से ही णिच् विकल्प होता है। यह सभी पक्ष प्राचीन ग्रन्थों में विद्यमान है।

अङ्गवाचक प्रातिपदिक से निरसन अर्थ में णिङ् होता है। हस्तयति पादयते। श्वेताश्व—अश्वतर—गालोडित—आह्वरक इन शब्दों से धात्वर्थ में णिङ् प्रत्यय होता है। एवं क्रमशः अश्व,

तर, इन, क इनका लोप होता है। द्वितीयान्त से 'आचष्ट' अर्थ में तृतीयान्त से 'अतिक्रामति' अर्थ में णिङ् अश्व के लोप से 'श्वेतयते' प्रयोग हुआ। अश्वयते। गालोडयते। वाणी के विमर्श को गालोडित कहते हैं। द्वितीयान्त से 'करोति' अर्थ में णिङ् इनका लोप हुआ। आहरयते यहां णिङ् एवं ककार का लोप हुआ।

कोई णिच् की ही अनुवृत्ति करता है उनके मत में परस्मैपद भी है। पुच्छादि में 'प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे' से णिच् सिद्ध है। बहुवचन से केवल आत्मनेपद का विधान होगा ऐसी परिस्थिति से णिङ् विधान करना उचित नहीं है। 'सिद्धम्' यह शब्द का उच्चारण यहां इसलिए किया गया है कि दशगणों की समाप्ति होने से वह मङ्गल के लिए है।

पं० श्रीबालकृष्णपञ्चोलिविरचित रत्नप्रभा सविमर्शा में दशगण समाप्त।



भ्वाद्यादिचुराद्यन्तर्गतसूत्रसूची

भ्वाद्यादिचुराद्यन्तर्गतवार्तिकसूची

धातु-सूची



* एतच्चिह्नाङ्किताः पाठान्तरे पठिताः ।

शाखाएं :

चौखम्भा संस्कृत भवन
पोस्ट बाक्स नं० ११६०
चौक, (दि बनारस स्टेट बैंक बिल्डिंग)
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३२०४१४

चौखम्भा पब्लिकेशन्स
४२६२/३ अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-११०००२
फोन : ३२६८६३९, ३२५९०५०
E-mail : chaukhambha@mantramail.com

मुद्रक : मित्तल आफसेट, वाराणसी।